हिन्दी कहानियों का विकास

समाज में, जब-सामूहिक रूप से क्रांति-शक्ति का सरल विकास प्रौढ़ होने लगता है, सम्भवतः उसके साथ ही, अथवा उससे संघर्ष करती हुई, कहानियाँ बनने लगती हैं। कभी-कभी लड़के वृद्धों की मनोरंजनपूर्ण क्रियाओं का स्मरण करने के लिये, उन्हें गढ़ रखते हैं, और कभी वृद्ध, उन लड़कों को अपने विदग्ध अनुभव की शिक्षा देने के लिये बनाते हैं! यह अन्योन्य सहायता समाज के प्रारम्भिक ज्ञान-विकास के लिये अनावश्यक नहीं है।

सदुपदेश भी कहानी का प्राचीन हेतु है; परन्तु धीरे-धीरे लोक-संग्रह, हँसी, मनोरञ्जन और धार्मिक शिक्षा में भी इसका उपयोग होने लगा। भारतीय साहित्य में ऋग्वेद, ब्राह्मणों और उपनिषदों में सरमा, वामदेव, रोहित, जाबालि और नाचिकेता आदि के उपाख्यान कहानी-साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन हैं। इस तरह की धार्मिक आख्यायिकाएँ बौद्ध तथा जैन सम्प्रदायों में भी अधिक लिखी गई हैं। बौद्धों की जातक-कथा विश्व के कथा-साहित्य का एक प्रधान अङ्ग है। जैनों के नन्दीसूत्र में वर्णित कहानियाँ भी कम महत्व नहीं रखतीं।

पिछले काल के दार्शनिकों ने भी न्याय और सांख्य के सिद्धान्तों को प्रमाणित करने के लिये आख्यायिकाओं का प्रयोग किया है। किसी गहन विषय को समझाने के लिये, इससे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं था। इसका प्रभाव धर्म, समाज, दर्शन और राजनीति तथा साधारण शिष्टाचारों पर भी पड़ता था। उस समय, कहानी के आलम्बन-उपकरण में बहुत तीव्र उन्नति हुई, और पशु, पक्षी, मनुष्यों के अंग, भूत-प्रेत, चेतन और अचेतन कितने ही कहानियों के पात्र बने। हँसना, सुलाना, मनोरञ्जन करना, उपदेश देना और कुशलता उत्पन्न करना—यही उनकी उपयोगिता थी। उनकी अस्वाभाविकताओं पर कोई इतना ध्यान न देता था।

कुछ ग्रीक और रोम की कहानियों के आधारस्वरूप, इसाप और जातक की कहानियों की समानता के उदाहरण दिये जाते हैं।

जातक	इसाप
नृत्य जातक	The Jay and Peacock
मशक जातक	The Baldman & the Fly
सुवर्णहंस जातक	The Goose with golden eggs
सिंहचर्म जातक	The Ass in a lion's skin
कच्छप जातक	The Eagle & the Tortoise
जम्बू जातक	The Crow & the Fox
जवशकुन जातक	The Wolf & the Crave
चूल्ल धनुर्ग्रह जातक	The Dog & the Shadow
कुक्कुट जातक	The Fox, the Cock & Dog
द्विपि जातक	The Wolf & the Lamb

जातकों के साथ-ही-साथ, जो धर्म-प्रचार की विभिन्न धारा के कारण पाली और प्राकृत में लिखे गये थे, भारत की प्रमुख संस्कृत भाषा तथा उसके परिवारवर्ग की अन्य भाषाओं में भी कहानियों का पूर्ण विकास हुआ था। महाभारत में प्रसंग के अनुसार बहुत-सी छोटी-छोटी आख्यायिकाएँ वर्त्तमान हैं। पुराणों को तो एक प्रकार से धार्मिक उपाख्यानों का संग्रह ही कहना होगा।

पञ्चतन्त्र, हितोपदेश इत्यादि संस्कृत के प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ हैं, किन्तु अन्य अपभ्रंश भाषाओं में भी भारतीय प्रचलित कहानियों का एक बड़ा संग्रह था। ईसा की पहली शताब्दि में पैशाची भाषा में 'वृहत् कथा' की रचना हुई, जो अब संस्कृत की 'वृहत् कथा-मञ्जरी' और 'कथा सरित् सागर' के रूप में उपलब्ध है।

पञ्चतन्त्र आदि का तो अरबी और फ़ारसी भाषा में अनुवाद हुआ ही,

किन्तु 'वृहत् कथा' के रचना-संगठन (construction) का अनुकरण करके 'सहस्र-रजनी-चरित्र'-इत्यादि अन्य भाषाओं में बने। इस तरह के संग्रहों की एक प्रधान विशेषता है कि किसी एक व्यक्ति को केन्द्र बनाकर समाज में प्रचलित अनेक आख्यायिकाएँ सजा दी जाती हैं, और यह क्रम भी जातकों के प्रचार से अनुकरण किया गया था। जातकों के राजा ब्रह्म-दत्त, और 'सरित्-सागर' के नरवाहनदत्त के ही ढंग पर फ़ारस के राज-कुमार भी कल्पित किये गये, जिनके चारों ओर 'सहस्र-रजनी-चरित्र' की आख्यायिकाएँ थीं।

संस्कृत-साहित्य में इस ढंग का अन्तिम सङ्कलन 'दशकुमार-चरित्र' है। इस तरह से आप देखेंगे, कि भारतीय कथा-साहित्य का कितना अपूर्व विस्तार था; किन्तु क्रमशः उपाख्यानों की उपादेयता बदलती गई, और साथ-ही-साथ उसका उद्देश और रूप भी बदला। धार्मिक कथाओं में जहाँ साहस धर्म के लिये होता था, वहाँ पिछले काल में स्वार्थ और लौकिक उन्नति की ओर कहानियों का अधिक झुकाव दिखलाई पड़ता है।

यात्रा, साहस के कार्य, आश्चर्यमय क्रिया-कलाप, तथा स्वार्थ, संबंधी कूट-चातुरी इन कहानियों में भरी हुई हैं। छल-प्रवञ्चना आदि किसी भी प्रकार से लौकिक विजय प्राप्त करना, तथा निर्भीक होने की शिक्षा देना—इन कहानियों का उद्देश है। 'दशकुमार-चरित्र' इसका सब से अच्छा उदाहरण है। यह ठीक उसी भाव (Spirit) में लिखा गया, जिसमें कि वर्त्तमान काल की योरोपियन साहसिक (Adventurous) कहानियाँ लिखी जाती हैं।

हाँ, कहीं-कहीं लोक-चरित्र की तीव्र आलोचना तथा नीति और व्यंग की प्रधानता भी है। अपभ्रंश भाषा में भी बहुत-सी कहानियाँ लिखी गई हैं, किन्तु अभी उनका अधिक पता नहीं लगता, और हम वर्त्तमान हिन्दी के आदि-युग की ओर चले आने के लिए बाध्य होते हैं।

हिन्दी में कहानियाँ अनुवाद के रूप में 'बैतालपचीसी', 'सिंहासन-बत्तीसी', 'शुकबहत्तरी'-आदि के नाम से आई हैं, किन्तु हिन्दी में कहानी का सच्चा विकास 'रानी केतकी की कहानी' से हुआ है।

आधुनिक खड़ी बोली के साहित्य का विकास, लल्लूलालजी 'प्रेमसागर' के समय, यानी १८ वीं शताब्दि ई० के आरम्भ से, ही हुआ है। लल्लू-लाल के समकालीन सदल मिश्र, इंशाअल्लाहखाँ और मुंशी सदासुखलाल थे।

सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' हिन्दी-कहानी का पहला रूप है; किन्तु यह एक पौराणिक कथा है।

'रानी केतकी की कहानी'—

राजकुमार हिरन के पीछे घोड़े पर जाता है। वह उसे नहीं मिलता, अतएव थककर विश्राम लेना चाहता है। उसने देखा, 'अमराइयों' में बहुत-सी युवतियाँ झूले पर झूल रही थीं। वहीं रानी केतकी से भेंट होती है। एक-दूसरे की अँगूठियों का परिवर्तन होता है। घर चले आते हैं। विवाह की बातचीत चलती है। रानी केतकी का पिता अस्वीकार कर देता है। दोनों राज्यों में युद्ध आरम्भ होता है। रानी केतकी के पिता के गुरु आते हैं। मन्त्र-द्वारा, राजकुमार और उसके माता-पिता हिरन बन जाते हैं। बहुत दिनों के बाद रानी केतकी के प्रयत्नों से फिर गुरुजी आते हैं। गुरुजी इन्द्र को बुलाते हैं। राजकुमार, उसके माता-पिता आदि फिर मनुष्य के रूप में हो जाते हैं। अन्त में राजकुमार और रानी केतकी का विवाह हो जाता है।

इस कहानी का रचना-काल १८०३ ई० माना जाता है। यह एक मुसलमान लेखक इंशाअल्लाह खाँ-द्वारा लिखित हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है। इस कहानी को पढ़कर हँसी आती है। सचमुच यह एक खिल-वाड़ मालूम पड़ता है; किन्तु केवल इस एक कहानी से सवा-सौ-वर्ष पहले से लेकर आज तक की हिन्दी-कहानियों, और साथ-साथ हिन्दी-गद्य का

विकास कैसे हुआ, यह हम भली भाँति जान लेते हैं। अतएव यह एक खिलवाड़ भी अपनी प्राचीनता के कारण आज कहानी-साहित्य में अपना महत्व रखता है।

१८ वीं शताब्दि के मध्य तक कहानियों के इतिहास के सम्बन्ध में कोई उल्लेखनीय बात नहीं हुई; पौराणिक और धार्मिक कथाओं का ही संस्कृत-साहित्य से अनुवाद होता रहा। इसके बाद राजा शिवप्रसाद (सितारेहिन्द) का 'राजा भोज का सपना' भाषा के नये साँचे में ढल-कर, कहनी के आकार में हिन्दी-संसार के सामने आया।

भारतेन्दु-काल में कथा-साहित्य का ज़ोरों से विकास हो रहा था। बँगला और अँग्रेज़ी से भी अनुवाद आरम्भ हो गया था। उसी समय बाबू काशीनाथ खत्री ने 'लेम्ब्स टेल्स' का अनुवाद किया था।

१९०० ई० में 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। कहानियों की ओर दृष्टि दौड़ाते हुए, कहना होगा, कि 'सरस्वती' द्वारा ही आज हम कहानी-साहित्य का पूर्ण विकास हिन्दी में देख रहे हैं। पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी १९०२ ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। लाला पार्वतीनन्दन के नाम से बाबू गिरिजाकुमार घोष ने अँग्रेज़ी की कई कहानियों का छायानुवाद किया था। 'भूतों की हवेली' खूब पसन्द की गई। कहानियों के प्रति पाठकों की रुचि बढ़ने लगी। 'सरस्वती' में प्रकाशित कहानियों को लोग बड़े चाव से पढ़ने लगे; किन्तु मौलिक लेखकों का अभाव था।

श्रद्धेय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत की आख्यायिकाओं को हिन्दी-रूप दिया था। 'बंग-महिला' ने बँगला की उच्च कोटि की कहानियों से हिन्दी जनता को परिचित कराया था। उनकी कहानियों में 'दुलाई-वाली' उस समय की दृष्टि से बहुत अच्छी है। हिन्दी-कहानियों का वह आरम्भिक काल था।

वर्त्तमान युग की मौलिक कहानियों का विकास 'इन्दु' के द्वारा अधिक हुआ। १६११ ई० में बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' ने 'इन्दु' में एक मौलिक कहानी लिखी। उसका नाम था—'ग्राम'। 'प्रसाद' जी युग-प्रवर्त्तक कवि थे। अतएव उनकी कहानियों में भावुकता का ओत-प्रोत होना स्वाभाविक ही है। उनकी कहानियाँ स्थायी साहित्य की चीज़ हैं। उन्हें दो सौ वर्षों के बाद पढ़ने पर उतना ही मज़ा आयेगा, जितना आज आता है। 'आकाश-दीप', 'बिसाती', 'प्रतिध्वनि', 'देवदासी', 'चूड़ीवाली', 'स्वर्ग के खँड़हर में', 'गूदड़साईं' 'नूरी', 'सलीम', 'चित्र-मन्दिर', 'चित्र-वाले पत्थर' और 'सालवती' आदि कहानियाँ हिन्दी-साहित्य में अमर रहेंगी।

जिस तरह 'प्रसाद' जी की कविताओं से हिन्दी में नवयुग आरम्भ हुआ है, उसी तरह उनकी कहानियों ने भी अपनी सीमा बना ली है। उनकी कहानियों में कला का पूर्ण विकास हुआ है। इसका आनन्द विद्वान् पाठक ही अनुभव कर सकेंगे। 'प्रसाद' जी की रचनायें साधारण पाठकों के लिये नहीं होती हैं। हिन्दी में मौलिक कहानियों की पहली पुस्तक उनकी कहानियों का संग्रह 'छाया' नाम से प्रकाशित हुई, जो साहित्य-सम्मेलन की परीक्षा में भी रही।

प्रसाद जी ने कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास इत्यादि सब कुछ लिखकर हमारे साहित्य का मस्तक गर्व से ऊँचा कर दिया है। उनके नाम पर, विश्व साहित्य के बाज़ार में आज हम भी एक कोने में खड़े रहने का साहस करते हैं।

१५ नवम्बर १६३७ ई० को महाश्मशान पर उनका अन्तिम दर्शन जिसने किया है, वह जीवन भर ऐसे प्रभावशाली व्यक्तित्व और बलिष्ठ शरीर के क्षीण और जर्जर अवस्था का चित्र अपनी आँखों से न हटा सकेगा। संसार की नश्वरता का गीत गाने वाला कवि सुख दुःख का अगणित इतिहास छोड़कर स्वयं एक चिर सत्य का प्रमाण बन गया था।

'प्रसाद' जी ने अपने जीवन-कालमें ६६ कहानियाँ लिखी हैं। उनकी पहली कहानी 'ग्राम' और अन्तिम 'सालवती' है।

१६११ ई० में श्री० जी० पी० श्रीवास्तव की पहली कहानी 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। आपकी रचनाएँ हिन्दी में खूब पसन्द की गईं और प्रचार भी उनका अधिक हुआ।

पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा की 'परदेसी' कहानी १६१२ में पहले 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी का अनुवाद गुजराती की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका 'बीसवीं सदी' में भी निकला था।

सन् १६१३ में पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की पहली कहानी 'रक्षा-बन्धन' सरस्वती में छपी थी। हिन्दी के चुने हुए कहानी-लेखकों में 'कौशिक' जी का उच्च स्थान है। 'सरस्वती' सम्पादक श्री बख्शीजी का कहना था कि 'ताई' उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी है। मुझे भी 'ताई', 'वह प्रतिमा' और 'सहृदय शत्रु' बहुत पसन्द आईं।

बँगला और अँग्रेज़ी कहानियों के अनुवाद ने भी [illegible] किया। मौलिक कहानी लिखने की प्रथा चल निकली। १६१३ ई० में सूर्यपुराधीश राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की 'कानों में कँगना' कहानी 'इन्दु' में छपी। उस समय हिन्दी में अपने ढङ्ग की यह पहली कहानी थी।

"किरण ! तुम्हारे कानों में यह क्या है ?"

उसने कानों से चंचल लट को हटाकर कहा—"कङ्गना।"

इस शैली को सफलतापूर्वक लिखकर राजा साहब ने पढ़नेवालों को मुग्ध कर दिया था। इस कहानी की भाषा बड़ी सजीव है। राजा साहब हिन्दी के गद्य-कवि हैं। आपकी 'बिजली' कहानी भी अपूर्व है।

उन दिनों 'सरस्वती' और 'इन्दु' में मौलिक कहानियाँ प्रकाशित होने लगीं। पं० ज्वालादत्त शर्म्मा की पहली कहानी 'सरस्वती' १६१४ ई० में निकली थी। उस समय प्रेमचन्दजी की कहानियों का हिन्दी में जन्म नहीं

हुआ था। शर्म्माजी की घटनात्मक कहानियाँ बहुत ही दिलचस्प होती थीं। पढ़ने में खूब मन लगता था। इस तरह कभी कौशिक जी की और कभी शर्म्मा जी की कहानियाँ बराबर 'सरस्वती' को सुशोभित करती रहीं।

श्री० चतुरसेन शास्त्री की पहली कहानी 'गृह-लक्ष्मी' में प्रकाशित हुई थी। १६१४ की बात है। उस समय शास्त्रीजी से कहानी-लेखक के नाते बहुत कम लोग परिचित थे। उनकी कहानियों का प्रचार तो इधर ही कई वर्षों में हुआ है। आपकी अब तक की कहानियों में 'खूनी' को मैं उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना समझता हूँ।

स्वर्गीय पं० बदरीनाथ भट्ट हास्यरस के सुप्रतिष्ठित लेखक थे। उनका देहान्त १–५–३४ ई० को हुआ। उनके रचनाकाल के सम्बन्ध में उनके बड़े भाई पं० ऋषीश्वर नाथजी भट्ट ने लिखा है—"जहाँ तक याद है कुं० हनुमन्तसिंह रघुवंशी द्वारा सम्पादित 'स्वदेश-बांधव' में सन् १३।१४ के लगभग।" 'मुंसिफ साहब की मरम्मत' उनकी सर्वोत्तम कहानी है।

श्री० शिवपूजन सहाय को कहानी-लेखक के नाते बहुत कम लोग जानते हैं; किन्तु आपकी आरम्भिक कहानियाँ १६१४ ई० में प्रकाशित हुई थीं। 'कहानी का प्लाट' उनकी सुन्दर कृति है।

१६१५ ई० में 'उसने कहा था' कहानी ने विद्वानों को चकित कर दिया। इसके लेखक थे, स्वर्गीय चन्द्रधर शर्मा गुलेरीजी। हिन्दी कहानियों में इसके जोड़ की आज तक कोई दूसरी कहानी नहीं निकली। कई वर्षों की बात है। मैं 'मधुकरी' के सङ्कलन के लिये 'सरस्वती' की फ़ाइल उलट रहा था। एकाएक मेरी दृष्टि इस कहानी पर पड़ी। शीर्षक ही आकर्षक था। मैं बड़े ध्यान से पढ़ने लगा। कहानी पढ़ते-पढ़ते तबियत उछलने लगी। ऐसी कहानी भी हिन्दी में है? आश्चर्य था! इस कहानी को तब से मैं कितनी बार पढ़ चुका, नहीं कह सकता। मैंने अनेक कहानी-लेखकों से इस कहानी पर उनकी सम्मति पूछी। सभी ने इसको सराहा और

प्रशंसा की। मेरा अपना मत है, कि हिन्दी में यह पहली 'रियलिस्टिक' (Realistic) कहानी है। [illegible] वर्तमान है। इस कहानी को जो एक बार ध्यान से पढ़ेगा, वह जीवन-भर नहीं भूल सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। गुलेरीजी ने अपने जीवन में दो-तीन कहानियाँ ही लिखी हैं; किन्तु बहुत खोज करने पर भी उनकी दूसरी कहानी मुझे न प्राप्त हो सकी।

१९१६ ई० में हिन्दी-कहानियों में युगान्तर उपस्थित करने वाले श्री प्रेमचन्दजी की पहली कहानी 'सरस्वती' में निकली। इसके पहले उर्दू में 'प्रेम-पचीसी' इत्यादि उनकी पुस्तकें निकल चुकी थीं। हिन्दी की दुनिया में प्रेमचन्दजी की कहानियाँ बड़े आदर और चाव से पढ़ी जाती हैं। आप इस कला के आचार्य थे। जिन्हें ज़रा भी कहानियों से शौक़ है, वे प्रेमचन्दजी को भली भाँति जानते हैं। ८ अक्टूबर १९३६ ई० को आपका स्वर्गवास हुआ। प्रेमचन्दजी बड़े स्वावलम्बी पुरुष थे। जीवन में अनेक कठिनाईयों का सामना करते हुए भी वे सदैव हँसमुख रहते थे। सादा जीवन और सरल प्रकृति उनकी विशेषता थी। उनके व्यक्तित्व को देखकर कोई भी अनुमान नहीं कर सकता था कि हिन्दी के इतने महान् कलाकार श्री० प्रेमचन्दजी यही हैं।

यहाँ उनकी तीन सर्वोत्तम कहानियाँ 'कफ़न', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'आत्माराम' दी जाती हैं।

श्री० रायकृष्णदासजी की कहानियों में 'गहूला' सर्वोत्तम है। आपकी पहली कहानी १९१७ ई० में प्रकाशित हुई थी। छोटी कहानियाँ आप बड़ी कुशलता से लिखते हैं।

श्री० पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी कला के पूर्ण पारखी हैं। आप 'सरस्वती' का सम्पादन कई वर्षों तक कर चुके हैं। १९१७ ई० में आप की पहली कहानी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। यहाँ आपकी 'गूँगी' कहानी दी जाती है।

१६१८ ई० में पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की पहली कहानी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। उनकी कहानियों में 'गोई जीजी' मुझे अधिक पसन्द है।

स्वर्गीय चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का रचना-काल १६१६ ई० है। 'हृदयेश'जी ने अपनी छोटी-सी आयु में-ही बहुत-कुछ लिखा। उनकी असामयिक मृत्यु पर हृदय काँप उठा था। उनका अन्तिम पत्र ८।५।२७ का मिला था। उसके एक मास बाद ही उनकी मृत्यु का समाचार मिला। 'मधुकरी' के सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार करते हुये, उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा था—"सब से पहला लेख मैंने सम्वत् १६७१ अर्थात् १५ वर्ष की अवस्था में लिखा था, पर वास्तविक रूप से मेरी रचना का विकास हुआ है १६७६ में; जिस साल मैंने बी० ए० पास किया था। उसी साल मैं 'इण्डियन-डिफ़ेन्स-फ़ोर्स' देहरादून में रहा था। देहरादून और मंसूरी की पर्वत-मालाओं ने, एवं वहाँ की प्राकृतिक सुषमाओं ने मेरे हृदय में स्वतः ही स्फूर्ति उत्पन्न कर दी, जिसका प्रथम फल था—'प्रेम-परिणाम;' जो 'ललिता' में प्रकाशित हुआ था।"

'हृदयेश'जी को अपनी कहानियों में 'पर्य्यवसान' और 'उन्मादिनी' अधिक पसन्द थी। उनकी रचनाओं में 'उन्मादिनी' को मैं सर्वोत्तम समझता हूँ। 'हृदयेश'जी अब एक कहानी हो गये हैं। उनकी स्मृति आते ही हृदय से एक आह निकल पड़ती है।

पं०.गोविन्दवल्लभ पन्त की पहली कहानी 'मिलन-मुहूर्त' १६१६ ई० में 'प्रतिभा' में निकली थी। 'जूठा आम' और 'मिलन-मुहूर्त' को मैं हिन्दी की उच्च कोटि की कहानियों में समझता हूँ। पन्तजी की कहानियों में भावुकता भरी रहती है। 'तैमूरलङ्ग' और 'सब से बड़ा रत्न' भी आपकी अच्छी कहानियों में हैं।

१६२० में 'सुदर्शन'जी की पहली कहानी छपी। इसके पहले आप

उर्दू में लिखा करते थे। सुदर्शनजी हिन्दी के विख्यात कहानी-लेखक हैं। उनकी दो उत्कृष्ट कहानियाँ 'कवि की स्त्री' और 'एथेंस का सत्यार्थी' इस संग्रह में दी जा रही हैं। चरित्र-चित्रण करने में प्रेमचन्दजी और 'सुदर्शन'जी को कमाल हासिल है। वर्तमान हिन्दी-कहानी-लेखकों में 'सुदर्शन'जी का प्रशंसनीय स्थान है।

'उग्र'जी का रचना-काल १९२२ ई० है। आपकी पहली कहानी 'आज' में प्रकाशित हुई थी। उनकी कहानियाँ भिन्न-भिन्न शैलियों का उदाहरण हैं। 'कला का पुरस्कार', 'मोकों चूनरी की साध', 'प्यारे', 'पण्डुआ', 'कुमुदिनी', 'खुदाराम' और हाल ही में लिखी गई कहानी 'उसकी माँ'-आदि हिन्दी-साहित्य की उत्कृष्ट कहानियाँ हैं। 'उग्र'जी ऐसे प्रतिभाशाली हैं, कि वह जो-कुछ चाहें लिख सकते हैं; कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक, प्रहसन सभी-कुछ। वह अपनी कला के आचार्य हैं। जो लोग उन्हें प्रतिभाशाली मानने में संकोच करते हों, उन्हें चाहिये, कि इस संग्रह में दी गई उनकी तीन श्रेष्ठ कहानियाँ 'भुनगा', 'उसकी माँ' और 'चाँदनी' का मनन करें।

अध्ययनशील पाठकों के लिये मैं वर्तमान [illegible] को तीन भिन्न-भिन्न स्कूलों में विभाजित करूँ, तो अनुचित न होगा। कारण, यहाँ पर किसी लेखक की किसी अन्य लेखक से तुलना करना मेरा उद्देश नहीं है। प्रत्येक लेखक अपने स्थान पर महान् है।

इन तीन स्कूलों को इस तरह बाँट सकते हैं—

(१) 'प्रसाद'   (२) प्रेमचन्द   (३) उग्र

'प्रसाद'जी जीवन की एक घटना के चित्र को पूर्ण रूप से अङ्कित कर देंगे। किन्तु जहाँ वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समाप्त हो जायगा, वहीं छोड़ देंगे। फिर, आगे क्या हुआ, इसे पाठकों के सुलझाने के लिये छोड़ देना ही उनकी कला है। मनुष्य-जीवन में सुख, दुख, हँसी, कहाँ छिपी

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

रचनाकाल
१९११ ई०

जन्म — १९४६ वि०
मृत्यु — १९९४ वि०

आकाश-दीप

१

"बन्दी !"

"क्या है ? सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं—निद्रा खुलने पर; चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"बड़ा शीत है, कहीं से एक कम्बल डाल कर शीत से मुक्त करता।"

"आँधी आने की सम्भावना है। यही अवसर है। आज मेरे बन्धन शिथिल हैं।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो ?"

"हाँ; धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

"शस्त्र मिलेगा ?"

"मिल जायगा। पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे ?"

"हाँ।"

समुद्र में हलोरें उठने लगीं। दोनों बन्दी आपस में टकराने लगे। पहले बन्दी ने अपने-को स्वतन्त्र कर लिया। दूसरे का बन्धन खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक-दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा—स्नेह का असम्भावित आलिंगन। दोनों ही अन्धकार में मुक्त हो गये। दूसरे बन्दी ने हर्षातिरेक से, उसको गले से लगा लिया। सहसा उस बन्दी ने कहा—"यह क्या ? तुम स्त्री हो ?"

"क्या स्त्री होना कोई पाप है ?"—अपने को अलग करते हुए स्त्री ने कहा।

"शस्त्र कहाँ है ? तुम्हारा नाम ?"

"चम्पा।"

तारक-खचित नील अम्बर और नील समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अन्धकार से मिलकर पवन दुष्ट हो रहा था। समुद्र में आन्दोलन था। नौका लहरों में विकल थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी। एक मतवाले नाविक के शरीर से टकराती हुई सावधानी से उसका कृपाण निकाल कर, फिर लुढ़कते हुए, बन्दी के समीप पहुँच गई। सहसा पोत के प्रदर्शक ने चिल्ला कर कहा—"आँधी !"

आपत्ति-सूचक तूर्य बजने लगा। सब सावधान होने लगे। बन्दी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था। पर युवक बन्दी ढुलक कर उस रज्जु के पास पहुँचा, जो पोत से संलग्न थी। तारे ढँक गये। तरंगें उद्वेलित हुईं, समुद्र गरजने लगा। भीषण आँधी पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कन्दुक-क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतन्त्र थी। उस संकट में भी दोनों बन्दी खिलखिलाकर हँस पड़े। आँधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

२

अनन्त जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शान्त था। नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं। बन्दी मुक्त है। नायक ने कहा—"बुद्धगुप्त! तुमको मुक्त किसने किया?"

कृपाण दिखाकर बुद्धगुप्त ने कहा—"इसने।"

नायक ने कहा—"तो तुम्हें फिर बन्दी बनाऊँगा।"

"किसके लिये? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा। नायक! ाब इस नौका का स्वामी मैं हूँ।"

"तुम! जलदस्यु बुद्धगुप्त! कदापि नहीं।"—चौंककर नायक ने , और अपना कृपाण टटोलने लगा। चम्पा ने इसके पहले उस पर ाधिकार कर लिया था। वह क्रोध से उछल पड़ा।

"तो तुम द्वन्द्व-युद्ध के लिये प्रस्तुत हो जाओ। जो विजयी होगा, वही स्वामी होगा।"—इतना कह, बुद्धगुप्त ने कृपाण देने का संकेत किया। चम्पा ने कृपाण नायक के हाथ में दे दिया।

भीषण घात-प्रतिघात आरम्भ हुआ। दोनों कुशल, दोनों त्वरित गतिवाले थे। बड़ी निपुणता से बुद्धगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़कर अपने दोनों हाथ स्वतन्त्र कर लिये। चम्पा, भय और विस्मय से देखने लगी। नाविक प्रसन्न हो गये। परन्तु बुद्धगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाणवाला हाथ पकड़ लिया, और विकट हुंकार से दूसरा हाथ कटि

में डाल, उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणों में बुद्धगुप्त का विजयी कृपाण उसके हाथों में चमक उठा। नायक की कायर आँखें प्राण-भिक्षा माँगने लगीं। बुद्धगुप्त ने कहा—"बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं ?"

"मैं अनुचर हूँ, वरुणदेव की शपथ, मैं विश्वासघात न करूँगा।"

बुद्धगुप्त ने उसे छोड़ दिया। चम्पा ने युवक जलदस्यु के समीप आकर उसके क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि और कोमल करों से वेदना-विहीन कर दिया। बुद्धगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्त-बिन्दु विजय-तिलक कर रहे थे।

विश्राम लेकर बुद्धगुप्त ने पूछा—"हम लोग कहाँ होंगे ?"

"बाली द्वीप से बहुत दूर; सम्भवतः एक नवीन द्वीप के पास, जिसमें अभी हम लोगों का बहुत कम जाना-आना होता है। सिंहल के वणिकों का वहाँ प्राधान्य है।"

"कितने दिनों में हम लोग वहाँ पहुँचेंगे ?"

"अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिये खाद्य का अभाव न होगा।"

सहसा नायक ने नाविकों को डाँड़ लगाने की आज्ञा दी, और स्वयं पतवार पकड़कर बैठ गया। बुद्धगुप्त के पूछने पर उसने कहा—"यहाँ एक जलमग्न शैलखण्ड है। सावधान न रहने से नाव के टकराने का भय है।"

३

"तुम्हें इन लोगों ने बन्दी क्यों बनाया ?"

"वणिक मणिभद्र की पापवासना ने।"

"तुम्हारा घर कहाँ है ?"

"जाह्नवी के तट पर, चम्पा नगरी की एक क्षत्रिय-बालिका हूँ। पिता-जी इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। माता का देहावसान हो जाने पर मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ बरस से समुद्र ही मेरा घर है। तुम्हारे आक्रमण के समय मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मारकर जल-समाधि ली। एक मास हुआ मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनिधि के ऊपर, एक भयानक अनन्तता में निस्सहाय हूँ, अनाथ हूँ। मणिभद्र ने मुझ से एक दिन घृणित प्रस्ताव किया। मैंने उसे गालियाँ सुनाईं। उसी दिने से बन्दी बना दी गई।"—चम्पा रोष से जल रही थी।

"मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ, चम्पा! परन्तु दुर्भाग्य से जल-दस्यु बनकर जीवन बिताता हूँ। अब तुम क्या करोगी ?"

"मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाय।"—चम्पा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। उनमें किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपाङ्ग में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मन में एक सम्भ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्रवक्ष पर विलम्बमयी राग-रञ्जित सन्ध्या थिरकने लगी। चम्पा के असंयत कुन्तल उसकी पीठ पर बिखर रहे थे। दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक वरुण बालिका! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला।

वह थी कोमलता।

उसी समय नायक ने कहा—"हम लोग द्वीप के पास पहुँच गये।"

वेला से नाव टकराई। चम्पा निर्भीकता से कूद पड़ी। माँझी भी

उतरे। बुद्धगुप्त ने कहा—"जब इसका कोई नाम नहीं है, तो हम लोग इसे चम्पा द्वीप कहेंगे।"

चम्पा हँस पड़ी।

४

पाँच वर्ष बादः—

शरद् के धवल नक्षत्र नील गगन में झलमला रहे थे। चन्द्र के उज्ज्वल विजय पर अन्तरिक्ष में शरद् लक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों को बिखेर दिया।

चम्पा के एक उच्च सौध पर बैठी हुई तरुणी चम्पा दीपक जला रही थी। बड़े यत्न से अभ्रक की मञ्जूषा में दीप धरकर उसने अपनी सुकुमार उँगलियों से डोरी खींची। वह दीपाधार ऊपर चढ़ने लगा। भोली-भोली आँखें उसे ऊपर चढ़ते बड़े हर्ष से देख रही थीं। डोरी धीरे-धीरे खींची गई। चम्पा की कामना थी कि उसका आकाश-दीप नक्षत्रों से हिल-मिल जाय; किन्तु वैसा होना असम्भव था। उसने आशा-भरी आँखें फिरा लीं।

सामने जलराशि का रजत शृङ्गार था। वरुण बालिकाओं के लिये लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा-शैलमालायें बन रही थीं। और वे मायाविनी छलनायें अपनी हँसी का कलनाद छोड़कर छिप जाती थीं। दूर-दूर से धीवरों की बंशी की झनकार उनके सङ्गीत-सा मुखरित होता था। चम्पा ने देखा कि तरङ्ग-सङ्कुल जलराशि में उसके कण्डील का प्रतिबिम्ब अस्तव्यस्त था। वह अपनी पूर्णता के लिये सैकड़ों चक्कर काटता था। वह अन्नमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देखकर पुकारा—"जया!"

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। वह जंगली थी। नील

नभामण्डल से मुख में शुभ्र नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दाँत हँसते ही रहते। वह चम्पा को रानी कहती। बुद्धगुप्त की आज्ञा थी।

"महानाविक कब तक आवेंगे, बाहर पूछो तो।"—चम्पा ने कहा। जया चली गई।

दूरागत पवन चम्पा के अञ्चल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में गुदगुदी हो रही थी। आज न-जाने-क्यों वह बेसुध थी। एक दीर्घकाय दृढ़ पुरुष ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर उसे चमत्कृत कर दिया। उसने फिरकर कहा—"बुद्धगुप्त!"

"बावली हो क्या? यहाँ बैठी अभी तक दीप जला रही हो। तुम्हें यह काम करना है?"

"क्षीरनिधिशायी अनन्त की प्रसन्नता के लिये क्या दासियों से आकाश-दीप जलवाऊँ?"

"हँसी आती है। तुम किस को दीप जलाकर पथ दिखलाना चाहती हो? उसको, जिसको तुमने भगवान् मान लिया है?"

"हाँ, वह भी कभी भटकते हैं, भूलते हैं; नहीं तो बुद्धगुप्त को इतना ऐश्वर्य्य क्यों देते?"

"तो बुरा क्या हुआ, इस द्वीप की अधीश्वरी चम्पा रानी?"

"मुझे इस बन्दीगृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे ही अधिकार में है महानाविक! परन्तु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चम्पा के उपकूल में पण्य लादकर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे। इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में—तारिकाओं की मधुर ज्योति में—थिरकती थी। बुद्धगुप्त! उस विजन अनन्त में जब माँझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम-तुम परिश्रम से

थककर पालों में शरीर लपेटकर एक-दूसरे का मुँह क्यों देखते थे। वह नक्षत्रों की मधुर छाया—"

"तो चम्पा! अब उससे भी अच्छे ढङ्ग से हम लोग विचर सकते हैं। तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।"

"नहीं, नहीं, तुमने दस्यु-वृत्ति तो छोड़ दी, परन्तु हृदय वैसा ही अकरुण, सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान् के नाम पर हँसी उड़ाते हो। मेरे आकाश-दीप पर व्यङ्ग कर रहे हो। नाविक! उस प्रचण्ड आँधी में प्रकाश की एक-एक किरणों के लिये हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है, जब मैं छोटी थी, मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे—मेरी माता, मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में जलाकर भागीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टाँग देती थी। उस समय वह प्रार्थना करती—"भगवान्! मेरे पथभ्रष्ट नाविक को अन्धकार में ठीक पथ पर ले चलना।" और जब मेरे पिता बरसों पर लौटते तो कहते—"साध्वी! तेरी प्रार्थना से भगवान् ने भयानक सङ्कटों में मेरी रक्षा की है।" वह गद्गद् हो जाती। मेरी माँ! आह नाविक!! यह उसकी पुण्य-स्मृति है। मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण जलदस्यु! हट जाओ।"—सहसा चम्पा का मुख क्रोध से भीषण होकर रङ्ग बदलने लगा। महानाविक ने कभी यह रूप न देखा था। वह ठठाकर हँस पड़ा।

"यह क्या? चम्पा तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो।"—कहता हुआ चला गया। चम्पा मुट्ठी बाँधे उन्मादिनी-सी घूमती रही।

५

निर्जन समुद्र के उपकूल में बेला से टकराकर लहरें बिखर जाती हैं। पश्चिम का पथिक थक गया था। उसका मुख पीला पड़ गया।

अपनी शान्त गम्भीर हलचल में जल-निधि विचार में निमग्न था। वह जैसे प्रकाश की उन मलिन किरणों से विरक्त था।

चम्पा और जया धीरे-धीरे उस तट पर आकर खड़ी हो गईं। तरङ्ग से उठते हुए पवन ने उनके वसन को अस्त-व्यस्त कर दिया। जया के संकेत से एक छोटी-सी नौका आई। दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया। जया नाव खेने लगी। चम्पा मुग्ध-सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी।

"इतना जल! इतनी शीतलता!! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूँगी? नहीं। तो जैसे वेला से चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी समान रोदन करूँ या जलते हुए उस स्वर्ण-गोलक के सदृश अनन्त जल में डूबकर बुझ जाऊँ?"—चम्पा के देखते-देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिम्ब धीरे-धीरे सिन्धु में चौथाई—आधा फिर सम्पूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ निःश्वास लेकर चम्पा ने मुँह फिरा लिया। देखा तो महानाविक का बजरा उसके पास है। बुद्धगुप्त ने झुककर हाथ बढ़ाया। चम्पा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गई। दोनों पास-पास बैठ गये।

"इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नहीं। पास ही वह जलमग्न शैलखण्ड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ़ जाती, चम्पा, तो?"

"अच्छा होता बुद्धगुप्त! जल में बन्दी होना कठोर प्राचीरों से तो अच्छा है?"

"आह चम्पा, तुम कितनी निर्दय हो। बुद्धगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिये नये द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नयी प्रजा खोज सकता है, नये राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो......कहो चम्पा! वह कृपाण से अपना हृदयपिण्ड निकाल, अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे!"—महानाविक—

जिसके नाम से बाली, जावा और चम्पा का आकाश गूँजता था, पवन थर्राता था—घुटनों के बल चम्पा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर, हरियाली में, विस्तृत जल-प्रदेश में नील पिङ्गल संध्या, प्रकृति की एक सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्न-लोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्य-पूर्ण नील जाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अन्तरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिये। वहाँ एक आलिङ्गन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिन्धु का। किन्तु उस परिरम्भ में सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने अपनी कञ्चुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

"बुद्धगुप्त! आज मैं अपना प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबा देती हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया!"—चमक कर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधता हुआ विलीन हो गया।

"तो आज से मैं विश्वास करूँ, मैं क्षमा कर दिया गया?"—आश्चर्य-कम्पित कण्ठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वास! कदापि नहीं, बुद्धगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ? मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिये मर सकती हूँ। अन्धेर है जलदस्यु! तुम्हें प्यार करती हूँ।"—चम्पा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन सन्ध्या तम से अपनी आँखें बन्द करने लगी थी। दीर्घ निःश्वास लेकर महानाविक ने कहा—"इस जीवन की पुण्य-तम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनाऊँगा चम्पा! यहीं उस पहाड़ी पर सम्भव है कि मेरे जीवन की धुँधली सन्ध्या उससे आलोक-पूर्ण हो जाय।"

६

चम्पा के दूसरे भाग में एक मनोरम शैल-माला थी—बहुत दूर तक सिन्धु-जल में निमग्न थी। सागर का चञ्चल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाये था। आज भी शैल-माला पर चम्पा के आदि-निवासियों का समारोह था। उन सभों ने चम्पा को वनदेवी-सा सजाया था। ताम्रलिप्ति के बहुत-से सैनिक और नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम-विभूषिता चम्पा शिविकारूढ़ होकर जा रही थी।

शैल के एक ऊँचे शिखर पर चम्पा के नाविकों को सावधान करने के लिये सुदृढ़ दीप-स्तम्भ बनवाया गया था। आज उसका महोत्सव है। बुद्धगुप्त स्तम्भ के द्वार पर खड़ा था। शिविका से सहायता देकर चम्पा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बाँसुरी और ढोल बजने लगे। पंक्तियों में कुसुम-भूषण से सजी वन-मालायें फूल उछालती हुई नाचने लगीं।

दीप-स्तम्भ की ऊपरी खिड़की से यह देखती हुई चम्पा ने जया से पूछा—"यह क्या है जया? इतनी बालिकायें कहाँ से बटोर लाई?"

"आज रानी का ब्याह है न?"—कहकर जया ने हँस दिया।

बुद्धगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसे झकझोर-कर चम्पा ने पूछा—"क्या यह सच है?"

"यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह सच भी हो सकता है चम्पा! कितने बरसों से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती से दबाये हूँ!"

"चुप रहो महानाविक! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा?"

"मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ चम्पा ! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे।"

"यदि मैं इसका विश्वास कर सकती ! बुद्धगुप्त ! वह दिन कितना सुन्दर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय ! आह ! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते !"

जया नीचे चली गई थी। स्तम्भ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुद्धगुप्त और चम्पा एकान्त में एक-दूसरे के सामने बैठे थे।

बुद्धगुप्त ने चम्पा के पैर पकड़ लिये। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा—"चम्पा ! हम लोग जन्मभूमि भारतवर्ष से कितनी दूर इन निरीह प्राणियों में इन्द्र और शची के समान पूजित हैं। पर न-जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभीतक अलग किये है। स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश ! वह महिमा की प्रतिमा, मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है; परन्तु मैं क्यों नहीं जाता ? जानती हो, इतना महत्त्व प्राप्त करने पर भी मैं कङ्गाल हूँ। मेरा पत्थर-सा हृदय एक-दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चन्द्रकान्त-मणि की तरह द्रवित हुआ।"

"चम्पा ! मैं ईश्वर को नहीं मानता—मैं पाप को नहीं मानता—मैं दया को नहीं समझ सकता—मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता। पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न-जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़ि तम में मुस्कराने लगी; पर पशु-बल और धन के उपासक के मन में किसी शान्त और कान्त कामना की हँसी खिलखिलाने लगी, पर मैं न हँस सका।"

"चलोगी चम्पा ! पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राज-रानी-सी जन्मभूमि के अंक में ? आज हमारा परिणय हो, कल-ही हम

लोग भारत के लिये प्रस्थान करें। महानाविक बुद्धगुप्त की आज्ञा सिन्धु की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोतपुञ्ज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी। आह चम्पा ! चलो।"

चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिये। किसी आकस्मिक झटके ने एक पल-भर के लिये दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा—"बुद्धगुप्त ! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है; सब जल तरल है, सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिये—और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिए।"

"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा चम्पा ! यहाँ रहकर मैं अपने हृदय पर अधिकार रख सकूँगा, इसमें सन्देह है। आह ! किन लहरों में मेरा विनाश हो जाय ?"—महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा—"तुम अकेली यहाँ क्या करोगी ?"

"पहले विचार था कि कभी-कभी इसी दीप-स्तम्भ पर से आलोक जलाकर अपने पिता की समाधि का इस जल में अन्वेषण करूँगी। किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा—जैसे आकाश-दीप !"

७

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चम्पा ने अपने दीप-स्तम्भ पर से देखा—सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी चम्पा का उपकूल छोड़कर पश्चिम-उत्तर की ओर महाजल-व्याल के समान सन्तरण कर रही है। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

के गह्वर में न-जाने कितनी ही आश्चर्य-जनक लीलाएँ करके मानवी आत्माओं ने अपना निवास बना लिया है। मैं कभी-कभी आवेश में सोचता कि भत्ते के लोभ से मैं ही क्यों यहाँ चला आया? क्या वैसी ही कोई अद्भुत घटना होनेवाली है? मैं फिर जब अपने साथी नौकर की ओर देखता तो मुझे साहस हो आता और क्षण-भर के लिए स्वस्थ होकर नींद को बुलाने लगता; किन्तु नींद कहाँ, वह तो सपना हो रही थी।

रात कट गई। मुझे कुछ झपकी आने लगी। किसी ने बाहर से खटखटाया और मैं घबरा उठा। खिड़की खुली हुई थी। पूरब की पहाड़ी के ऊपर आकाश में लाली फैल रही थी। मैं निडर होकर बोला—"कौन है? इधर खिड़की के पास आओ।"

जो व्यक्ति मेरे पास आया उसे देखकर मैं दंग रह गया। कभी वह सुन्दर रहा होगा; किन्तु आज तो उसके अंग-अंग से, मुँह की एक-एक रेखा से उदासीनता और कुरूपता टपक रही थी। आँखें गड्ढे में जलते हुए अंगारे की तरह धक्-धक् कर रही थीं। उसने कहा—"मुझे कुछ खिलाओ।"

मैंने मन-ही-मन सोचा कि यह विपत्ति कहाँ से आई! वह भी रात बीत जाने पर! मैंने कहा—"भले आदमी! तुमको इतने सवेरे भूख लग गई?"

उसकी दाढ़ी और मूछों के भीतर छिपी हुई दाँतों की पंक्ति रगड़ उठी। वह हँसी थी या थी किसी कोने की मर्मान्तक पीड़ा की अभि-व्यक्ति, मैं कह नहीं सकता। वह कहने लगा—"व्यवहार-कुशल मनुष्य, संसार के भाग्य से उसकी रक्षा के लिए, बहुत थोड़े से उत्पन्न होते हैं। वे भूख पर सन्देह करते हैं। एक पैसा देने के साथ नौकर से कह देते हैं, देखो, इसे चना दिला देना। वह समझते हैं एक पैसे की मलाई से

पेट न भरेगा। तुम ऐसे ही व्यवहार-कुशल मनुष्य हो। जानते हो कि भूखे को कब भूख लगनी चाहिए। जब तुम्हारी मनुष्यता स्वांग बनाती है तो अपने पशु पर देवता की खाल चढ़ा देती है, और स्वयं दूर खड़ी हो जाती है।" मैंने सोचा कि यह दार्शनिक भिखमंगा है। और कहा—"अच्छा बाहर बैठो।"

बहुत शीघ्रता करने पर भी नौकर के उठने और उसके लिए भोजन बनाने में घण्टों लग गये। जब मैं नहा-धोकर पूजा-पाठ से निवृत्त होकर लौटा, तो वह मनुष्य एकान्त मन से अपने खाने पर जुटा हुआ था। अब मैं उसकी प्रतीक्षा करने लगा। वह भोजन समाप्त करके जब मेरे पास आया, तो मैंने पूछा—"तुम यहाँ क्या कर रहे थे?" उसने स्थिर दृष्टि से एक बार मेरी ओर देखकर कहा—"बस, इतना ही पूछिएगा या और भी कुछ?" मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा—"अभी मुझे दो घण्टे का अवसर है। तुम जो कुछ कहना चाहो, कहो।"

वह कहने लगा—

"मेरे जीवन में उस दिन अनुभूति-मयी सरसता का संचार हुआ, मेरी छाती में कुसुमाकर की वनस्थली अंकुरित, पल्लवित, कुसुमित होकर सौरभ का प्रसार करने लगी। ब्याह के निमन्त्रण में मैंने देखा उसे, जिसे देखने के लिए ही मेरा जन्म हुआ था। वह थी मंगला की यौवन-मयी ऊषा। सारा संसार उन कपोलों की अरुणिमा की गुलाबी छटा के नीचे मधुर विश्राम करने लगा। वह मादकता विलक्षण थी। मंगला के अंग-कुसुम से मकरन्द छलका पड़ता था। मेरी धवल आँखें उसे देखकर ही गुलाबी होने लगीं।

ब्याह की भीड़-भाड़ में इस ओर ध्यान देने की किसको आवश्यकता थी; किन्तु हम दोनों को भी दूसरी ओर देखने का अवकाश नहीं था।

सामना हुआ और एक घूँट। आँखें चढ़ जाती थीं। अधर मुसकाकर खिल जाते और हृदय पिण्ड-पारद के समान, वसन्त-कालीन चल-दल-किसलय की तरह काँप उठता।

देखते-ही-देखते उत्सव समाप्त हो गया। सब लोग-अपने-अपने घर चलने की तैयारी करने लगे; परन्तु मेरा पैर तो उठता ही न था। मैं अपनी गठरी जितनी ही बाँधता वह खुल जाती। मालूम होता था, कि कुछ छूट गया है। मञ्जला ने कहा—'मुरली तुम भी जाते हो?'

'जाऊँगा ही......तो भी तुम जैसा कहो।'

'अच्छा तो फिर कितने दिनों में आओगे?'

'यह तो भाग्य जाने!'

'अच्छी बात है'—वह जाड़े की रात के समान ठण्डे स्वर में बोली। मेरे मन को ठेस लगी। मैंने भी सोचा, कि फिर यहाँ क्यों ठहरूँ? चल देने का निश्चय किया। फिर भी रात तो बितानी ही पड़ी। जाते हुए अतिथि को थोड़ा और ठहरने के लिए कहने से कोई भी चतुर गृहस्थ नहीं चूकता। मञ्जला की माँ ने कहा और मैं रात भर ठहर गया; पर जागकर रात बीती। मञ्जला ने चलने के समय कहा—'अच्छा तो...' इसके बाद नमस्कार के लिए दोनों सुन्दर हाथ जुड़ गये। चिढ़कर मन-ही-मन मैंने कहा—'यही अच्छा है, तो बुरा ही क्या है?' मैं चल पड़ा! कहाँ? घर नहीं! कहीं और!—मेरी कोई खोज लेनेवाला न था।

मैं चला जा रहा था। कहाँ जाने के लिए यह न बताऊँगा। वहाँ पहुँचने पर सन्ध्या हो गई। चारो ओर वनस्थली साँय-साँय करने लगी। थका भी था, रात को पाला पड़ने की सम्भावना थी। किस छाया में बैठता? सोच-विचार कर मैं सूखी झलासियों से झोपड़ी बनाने लगा। लतरों को काटकर उसपर छाजन हुई। रात का बहुत-सा अंश बीत चुका

था। परिश्रम की तुलना में विश्राम कहाँ मिला! प्रभात होने पर आगे बढ़ने की इच्छा न हुई। झोपड़ी की अधूरी रचना ने मुझे रोक लिया। जङ्गल तो था ही। लकड़ियों की कमी न थी। पास ही नाले की मिट्टी भी चिकनी थी। आगे बढ़कर नदी-तट से मुझे नाला ही अच्छा लगा। दूसरे दिन से झोपड़ी उजाड़कर अच्छी-सी कोठरी बनाने की धुन लगी। अहेर से पेट भरता और घर बनाता। कुछ ही दिनों में वह बन गया, जब घर बन चुका, तो मेरा मन उचटने लगा। घर की ममता और उसके प्रति छिपा हुआ अविश्वास—दोनों का युद्ध मन में हुआ। मैं जाने की बात सोचता, फिर ममता कहती, कि विश्राम करो। अपना परिश्रम था, छोड़ न सका। इसका और भी कारण था। समीप ही सफेद चट्टानों पर जलधारा के लहरीले प्रवाह में कितना संगीत था! चाँदनी में वह कितना सुन्दर हो जाता। जैसे इस पृथ्वी का छाया-पथ। मेरी उस झोपड़ी से उसका सब रूप दिखाई पड़ता था न! मैं उसे देख-कर सन्तोष का जीवन बिताने लगा। वह मेरे जीवन के सब रहस्यों की प्रतिमा थी। कभी उसे मैं आँसू की धारा समझता, जिसे निराश प्रेमी अपने आराध्य की कठोर छाती पर व्यर्थ ढुलकाता हो। कभी उसे अपने जीवन की तरह निर्मम संसार की कठोरता पर छटपटाते हुए देखता। दूसरे का दुःख देखकर मनुष्य को सन्तोष होता ही है। मैं भी वहीं पड़ा जीवन बिताने लगा।

कभी सोचता कि मैं क्यों पागल हो गया! उस स्त्री के सौंदर्य ने क्यों अपना प्रभाव मेरे हृदय पर जमा लिया? विधवा मंगला! वह गरल है या अमृत? अमृत है, तो उसमें इतनी ज्वाला क्यों है, ज्वाला है तो मैं जल क्यों नहीं गया? यौवन का विनोद! सौंदर्य की भ्रान्ति! वह क्या है? मेरा यही स्वाध्याय हो गया।

शरद की पूर्णिमा में बहुत से लोग उस सुन्दर दृश्य को देखने के लिए दूर-दूर से आते। युवती और युवकों के रहस्यालाप करते हुए जोड़े, मित्रों की मण्डलियाँ, परिवारों का दल उनके आनन्द कोलाहल को मैं उदास होकर देखता। डाह होती, जलन होती। तृष्णा जग जाती। मैं उस रमणीय दृश्य का उपभोग न करके पलकों को दबा लेता। कानों को बन्द कर लेता; क्यों? मंगला नहीं। और क्या एक दिन के लिए, एक क्षण के लिए मैं उस सुख का अधिकारी नहीं! विधाता का अभिशाप! मैं सोचता—अच्छा दूसरों के ही साथ कभी वह शरद-पूर्णिमा के दृश्य को देखने के लिए क्यों नहीं आई? क्या वह जानती है कि मैं यहीं हूँ? मैंने भी पूर्णिमा के दिन वहाँ जाना छोड़ दिया। और लोग जब वहाँ जाते, तो मैं न जाता। मैं रूठता था। यह मूर्खता थी मेरी! वहाँ किससे मान करता था मैं? उस दिन मैं नदी की ओर न जाने क्यों आकृष्ट हुआ।

मेरी नींद खुल गई थी। चाँदनी रात का सबेरा था। अभी चन्द्रमा में फीका प्रकाश था। मैं वनस्थली की रहस्यमयी छाया को देखता हुआ नाले के किनारे-किनारे चलने लगा। नदी के सङ्गम पर पहुँच कर सहसा एक जगह रुक गया। देखा कि वहाँ पर एक स्त्री और पुरुष शिला पर सो रहे हैं। वहाँ तक तो घूमनेवाले आते नहीं। मुझे कुतूहल हुआ। मैं वहीं स्नान करने के बहाने रुक गया। आलोक की किरणों से आँखें खुल गईं। स्त्री ने गर्दन घुमाकर धारा की ओर देखा। मैं सन्न रह गया। उसकी धोती साधारण और मैली थी। सिरहाने एक छोटी-सी पोटली थी। पुरुष अभी सो रहा था। मेरी उसकी आँखें मिल गईं। मैंने तो पहचान लिया कि वह मंगला थी। और उसने......नहीं, उसे भ्रान्ति बनी रही। वह सिमटकर बैठ गई।

देखकर, मन-ही-मन कुढ़ गया। मेरे मुँह से जो 'मङ्गला' की पुकार निकलनेवाली थी, वह रुक गई। मैं धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने लगा।

'सुनिए तो!'—मैंने घूमकर देखा कि मङ्गला पुकार रही है। वह पुरुष भी उठ बैठा है। मैं वहीं खड़ा रह गया। कुछ न बोलने पर भी मैं प्रश्न की प्रतीक्षा में यथा-स्थित रहा। मङ्गला ने कहा—'महाशय, यहाँ कहीं रहने की जगह मिलेगी?'

'महाशय!' ऍं! तो सचमुच मङ्गला ने मुझे नहीं पहचाना क्या! चलो अच्छा हुआ, मेरा चित्र भी बदल गया था। एकान्तवास करते हुए और कठोर जीवन बिताते हुए जो रेखाएँ बन गई थीं, वह मेरे मनोनुकूल ही हुईं। मन में क्रोध उमड़ रहा था, गला भर्राने लगा था। मैंने कहा—'यहाँ जङ्गल में क्या आप कोई धर्मशाला खोज रही हैं?' यह कठोर व्यङ्ग था। मङ्गला ने घायल होकर कहा—'नहीं, कोई गुफा—कोई झोंपड़ी महाशय, धर्मशाला खोजने के लिए जङ्गल में क्यों आती।'

पुरुष कुछ कठोरता से सजग हो रहा था; किंतु मैंने उसकी ओर न देखते हुए कहा—'झोंपड़ी तो मेरी है। यदि विश्राम करना हो तो वहीं थोड़ी देर के लिए जगह मिल जायगी।'

'थोड़ी देर के लिए सही। मंगला, उठो! क्या सोच रही हो? देखो रात भर यहाँ पड़े-पड़े मेरी सब नसें अकड़ गई हैं।'—पुरुष ने कहा। मैंने देखा कि वह कोई सुखी परिवार के प्यार में पला हुआ युवक है; परन्तु उसका रंग-रूप नष्ट हो गया। कष्टों के कारण उसमें एक कटुता आ गई है। मैंने कहा—'तो फिर चलो भाई।'

दोनों मेरे पीछे-पीछे चलकर झोंपड़ी में पहुँचे।

मंगला मुझे पहचान सकी कि नहीं, कह नहीं सकता। कितने बरस बीत गये। चार-पाँच दिनों की देखा-देखी। सम्भवतः मेरा चित्र

उसकी आँखों में उतरते उतरते किसी और छवि ने अपना आसन जमा लिया हो; किन्तु मैं कैसे भूल सकता था! घरपर और कोई था ही नहीं। जीवन जब किसी स्नेह-छाया की खोज में आगे बढ़ा, तो मंगला का हरा-भरा यौवन और सौन्दर्य दिखलाई पड़ा। वहीं रम गया। मैं भावना के अतिवाद में पड़कर निराश व्यक्ति-सा विरागी बन गया था, उसी के लिए। यह मेरी भूल हो; पर मैं, तो उसे स्वीकार कर चुका था।

हाँ, तो वह बाल-विधवा मंगला ही थी। और पुरुष! वह कौन है? यही मैं सोचता हुआ झोंपड़ी के बाहर साखू की छाया में बैठा हुआ था। झोंपड़ी में दोनों विश्राम कर रहे थे। उन लोगों ने नहा-धोकर कुछ जल-पीकर सोना आरम्भ किया। सोने की होड़ लग रही थी। वे इतने थके थे कि दिन-भर उठने का नाम नहीं लिया। मैं दूसरे दिन का धरा हुआ नमक-लगा मांस का टुकड़ा निकालकर आग पर सेंकने की तैयारी में लगा। क्योंकि अब दिन ढल रहा था। मैं अपने तीर से आज एक ही पक्षी मार सका था। सोचा कि ये लोग भी कुछ माँग बैठे तब क्या दूँगा? मन में तो रोष की मात्रा कुछ न थी, फिर भी वह मंगला थी न!

कभी जो भूले-भटके पथिक उधर से आ निकलते, उनसे नमक और आटा मिल जाया करता था। मेरी झोंपड़ी में रात बिताने का किराया देकर लोग जाते। मुझे भी लालच लगा था! अच्छा जाने दीजिए। वहाँ उस दिन जो कुछ बचा था, वह सब लेकर बैठा मैं भोजन बनाने।

मैं अपने पर झुँझलाता भी था और उन लोगों के लिए भोजन भी बनाता जाता था। विरोध के सहस्र फणों की छाया में न जाने दुलार कब से सो रहा था! वह जग पड़ा।

जब सूर्य उन धवल शिलाओं पर बहती हुई जल-धारा को लाल बनाने लगा था, तब उन लोगों की आँखें खुलीं। मङ्गला ने मेरी सुलगाई

हुई आग की शिखा को देखकर कहा—'आप क्या बना रहे हैं, भोजन ? तो क्या यहाँ पास में कुछ मिल सकेगा ?' मैंने सिर हिलाकर 'नहीं' कहा। न जाने क्यों ! पुरुष अभी अंगड़ाई ले रहा था। उसने कहा—'तब क्या होगा, मङ्गला ?' मङ्गला हताश होकर बोली—'क्या करूँ ?' मैंने कहा—'इसी में जो कुछ अँटे-बटे वह खा-पीकर आज आप लोग विश्राम कीजिए न !'

पुरुष निकल आया। उसने सिंकी हुई बाटियाँ और मांस के टुकड़ों को देखकर कहा—'तब और चाहिए क्या ? मैं तो आपको धन्यवाद ही दूँगा।' मङ्गला जैसे व्यथित होकर अपने साथी को देखने लगी। उसकी यह बात उसे अच्छी न लगी; किन्तु अब वह द्विविधा में पड़ गई। वह चुपचाप खड़ी रही। पुरुष ने झिड़ककर कहा—'तो आओ मङ्गला ! मेरा अंग-अंग टूट रहा है। देखो तो बोतली में आज भर के लिए तो बची है ?'

जलती हुई आग के धुँधले प्रकाश में वन-भोज का प्रसङ्ग छिड़ा। सभी बातों पर मुझसे पूछा गया; पर शराब के लिए नहीं। मङ्गला को भी थोड़ी-सी मिली। मैं आश्चर्य से देख रहा था—मङ्गला का वह प्रगल्भ आचरण और पुरुष का निश्चिन्त शासन। दासी की तरह वह प्रत्येक बात मान लेने के लिए प्रस्तुत थी ! और मैं तो जैसे किसी अद्भुत स्थिति में अपनेपन को भूल चुका था। क्रोध, क्षोभ और डाह सब जैसे मित्र बनने लगे थे। मन में एक विनीत प्यार...नहीं, आज्ञा-कारिता-सी जग गई थी।

पुरुष ने डटकर भोजन किया। तब एक बार मेरी ओर देखकर डकार ली। वही मानों मेरे लिए धन्यवाद था। मैं कुढ़ता हुआ भी वहीं साखू के नीचे आसन लगाने की बात सोचने लगा और पुरुष के

साथ मङ्गला गहरी अँधियारी होने के पहले ही झोंपड़ी में चली गई। मैं बुझती हुई आग को सुलगाने लगा। मन-ही-मन सोच रहा था, 'कल ही इन लोगों को यहाँ से चले जाना चाहिए। नहीं-तो...' फिर नींद आ चली। रजनी की निस्तब्धता, टकराती हुई लहरों का कलनाद, विस्मृति में गीत की तरह कानों में गूँजने लगा।

दूसरे दिन मुझमें कोई कटुता का नाम नहीं—झिड़कने का साहस नहीं। आज्ञाकारी दास के-समान मैं सविनय उनके सामने खड़ा हुआ।

'महाशय! कई मील तो जाना पड़ेगा; परन्तु थोड़ा-सा कष्ट कीजिए न। कुछ सामान खरीद लाइए आज...' मङ्गला को अधिक कहने का अवसर न देकर मैं उसके हाथ से रुपया लेकर चल पड़ा। मुझे नौकर बनने में सुख प्रतीत हुआ और लीजिए, मैं उसी दिन से उनके आज्ञाकारी भृत्य की तरह अहेर कर लाता। मछली मारता। एक नाव पर जाकर दूर बाजार से आवश्यक सामग्री खरीद लाता। हाँ, उस पुरुष को मदिरा नित्य चाहिए। मैं उसका भी प्रबन्ध करता और यह सब प्रसन्नता के साथ। मनुष्य को जीवन में कुछ-न-कुछ काम करना चाहिए। वह मुझे मिल गया था। मैंने देखते-देखते एक छोटा-सा छप्पर अलग डाल दिया। प्याजमेवा, जङ्गली शहद और फल-फूल सब जुटाता रहता। यह मेरा परिवर्तन निर्लिप्त भाव से मेरी आत्मा ने ग्रहण कर लिया। मङ्गला की उपासना थी।

कई महीने बीत गये; किन्तु छबिनाथ—यही उस पुरुष का नाम था—को भोजन करके, मदिरा पिये पड़े रहने के अतिरिक्त कोई काम नहीं। मङ्गला की गाँठ खाली हो चली। जो दस-बीस रुपये थे वह सब खर्च हो-गये; परन्तु छबिनाथ की आनन्द-निद्रा टूटी नहीं। वह निरंकुश, स्वच्छन्द पान-भोजन में सन्तुष्ट व्यक्ति था। मङ्गला इधर कई दिनों से

घबराई हुई दीखती थी; परन्तु मैं चुपचाप अपनी उपासना में निरत था। एक सुन्दर चाँदनी रात थी। सरदी पड़ने लगी थी। वनस्थली सन्न-सन्न कर रही थी। मैं अपने छप्पर के नीचे दूर से आनेवाली नदी का कलनाद सुन रहा था। मङ्गला सामने आकर खड़ी हो गई। मैं चौंक उठा। उसने कहा—'मुरली!' मैं चुप रहा।

'बोलते क्यों नहीं?'

मैं फिर भी चुप रहा।

'ओह! तुम समझते हो कि मैं तुम्हें नहीं पहचानती। यह तुम्हारे बाँये गाल पर जो दाढ़ी के पास चोट है, वह तुमको पहचानने से मुझे वञ्चित कर ले ऐसा नहीं हो सकता। तुम मुरली हो! हो न! बोलो।'

'हाँ।'—मुझसे कहते ही बना।

'अच्छा तो सुनो, मैं इस पशु से ऊब गई हूँ। और अब मेरे पास कुछ नहीं बचा। जो कुछ लेकर मैं घर से चली थी, वह सब खर्च हो गया।'

'तब?'—मैंने विरक्त होकर कहा।

'यही कि मुझे यहाँ से ले चलो। वह जितनी शराब थी सब पीकर आज बेसुध-सा है। मैं तुमको इतने दिनों तक भी पहचानकर क्यों नहीं बोली, जानते हो?'

'नहीं।'

'तुम्हारी परीक्षा ले रही थी। मुझे विश्वास हो गया कि तुम मेरे सच्चे चाहनेवाले हो।'

'इसकी भी परीक्षा कर ली थी तुमने?'—मैंने व्यङ्ग से कहा।

'उसे भूल जाओ। वह सब बड़ी दुःखद कथा है। मैं किस तरह घरवालों की सहायता से इसके साथ भागने के लिए बाध्य हुई, उसे

सुनकर क्या करोगे। चलो मैं अभी चलना चाहती हूँ। स्त्री-जीवन की भूख कब जग जाती है इसको कोई नहीं जानता; जान लेने पर तो उसको बहाली देना असम्भव है। उसी क्षण को पकड़ना पुरुषार्थ है।'

भयानक स्त्री! मेरा सिर चकराने लगा। मैंने कहा—'आज तो मेरे पैरों में पीड़ा है। मैं उठ नहीं सकता।' उसने मेरा पैर पकड़कर कहा—'कहाँ दुखता है, लाओ मैं दाब दूँ।' मेरे शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। पैर खींचकर कहा—'नहीं-नहीं, तुम जाओ, सो रहो कल देखा जायगा।'

'तुम डरते हो न!'—यह कहकर उसने कमर में से छुरा निकाल लिया। मैंने कहा—'यह क्या?'

'अभी झगड़ा छुड़ाये देती हूँ।' यह कहकर झोपड़ी की ओर चली। मैंने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और कहा—'आज ठहरो मुझे सोच लेने दो।'

'सोच लो'—कह कर छुरा कमर में रख, वह झोपड़ी में चली गई। मैं हवाई हिंडोले पर चक्कर खाने लगा। स्त्री! यह स्त्री है? यही मञ्जुला है! मेरे प्यार की अमूल्य निधि! मैं कैसा मूर्ख था! मेरी आँखों में नींद नहीं। सबेरा होने के पहले ही जब दोनों सो रहे थे, मैं अपने पथ पर दूर भागा जा रहा था।

'कई बरस के बाद, जब मेरा मन उस भावना को भुला चुका था तो धुली हुई शिला के समान स्वच्छ हो गया। मैं उसी पथ से लौटा। नाले के पास नदी की धारा के समीप खड़ा होकर देखने लगा। वह अभी उसी तरह शिला-शय्या पर छटपटा रही थी। हाँ, कुछ व्याकुलता बढ़-सी गई थी। वहाँ बहुत से पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े लुढ़कते हुए दिखाई पड़े, जो घिस कर अनेक आकृति धारण कर चुके थे। स्रोत से

कुछ ऐसा परिवर्तन हुआ होगा। उनमें रङ्गीन चित्रों की छाया दिखाई पड़ी। मैंने कुछ बटोरकर उनकी विचित्रता देखी, कुछ पास भी रख लिया। फिर ऊपर चला। अकस्मात् वहीं पर जा पहुँचा, जहाँ पर मेरी झोंपड़ी थी। उसकी सब कड़ियाँ बिखर गई थीं। एक लकड़ी के टुकड़े पर लोहे की नोक से लिखा था—

'देवता छाया बना देते हैं। मनुष्य उसमें रहता है। और मुझ-सी राक्षसी उसमें आश्रय पाकर भी उसे उजाड़ करके ही फेंकती है।'

क्या यह मङ्गला का लिखा हुआ है? क्षण-भर के लिए सब बातें स्मरण हो आईं। मैं नाले में उतरने लगा। वहीं पर यह पत्थर मिला।

"देखते हैं न बाबूजी!" इतना कहकर मुरली ने एक बड़ा-सा और कुछ छोटे-छोटे पत्थर मेरे सामने रख दिये।

वह फिर कहने लगा—

"इसे घिसकर, और भी साफ किये जाने पर वही चित्र दिखाई दे रहा है। एक स्त्री की धुँधली आकृति—राक्षसी सी! यह देखिए, छुरा है हाथ में, और वह साखू का पेड़ है और यह हूँ मैं। थोड़ा-सा ही मेरे शरीर का भाग इसमें आ सका है। यह मेरी जीवनी का आंशिक चित्र है। मनुष्य का हृदय न जाने किस सामग्री से बना है! वह जन्म जन्मान्तर की बात स्मरण कर सकता है, और एक क्षण में सब भूल सकता है; किन्तु जड़ पत्थर—उस पर तो जो रेखा बन गई, सो बन गई। वह कोई क्षण होता होगा जिसमें अन्तरिक्ष-निवासी कोई नक्षत्र अपनी अन्तर्भेदिनी दृष्टि से देखता होगा। और अपने अदृश्य करों से शून्य में से रंग आहरण करके वह चित्र बना देता है। इसे जितना घिसिए, रेखायें साफ होकर निकलेंगी। मैं भूल गया था। इसने मुझे

स्मरण करा दिया। अब मैं इसे आपको देकर वह बात एकबार ही भूल जाना चाहता हूँ। छोटे पत्थरों से तो आप बटन इत्यादि बनाइएगा; पर यह बड़ा पत्थर आपकी चाँदी की पानवाली डिबिया पर ठीक बैठ जायगा। यह मेरी भेंट है। इसे आप लेकर मेरे मन का बोझ हलका कर दीजिए।"

× × ×

मैं कहानी सुनने में तल्लीन हो रहा था और वह—मुरली—धीरे से मेरी आँखों के सामने से खिसक गया। मेरे सामने उसके दिए हुए चित्रवाले पत्थर बिखरे पड़े रह गये।

उस दिन जितने लोग आये, मैंने उन्हें उन पत्थरों को दिखलाया, और पूछा कि यह कहाँ मिलते हैं? किसी ने कुछ ठीक-ठीक नहीं बतलाया। मैं कुछ काम न कर सका। मन उचट गया था। तीसरे पहर कुछ दूर घूमकर जब लौट आया, तो देखा कि एक स्त्री मेरी बंगलिया के पास खड़ी है। उसका अस्त-व्यस्त भाव, उन्मत्त-सी तीव्र आँखें देखकर मुझे डर लगा। मैंने कहा—"क्या है?" उसने कुछ माँगने के लिए हाथ फैला दिया। मैंने कहा—"भूखी हो क्या? भीतर आओ।" वह भयाकुल और सशङ्क दृष्टि से मुझे देखती लौट पड़ी। मैंने कहा—"लेती जाओ।" किन्तु वह कब सुननेवाली थी!

चित्रवाला बड़ा पत्थर सामने दिखलाई पड़ा। मुझे तुरन्त ही स्त्री की आकृति का ध्यान हुआ; किन्तु जब तक उसे खोजने के लिए नौकर जाय, वह पहाड़ियों की सन्ध्या की उदास छाया में छिप गई थी।

गुंडा

१

वह पचास वर्ष से ऊपर था। तब भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ था। चमड़े पर झुर्रियाँ नहीं पड़ी थीं। वर्षा की झड़ी में, पूस की रातों की छाया में, कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में वह सुख मानता था। उसकी चढ़ी मूछें बिच्छू के डंक की तरह, देखनेवालों की आँखों में चुभती थीं। उसका साँवला रंग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से भी ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे का फेंटा, जिसमें सीप की मूठ का बिछुआ खुँसा रहता था। उसके घुँघराले बालों पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कन्धे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गँडासा, यह थी उसकी धज! पंजों के बल जब वह चलता, तो उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुण्डा था।

ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वही काशी नहीं रह गई थी, जिसमें उपनिषद् के अजातशत्रु की परिषद् में ब्रह्मविद्या सीखने के लिए विद्वान ब्रह्मचारी आते थे। गौतम बुद्ध और शंकराचार्य के धर्म-दर्शन के वाद-विवाद, कई शताब्दियों से लगातार मन्दिरों और मठों के ध्वंस और तपस्वियों के बध के कारण, प्रायः बन्द-से हो गये थे। यहाँ तक कि पवित्रता और छूआछूत में कट्टर वैष्णव-धर्म भी उस विशृंखलता में, नवागन्तुक धर्मोन्माद में, अपनी असफलता देखकर काशी में अघोर रूप धारण कर रहा था। उसी समय समस्त न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्र-बल के सामने झुकते देखकर, काशी के विच्छिन्न और निराश नागरिक जीवन ने, एक नवीन सम्प्रदाय की सृष्टि की। वीरता जिसका धर्म था। अपनी बात पर मिटना, सिंह-वृत्ति से जीविका ग्रहण करना, प्राण-भिक्षा माँगनेवाले कायरों तथा चोट खाकर गिरे हुए प्रतिद्वन्द्वी पर शस्त्र न उठाना, सताये हुए निर्बलों को सहायता देना और प्रत्येक क्षण प्राणों को हथेली पर लिए घूमना, उनका बाना था। उन्हें लोग काशी में गुण्डा कहते थे।

जीवन की किसी अलभ्य अभिलाषा से वञ्चित होकर जैसे प्रायः लोग विरक्त हो जाते हैं, ठीक उसी तरह किसी मानसिक चोट से घायल होकर, एक प्रतिष्ठित ज़मींदार का पुत्र होने पर भी, नन्हकूसिंह गुण्डा हो गया था। दोनों हाथों से उसने अपनी सम्पत्ति लुटाई। नन्हकूसिंह ने बहुत-सा रुपया खर्च करके जैसा स्वाँग खेला था, उसे काशीवाले बहुत दिनों तक नहीं भूल सके। वसन्त ऋतु में यह प्रहसन-पूर्ण अभिनय खेलने के लिए उन दिनों प्रचुर धन, बल, निर्भीकता और उच्छृङ्खलता की आवश्यकता होती थी। एक बार नन्हकूसिंह ने भी एक पैर में नूपुर, एक हाथ में तोड़ा, एक आँख में काजल, एक कान में हजारों के मोती तथा दूसरे कान में

फटे हुए जूते का पल्ला लटका कर, एक हाथ में जड़ाऊ मूठ की तलवार, दूसरा हाथ आभूषणों से लदी हुई अभिनय करनेवाली प्रेमिका के कन्धे पर रखकर गाया था,—

'कहीं बैगनवाली मिले तो बुला देना ।'

प्रायः बनारस के बाहर की हरियालियों में, अच्छे पानी वाले कूओं पर, गङ्गा की धारा में मचलती हुई डोंगी पर वह दिखलाई पड़ता था । कभी-कभी जूआखाने से निकल कर जब वह चौक में आ जाता, तो काशी की रंगीली वेश्याएँ मुस्कराकर उसका स्वागत करतीं और उसके दृढ़ शरीर को सस्पृह देखतीं । वह तमोली की ही दूकान पर बैठकर उनके गीत सुनता, ऊपर कभी नहीं जाता था । जुए की जीत का रुपया मुट्ठियों में भरभर कर, उनकी खिड़की में वह इस तरह उछलता कि कभी-कभी समाजी लोग अपना सिर सहलाने लगते, तब वह ठठाकर हँस देता । जब कभी लोग कोठे के ऊपर चलने के लिए कहते, तो वह उदासी की साँस खींच कर चुप हो जाता ।

वह अभी बंसी के जूआ-खाने से निकला था । आज उसकी कौड़ी ने साथ न दिया । सोलह परियों के नृत्य में उसका मन न लगा । मन्नू तमोली की दुकान पर बैठते हुए उसने कहा—"आज सायत अच्छी नहीं रही मन्नू !"

"क्यों मालिक ! चिंता किस बात की है । हम लोग किस दिन के लिए हैं । सब आपही का तो है ।"

"अरे बुद्धू ही रहे तुम ! नन्हकूसिंह जिस दिन किसी से लेकर जूआ खेलने लगे, उसी दिन समझना वह मर गये । तुम जानते नहीं कि मैं जुआ खेलने कब जाता हूँ । जब मेरे पास एक पैसा नहीं रहता ; उस दिन नाल पर पहुँचते ही जिधर बड़ी ढेरी रहती है, उसी को बदता हूँ और फिर वही दाँव आता भी है । बाबा कीनाराम का यह बरदान है !"

"तब आज क्यों मालिक ?"

"पहला दाँव तो आया ही, फिर दो-चार हाथ बदने पर सब निकल गया, तब भी लो, यह पाँच रुपये बचे हैं। एक रुपया तो पान के लिए रख लो और चार दे दो मलूकी कथक को, कह दो कि दुलारी से गाने के लिए कह दे। हाँ वही एक गीत—विलमि विदेस रहे।"

नन्हकूसिंह की बात सुनते ही मलूकी, जो अभी गाँजे की चिलम पर रखने के लिए अँगारा चूर कर रहा था, घबराकर उठ खड़ा हुआ। वह सीढ़ियों पर दौड़ता हुआ चढ़ गया। चिलम को देखता ही ऊपर चढा, इसलिये उसे चोट भी लगी; पर नन्हकूसिंह की भृकुटी देखने की शक्ति उसमें कहाँ। उसे नन्हकूसिंह की वह मूर्ति न भूली थी। जब इस पान की दूकान पर जूये-खाने से जीता हुआ, रुपये से भरा तोड़ा लिये वह बैठा था। दूर से बोधीसिंह की बारात का बाजा बजता हुआ आ रहा था। नन्हकू ने पूछा—"यह किसकी बारात है ?"

"ठाकुर बोधीसिंह के लड़के की।"—मन्नू के इतना कहते ही नन्हकू के ओठ फड़कने लगे। उसने कहा—"मन्नू! यह नहीं हो सकता। आज इधर से बारात न जायगी। बोधीसिंह हमसे निपट कर तब बारात इधर से ले जा सकेंगे।"

मन्नू ने कहा—"तब मालिक मैं क्या करूँ ?"

नन्हकू गड़ासा कन्धे पर से और ऊँचा करके मलूकी से बोला—"मलुकिया देखता है अभी, जा ठाकुर से कह दे, कि बाबू नन्हकूसिंह आज यहीं लगाने के लिए खड़े हैं। समझकर आवें, लड़के की बारात है।"

मलुकिया काँपता हुआ ठाकुर बोधीसिंह के पास गया। बोधीसिंह और नन्हकू से पाँच वर्ष से सामना नहीं हुआ है। किसी दिन नाल पर

कुछ बातों में ही कहासुनी होकर, बीच-बचाव हो गया था। फिर सामना नहीं हो सका था। आज नन्हकू जान पर खेलकर अकेले खड़ा है। बोधीसिंह भी उस आन को समझते थे। उन्होंने मलूकी से कहा जा बे, कह दे कि हमको क्या मालूम कि बाबूसाहब वहाँ खड़े हैं। जब वह हैं ही, तो दो समधी जाने का क्या काम है। बोधीसिंह लौट गये और मलूकी के कन्धे पर तोड़ा लादकर बाजे के आगे नन्हकूसिंह बारात लेकर गये, ब्याह में जो कुछ लगा, खर्च किया। ब्याह कराकर तब दूसरे दिन इसी दूकान तक आकर रुक गये। लड़के को और उसकी बारात को उसके घर भेज दिया।

मलूकी को भी दस रुपया मिला था उस दिन। फिर नन्हकूसिंह की बात सुनकर बैठे रहना और यम को न्योता देना एक ही बात थी। उसने जाकर दुलारी से कहा—हम ठेका लगा रहे हैं, तुम गाओ, तब तक बल्लू सारंगीवाला पानी पीकर आता है।

"बाप रे! कोई आफत आई है क्या बाबू साहब? सलाम।"—कहकर दुलारी ने खिड़की से मुस्कराकर झाँका था कि नन्हकूसिंह उसके सलाम का जवाब देकर, दूसरे एक आनेवाले को देखने लगे।

हाथ में हरौती की पतली-सी छड़ी, आँखों में सुरमा, मुँह में पान, मेंहदी लगी हुई लाल दाढ़ी, जिसकी सफेद जड़ दिखलाई पड़ रही थीं, कुब्बेदार टोपी, छकलिया अँगरखा और साथ में लैसदार परतलेवाले दो सिपाही! कोई मौलवी साहब हैं। नन्हकू हँस पड़ा। नन्हकू की ओर बिना देखे ही मौलवी ने एक सिपाही से कहा—"जाओ दुलारी से कह दो कि आज रेजिडेण्ट साहब की कोठी पर मुजरा करना होगा, अभी चलें, देखो तब तक हम जान अली से कुछ इत्र ले रहे हैं।"

सिपाही ऊपर चढ़ रहा था और मौलवी दूसरी ओर चले थे कि

रानी पन्ना के हृदय में एक तरलता उद्वेलित हुई। उन्होंने हँसकर कहा—"दुलारी, वे तेरे यहाँ आते हैं न? इसी से तू उनकी बड़ाई······।"

"नहीं सरकार! शपथ खाकर कह सकती हूँ, कि बाबू नन्हकूसिंह ने आज तक कभी मेरे कोठे पर पैर भी नहीं रखा।"

राजमाता न जाने क्यों इस अद्भुत व्यक्ति को समझने के लिए चंचल हो उठी थी। तब भी उसने दुलारी को आगे कुछ न कहने के लिए तीखी दृष्टि से देखा। वह चुप हो गई। पहले पहर की शहनाई बजने लगी। दुलारी छुट्टी माँगकर डोली पर बैठ गई। तब गेंदा ने कहा—"सरकार! आजकल नगर की दशा बड़ी बुरी है। दिनदहाड़े लोग लूट लिये जाते हैं। सैकड़ों जगह नाल पर जूए में लोग अपना सर्वस्व गँवाते हैं। बच्चे फुसलाये जाते हैं। गलियों में लाठियाँ और छुरे चलने के लिए टेढ़ी भौंहें कारण बन जाती हैं। उधर रैजीडेण्ट साहब से महाराज की अनबन चल रही है।" राजमाता चुप रहीं।

दूसरे दिन राजा चेतसिंह के पास रैजिडेण्ट मार्कहेम की चिट्ठी आई। जिसमें नगर की दुर्व्यवस्था की कड़ी आलोचना थी। डाकुओं और गुण्डों को पकड़ने के लिए, उन पर कड़ा नियन्त्रण रखने की सम्मति भी थी। कुबरा मौलवीवाली घटना का उल्लेख था। उधर हेस्टिंग्स के आने की भी सूचना थी। शिवालयघाट और रामनगर में हलचल मच गई। कोतवाल, हिम्मतसिंह पागल की तरह, जिसके हाथ में लाठी, लोहाँगी, गड़ासा, बिछुआ और करौली देखते उसीको पकड़ने लगे।

एक दिन नन्हकूसिंह सुम्भा के नाले के संगम पर, ऊँचे से टीले की घनी हरियाली में अपने चुने हुए साथियों के साथ दुधिया छान रहे थे। गंगा में, उनकी पतली डोंगी बड़ की जटा से बँधी थी। कथकों का गाना हो रहा था। चार उलाँकी इक्के कसे-कसाये खड़े थे।

नन्हकूसिंह ने अकस्मात् कहा—"मलूकी ! गाना जमता नहीं है। उलाकी पर बैठकर जाओ, दुलारी को बुला लाओ।" मलूकी वहाँ मजीरा बजा रहा था। दौड़कर इक्के पर जा बैठा, आज नन्हकूसिंह का मन उखड़ा था। बूटी कई बार छानने पर भी नशा नहीं। एक घण्टे में दुलारी सामने आ गई। उसने मुस्कुराकर पूछा—"क्या हुक्म है बाबू साहब !"

"दुलारी ! आज गाना सुनने का मन कर रहा है।"

"इस जंगल में क्यों ?"—उसने सशंक हँसकर कुछ अभिप्राय से पूछा।

"तुम किसी तरह का खटका न करो।"—नन्हकूसिंह ने हँसकर कहा।

"यह तो मैं उस दिन महारानी से भी कह आई।"

"क्या, किससे ?"

"राजमाता पन्ना देवी से"—फिर उस दिन गाना नहीं जमा। दुलारी ने आश्चर्य से देखा कि तानों में नन्हकू की आँखें तर हो जाती हैं। गाना-बजाना समाप्त हो गया था। वर्षा की रात में झिल्लियों का स्वर उस झुरमुट में गूँज रहा था। मन्दिर के समीप ही छोटे-से कमरे में नन्हकूसिंह चिन्ता में निमग्न बैठा था। आँखों में नींद नहीं। और सब लोग तो सोने लगे थे, दुलारी जाग रही थी। वह भी कुछ सोच रही थी। आज उसे, अपने को रोकने के लिये कठिन प्रयत्न करना पड़ रहा था; किन्तु असफल होकर वह उठी और नन्हकूसिंह के समीप धीरे-धीरे चली आई। कुछ आहट पाते ही चौंक कर नन्हकू ने पास ही पड़ी हुई तलवार उठा ली। तबतक हँसकर दुलारी ने कहा—"बाबू साहब यह क्या ! स्त्रियों पर भी तलवार चलाई जाती है।"

छोटे-से दीपक के प्रकाश में वासना-भरी रमणी का मुख देखकर नन्हकू हँस पड़ा। उसने कहा—"क्यों बाईजी ! क्या इसी समय जाने

रानी पन्ना के हृदय में एक तरलता उद्वेलित हुई। उन्होंने हँसकर कहा—"दुलारी, वे तेरे यहाँ आते हैं न? इसी से तू उनकी बड़ाई······।"

"नहीं सरकार! शपथ खाकर कह सकती हूँ, कि बाबू नन्हकूसिंह ने आज तक कभी मेरे कोठे पर पैर भी नहीं रखा।"

राजमाता न जाने क्यों इस अद्भुत व्यक्ति को समझने के लिए चंचल हो उठी थी। तब भी उसने दुलारी को आगे कुछ न कहने के लिए तीखी दृष्टि से देखा। वह चुप हो गई। पहले पहर की शहनाई बजने लगी। दुलारी छुट्टी माँगकर डोली पर बैठ गई। तब गेंदा ने कहा—"सरकार! आजकल नगर की दशा बड़ी बुरी है। दिनदहाड़े लोग लूट लिये जाते हैं। सैकड़ों जगह नाल पर जूए में लोग अपना सर्वस्व गँवाते हैं। बच्चे फुसलाये जाते हैं। गलियों में लाठियाँ और छुरे चलने के लिए टेढ़ी भौंहें कारण बन जाती हैं। उधर रेजीडेण्ट साहब से महाराज की अनबन चल रही है।" राजमाता चुप रहीं।

दूसरे दिन राजा चेतसिंह के पास रेजिडेण्ट मार्कहेम की चिट्ठी आई। जिसमें नगर की दुर्व्यवस्था की कड़ी आलोचना थी। डाकुओं और गुण्डों को पकड़ने के लिए, उन पर कड़ा नियन्त्रण रखने की सम्मति भी थी। कुबरा मौलबीवाली घटना का उल्लेख था। उधर हेस्टिंग्स के आने की भी सूचना थी। शिवालयघाट और रामनगर में हलहच मच गई। कोतवाल, हिम्मतसिंह पागल की तरह, जिसके हाथ में लाठी, लोहाँगी गड़ासा, बिछुआ और करौली देखते उसीको पकड़ने लगे।

एक दिन नन्हकूसिंह सुम्भा के नाले के संगम पर, ऊँचे से टीले की घनी हरियाली में अपने चुने हुए साथियों के साथ दुधिया छान रहे थे। गंगा में, उनकी पतली डोंगी बड़ की जटा से बँधी थी। कथकों का गाना हो रहा था। चार उलाँकी इक्के कसे-कसाये खड़े थे।

नन्हकूसिंह ने अकस्मात् कहा—"मलूकी ! उलाकी पर बैठकर जाओ, दुलारी को बुला लाओ।" मलूकी वहाँ मजीरा बजा रहा था। दौड़कर इक्के पर जा बैठा, आज नन्हकूसिंह का मन उखड़ा था। बूटी कई बार छानने पर भी नशा नहीं। एक घण्टे में दुलारी सामने आ गई। उसने मुस्कुराकर पूछा—"क्या हुक्म है बाबू साहब !"

"दुलारी ! आज गाना सुनने का मन कर रहा है।"

"इस जंगल में क्यों ?"—उसने सशंक हँसकर कुछ अभिप्राय से पूछा।

"तुम किसी तरह का खटका न करो।"—नन्हकूसिंह ने हँसकर कहा।

"यह तो मैं उस दिन महारानी से भी कह आई।"

"क्या, किससे ?"

"राजमाता पन्ना देवी से"—फिर उस दिन गाना नहीं जमा। दुलारी ने आश्चर्य से देखा कि तानों में नन्हकू की आँखें तर हो जाती हैं। गाना-बजाना समाप्त हो गया था। वर्षा की रात में झिल्लियों का स्वर उस झुरमुट में गूँज रहा था। मन्दिर के समीप ही छोटे-से कमरे में नन्हकूसिंह चिन्ता में निमग्न बैठा था। आँखों में नींद नहीं। और सब लोग तो सोने लगे थे, दुलारी जाग रही थी। वह भी कुछ सोच रही थी। आज उसे, अपने को रोकने के लिये कठिन प्रयत्न करना पड़ रहा था; किन्तु असफल होकर वह उठी और नन्हकूसिंह के समीप धीरे-धीरे चली आई। कुछ आहट पाते ही चौंक कर नन्हकू ने पास ही पड़ी हुई तलवार उठा ली। तबतक हँसकर दुलारी ने कहा—"बाबू साहब यह क्या ! स्त्रियों पर भी तलवार चलाई जाती है।"

छोटे-से दीपक के प्रकाश में वासना-भरी रमणी का मुख देखकर नन्हकू हँस पड़ा। उसने कहा—"क्यों बाईजी ! क्या इसी समय जाने

की पड़ी है। मौलवी ने फिर बुलाया है क्या ?" दुलारी नन्हकू के पास बैठ गई। नन्हकू ने कहा—"क्या तुमको डर लग रहा है ?"

"नहीं, मैं कुछ पूछने आई हूँ।"

"क्या ?"

"क्या,......यही कि......कभी तुम्हारे हृदय में......।"

"उसे न पूछो दुलारी ! हृदय को बेकार ही समझ कर तो उसे हाथ में लिये फिर रहा हूँ। कोई कुछ कर देता—कुचलता—चीरता—उछालता ! मर जाने के लिये सब कुछ तो करता हूँ; पर मरने नहीं पाता।"

"मरने के लिए भी कहीं खोंजने जाना पड़ता है। आपको काशी का हाल क्या मालूम ! न जाने घड़ी भर में क्या हो जाय। उलट-पुलट होने वाला है क्या, बनारस की गलियाँ जैसे काटने दौड़ती हैं।"

"कोई नई बात इधर हुई है क्या ?"

"कोई हेंस्टिंग्ज़ साहब आया है। सुना है कि उसने शिवालयघाट पर तिलंगों की कम्पनी का पहरा बैठा दिया है। राजा चेतसिंह और राजमाता पन्ना वहीं हैं। कोई-कोई कहता है कि उनको पकड़ कर कलकत्ता भेजने......"

"क्या पन्ना भी...रनवास भी वहीं है"—नन्हकू अधीर हो उठा था।

"क्यों बाबू साहब, आज रानी पन्ना का नाम सुनकर आपकी आँखों में आँसू क्यों आ गये !"

सहसा नन्हकू का मुख भयानक हो उठा। उसने कहा—"चुप रहो, तुम उसको जान कर क्या करोगी।" वह उठ खड़ा हुआ। उद्विग्न की तरह न जाने क्या खोजने लगा। फिर स्थिर होकर उसने कहा—"दुलारी ! जीवन में आज यह पहला ही दिन है कि एकान्त रात में एक स्त्री मेरे पलँग पर आकर बैठ गई है, मैं चिरकुमार ! अपनी एक प्रतिज्ञा का

निर्वाह करने के लिए सैकड़ों असत्य, अपराध करता फिर रहा हूँ। क्यों? तुम जानती हो? मैं स्त्रियों का घोर विद्रोही हूँ और पन्ना!...किन्तु उसका क्या अपराध! अत्याचारी बलवन्तसिंह के कलेजे में बिछुआ मैं न उतार सका। किन्तु पन्ना! उसे पकड़ कर गोरे कलकत्ते भेज देंगे! वही...।"

नन्हकूसिंह उन्मत्त हो उठा था। दुलारी ने देखा, नन्हकू अन्धकार में ही वट वृक्ष के नीचे पहुँचा और गंगा की उमड़ती हुई धारा में डोंगी खोल दी—उसी घने अन्धकार में। दुलारी का हृदय काँप उठा।

३

१६ अगस्त सन् १७८१ को काशी डाँवाडोल हो रही थी। शिवालयघाट में राजा चेतसिंह लेफ्टिनेण्ट इस्टाकर के पहरे में थे। नगर में आतंक था। दूकानें बन्द थीं। घरों में बच्चे अपनी माँ से पूछते थे— "माँ, आज हलुए वाला नहीं आया।" "चुप बेटे!"—सड़कें सूनी पड़ी थीं। तिलङ्गों की कम्पनी के आगे-आगे कुबरा मौलवी कभी-कभी, आता-जाता दिखलाई पड़ता था। उस समय खुली हुई खिड़कियाँ भी बन्द हो जाती थीं। भय और सन्नाटे का राज्य था। चौक में चिथरू-सिंह की हवेली अपने भीतर काशी की वीरता को बंदी किये कोतवाली का अभिनय कर रही थी। इसी समय किसी ने पुकारा—"हिम्मतसिंह!"

खिड़की में से सिर निकाल कर हिम्मतसिंह ने पूछा—"कौन?"

"बाबू नन्हकूसिंह!"

"अच्छा, तुम अब तक बाहर ही रहे?"

"पागल! राजा कैद हो गये हैं। छोड़ दो इन सब बहादुरों को! हम एक बार इनको लेकर शिवालयघाट पर जायँ।"

"ठहरो"—कह कर हिम्मतसिंह ने कुछ आज्ञा दी, सिपाही बाहर

निकले। नन्हकू की तलवार चमक उठी। सिपाही भीतर भागे। नन्हकू ने कहा—"नमकहरामो ! चूड़ियाँ पहन लो।" लोगों को देखते-देखते नन्हकू सिंह चला गया। कोतवाली के सामने फिर सन्नाटा हो गया।

नन्हकू उन्मत्त था। उसके थोड़े से साथी उसकी आज्ञा पर जान देने के लिए तुले थे। वह नहीं जानता था कि राजा चेतसिंह का क्या राजनैतिक अपराध है ? उसने कुछ सोचकर अपने थोड़े-से साथियों को फाटक पर गड़बड़ मचाने के लिए भेज दिया। इधर अपनी डोंगी लेकर शिवालय की खिड़की के नीचे धारा काटता हुआ पहुँचा। किसी तरह निकले हुए पत्थर में रस्सी अटका कर, उस चंचल डोंगी को उसने स्थिर किया और बन्दर की तरह उछल कर खिड़की के भीतर हो रहा। उस समय वहाँ राजमाता पन्ना और युवक राजा चेतसिंह से बाबू मनियारसिंह कह रहे थे—"आप के यहाँ रहने से, हम लोग क्या करें यह समझ में नहीं आता। पूजा-पाठ समाप्त करके आप रामनगर चली गई होतीं, तो यह..."

तेजस्विनी पन्ना ने कहा—"अब मैं रामनगर कैसे चली जाऊँ ?"

मनियारसिंह दुखी होकर बोले—"कैसे बताऊँ ? मेरे सिपाही तो बन्दी हैं।"

इतने में फाटक पर कोलाहल मचा। राज-परिवार अपनी मंत्रणा में डूबा था कि नन्हकूसिंह का आना उन्हें मालूम हुआ। सामने का द्वार बन्द था। नन्हकूसिंह ने एक बार गङ्गा की धारा को देखा—उसमें एक नाव घाट पर लगने के लिए लहरों से लड़ रही थी। वह प्रसन्न हो उठा। इसी की प्रतीक्षा में वह रुका था। उसने जैसे सबको सचेत करते हुए कहा—"महारानी कहाँ हैं ?"

सबने घूम कर देखा—एक अपरिचित वीर मूर्ति ! शस्त्रों से लदा हुआ पूरा देव !

चेतसिंह ने पूछा—"तुम कौन हो ?"

"राज परिवार का एक बिना दाम का सेवक !"

पन्ना के मुँह से हलकी-सी एक साँस निकल कर रह गई। उसने पहचान लिया। इतने वर्षों के बाद ! वही नन्हकूसिंह।

मनियारसिंह ने पूछा—"तुम क्या कर सकते हो ?"

"मैं मर सकता हूँ ! पहले महारानी को डोंगी पर बिठाइए। नीचे दूसरी डोंगी पर अच्छे मल्लाह हैं। फिर बात कीजिए।"—मनियारसिंह ने देखा ज़नानी ड्योढ़ी का दारोग़ा राज की एक डोंगी पर चार मल्लाहों के साथ खिड़की से नाव सटाकर प्रतीक्षा में है। उन्होंने पन्ना से कहा—"चलिए, मैं साथ चलता हूँ।"

"और..."—चेतसिंह को देखकर, पुत्र-वत्सला ने संकेत से एक प्रश्न किया, उसका उत्तर किसी के पास न था। मनियारसिंह ने कहा—"तब मैं यहीं ?" नन्हकू ने हँसकर कहा—"मेरे मालिक, आप नाव पर बैठें। जब तक राजा भी नाव पर न बैठ जायँगे, तब तक सत्रह गोली खाकर भी नन्हकूसिंह जीवित रहने की प्रतिज्ञा करता है।"

पन्ना ने नन्हकू को देखा। एक क्षण के लिए चारों आँखें मिलीं, जिनमें जन्म-जन्म का विश्वास ज्योति की तरह जल रहा था। फाटक बलपूर्वक खोला जा रहा था। नन्हकू ने उन्मत्त होकर कहा—"मालिक ! जल्दी कीजिए।"

दूसरे क्षण पन्ना डोंगी पर थी और नन्हकूसिंह फाटक पर इस्टाकर के साथ। चेतराम ने आकर एक चिट्ठी मनियारसिंह के हाथ में दी। लेफ्टिनेन्ट ने कहा—"आप के आदमी गड़बड़ मचा रहे हैं। अब मैं अपने सिपाहियों को गोली चलाने से नहीं रोक सकता।"

"मेरे सिपाही यहाँ कहाँ हैं साहब ?"—मनियारसिंह ने हँसकर कहा। बाहर कोलाहल बढ़ने लगा था।

चेतराम ने कहा—"पहले चेतसिंह को कैद कीजिए।"

"कौन ऐसी हिम्मत करता है।"—कड़ककर कहते हुए बाबू मनियार-सिंह ने तलवार खींच ली। अभी बात पूरी न हो सकी थी कि कुबरा मौलवी वहाँ पहुँचा! यहाँ मौलवी साहब की क़लम नहीं चल सकती थी, और न ये बाहर ही जा सकते थे। उन्होंने कहा—"देखते क्या हो चेतराम!"

चेतराम ने राजा के ऊपर हाथ रखा ही था कि नन्हकू के सधे हुए हाथ ने उसकी भुजा उड़ा दी। इस्टाकर आगे बढ़े, मौलवी साहब चिल्लाने लगे। नन्हकूसिंह ने देखते-देखते इस्टाकर और उसके कई साथियों को धराशायी किया। फिर मौलवी साहब कैसे बचते!

नन्हकूसिंह ने कहा—"क्यों, उस दिन के झापड़ ने तुझको समझाया नहीं? ले पाजी!"—कहकर ऐसा साफ जनेवा मारा कि कुबरा ढेर हो गया। कुछ ही क्षणों में यह भीषण घटना हो गई, जिसके लिये अभी कोई प्रस्तुत न था।

नन्हकूसिंह ने ललकार कर चेतसिंह से कहा—"क्या आप देखते हैं? उतरिये डोंगी पर!"—उसके घावों से रक्त के फुहारे छूट रहे थे। उधर फाटक से तिलंगे भीतर आने लगे थे। चेतसिंह ने खिड़की से उतरते हुए देखा कि बीसों तिलंगों की संगीनों में वह अविचल खड़ा होकर तलवार चला रहा है। नन्हकू के चट्टान सदृश शरीर से गैरिक की तरह रक्त की धारा बह रही है। गुंडे का एक-एक अंग कटकर वहीं गिरने लगा। वह काशी का गुंडा था।

श्री जी० पी० श्रीवास्तव

जन्मकाल	रचनाकाल
१८९१ ई०	१९११ ई०

जवानी के दिन

दिन-भर टापते ही बीता। पानी पीने, पान खाने और कमरे से कुछ-न-कुछ लाने के बहाने घर के भीतर सैकड़ों ही बार गया। मगर उनकी एक भी झलक दिखाई न दी। कभी-कभी उनके ढाँचे पर नज़र पड़ भी गयी, तो उनके घूँघट के मारे कुछ दाल न गली। कई दफ़ा जी में आया, कि उनकी ओढ़नी नोंचकर फेंक दूँ, और उनके चाँद-से मुख पर चुम्बन की मशीनगन से चटाख-चटाख एकदम फ़ायर करना शुरू कर दूँ, मगर घरवालों के मारे कुछ वश न चला। एक दफ़ा इसी नीयत से बड़ी हिम्मत करके उनके पास तक आँख बचाकर पहुँच भी गया, मगर वह मेरी आहट पाते ही बँदरिया की तरह उचककर छम-से अपनी सास की बग़ल में हो रहीं। सर से पाँव तक आग लग गयी! जब अपना ही माल खोटा, तो परखैया का क्या दोष? कहो भाई? पिनपिनाता हुआ बाहर चला। क़सम खाई, कि ज़िन्दगी में उनसे फिर कभी न बोलूँगा। चाहे कुछ हो। रास्ते में आम के छिलके पर पैर पड़ गया। टाँगें फिसल गयीं

और मैं आँगन में धड़ाम-से............कुछ भी नहीं। बुरी बात थी। धोखे में ज़बान से निकल गयी। मैंने अपना ग़ुस्सा नौकरों पर ख़ूब निकाला। फिर भी ग़ुस्सा उतरा नहीं, बल्कि और सौ-गुना चढ़ बैठा; क्योंकि इस अड़ाम-धड़ाम और मार-पीट से भी वह कुछ न चौंकीं, और न कमरे के दरवाज़े पर झाँकने के ही लिये आयीं। उफ़! कलेजे में गोली लग गयी!

बाहर तबीयत न लगी। भीतर फिर जाना पड़ा; कुछ अपनी ख़ुशी से नहीं, बल्कि टोपी लाने के लिये; क्योंकि एक ख़ास काम याद आ गया, इसलिये बाज़ार जाना ज़रूरी पड़ गया। मगर टोपी उन्हीं के कमरे में थी। ख़ैर! उनसे बोलने की क़सम खाई थी, कमरे में जाने की नहीं। इसलिये वहाँ जाने में कोई हर्ज न था। धड़धड़ाता हुआ चला गया। वह चारपाई पर लेटी हुई थीं। हड़बड़ाकर उठ बैठीं, और कोने की तरफ़ मुँह करके खड़ी हो गयीं। मैंने टोपी ली। घण्टा-भर तक आइने के पास खड़े होकर टोपी सँभालता रहा। मगर हाय! ज़ालिम ने मुझसे इतना भी न पूछा, कि कहाँ जा रहे हो? मैं मारे ग़ुस्से के चुक़न्दर हो गया। एक दफ़ा और कसके क़सम खाई, कि अब उनके पास जाऊँगा भी नहीं। बाहर निकल आया। घबराहट में छतरी लेना भूल गया। धूप कड़ी थी। सड़क पर जाने की हिम्मत न पड़ी। छतरी भी उन्हीं के कमरे में होगी; क्योंकि मेरी चीज़ें ज़्यादातर वहीं मिलती हैं। मगर अब छतरी लाने किस तरह जाऊ? बीच में तो क़सम का रोड़ा अटक गया। मगर मजबूरी भी तो कोई चीज़ है। इसके आगे भला क़समों की रुकावट कहाँ ठहर सकती है? क्योंकि क़सम मैंने खाई थी; कुछ मेरी मजबूरी ने नहीं। इसल्लिये मजबूरन मैं 'छतरी-छतरी' चिल्लाता हुआ मकान के अन्दर चला। मगर उनके कमरे तक अभी पहुँच भी न सका था, कि

'टेमुआ' कम्बख़्त ने न-जाने कहाँ से लाकर मेरी छतरी मेरे हाथ में दे दी। मूर्ख को इतनी मुस्तैदी से इसी वक्त़ काम करना था !

छतरी का कपड़ा एक तीली से निकल गया था। बिना सिलाये ऐसी छतरी लगाकर चलना अच्छा नहीं मालूम होता। मगर फिर वही मुसीबत गले पड़ी, कि मैं उनसे छतरी सीने के लिये किस तरह से कहूँ, जब बोलने की क़सम खाली है ? इसलिये अम्माँ से कहा, कि कपड़ा तली से निकल गया है; ताकि वह उनसे सी देने को कह दें। मगर अम्मा भी बड़ी बेवक़ूफ़ निकलीं। उन्होंने चट सुई-डोरा लेकर खुद ही उसे ठीक कर दिया। अब तो मुझसे बरदाश्त न हो सका, इसलिये भुनभुनाता हुआ कोठे पर चढ़ गया।

अपने कमरे में बड़ी देर तक अकेला टहलता रहा, जिससे दिमाग़ की गर्मी उतर जाये, तो बाज़ार जाऊँ। ग़ुस्सा कुछ मद्धिम पड़ा। मगर धूप में अभी गर्मी थी। इसलिये कुछ देर और इन्तज़ार करना मुनासिब मालूम हुआ। मगर बेकार बैठना भी ठीक नहीं। क्या करूँ ? सोचा, तब तक दाढ़ी ही बनालूँ। गोकि सुबह को नाई ने बाल काटते वक्त़ हजामत भी बना दी थी, पर सबेरे की भी बनाई दाढ़ी रात तक अपनी चिकनाहट नहीं रखती। मगर मेरे कमरे का आइना उतना साफ़ न था, जितना उनके कमरे का शृङ्गारदान। क्या करता ? तबीयत तो मेरी उनके कमरे में अब भूलकर भी कभी जाने की न थी, तो भी काम ही ऐसा पड़ गया, कि उस्तरा, कूची और साबुन लिये, सर लटकाये, कोठे से उतरकर मुझे उनके कमरे में जाना पड़ा।

मगर धत्तेरेकी ! उनका कमरा इस बार बिल्कुल खाली था। ख़ैर ! मुझे इससे क्या मतलब ? मुझे तो अपना काम करना था। इसलिये शृङ्गारदान के सामने बैठ गया, और डेढ़ घण्टे तक कूची गालों पर

रगड़ता रहा; क्योंकि जितनी ही देर तक दाढ़ी भिगोयी जाती है, उतनी ही आसानी से वह बनती भी है। उसके बाद पौने दो घण्टे तक उस्तरे से काम लिया। सुबह की बनाई हुई दाढ़ी जब शाम को बनाई जाती है, तब उसमें दीदारेज़ी करनी ही पड़ती है। ढूँढ़-ढूँढ़कर उगे हुए बाल निकाले जाते हैं। वरना वैसे तो उनका पता ही लगना मुश्किल है।

मगर इतनी देर हो गयी, और अब तक कमरे में कोई झाँकने भी न आया यह बहुत बुरा मालूम हुआ; क्योंकि किसी को अपना कमरा इस तरह लापरवाही के साथ छोड़ रखना ठीक नहीं। तभी तो नौकर-चाकर चोरी करने का मौक़ा पाते हैं। मगर नहीं। शायद वह कमरे में ही हों! इसलिये मैंने बिछावन उलटा। मेज़ के नीचे, चारपाई के नीचे, ग़रज़ कि कोना-कोना सब जगह ढूँढ़ा—मगर कहीं कोई आदमी दिखाई न दिया।

शाम की अँधियारी छा गयी और वह अब तक चिराग़ लेकर भी नहीं आयीं। सारा देश स्त्री-शिक्षा, स्त्री-शिक्षा चिल्लाता है, मगर कोई कम्बख़्त स्त्रियों को जोरू-गिरी की शिक्षा नहीं देता। भला ऐसी औरतों से क्या ख़ाक देश सुधर सकता है, जिन्हें इतनी भी तमीज़ नहीं आयी, कि शाम को अपने कमरों में चिराग़ जला देना चाहिये? इन्हीं बातों पर अगर मर्द लोग शादी करना बन्द करदें, तो औरतों का मिज़ाज़ अभी ठीक हो जाय। मगर कम्बख़्तों में एका तो है नहीं, यही तो रोना है। ब्याह बन्द न करें, तो कम-से-कम इतना ही करें, कि सिर्फ़ वही औरतें जोरू बनायी जाये, जिनके पास जोरू-गिरी के कई-एक सार्टिफ़िकेट हों; देखिये, बस, सब गड़बड़ी ठीक हो जाती है, या नहीं।

कहाँ तक उनके कमरे में बैठता? आख़िर निकलना ही पड़ा। आँगन में अम्माँ ने पूछा—"कहाँ थे? बड़ी देर से तुम्हारा आसरा देख रही थी।"

मैंने पूछा,—"क्यों ?"

उसने कहा—"आज बाबू श्यामबिहारी के यहाँ तुम्हारी दावत है। नाई निमन्त्रण दे गया है।"

मैं जल-भुनकर खाक हो गया। मेरे घर क्या खाने को नहीं था, जो बाबू साहब ने मुझे बुलावा भेजा ? आधी रात दावत खाने में निकल जायगी, तो मैं सोऊँगा कब ? तन्दुरुस्ती का भी कुछ ख़याल रखना चाहिये। इसलिये मैंने झल्लाकर कहा—"मैं दावत में नहीं जाऊँगा। मेरे सर में दर्द है।" और मैं कोठे पर जाकर सरे-शाम से ही लम्बा लेट गया।

मगर अम्मा की ना-समझी कहाँ तक कहूँ ? वह चटसे लौंग पीसकर ले आयीं, और लाख मना करने पर भी मत्थे पर लेप करदी। पहले तो दर्द न था। मगर अब तो सारी खोपड़ी भिन्ना गयी। उस पर तुर्रा यह, कि तमाम घरवाले, नौकर-चाकर—सभी आकर मेरे कमरे में डट गये, और ऐसे, कि कम्बख़्त दस बजे रात तक निकाले से भी नहीं निकले। वहाँ न आनेवालों में सिर्फ़ मेरी वही थीं; क्योंकि सब के कोठे पर चले आने से चौके की रखवाली उन्हीं को करनी थी। गोया चौकीदारी का हुनर बस उन्हीं को तो मालूम है, और किसी को नहीं।

जब किसी तरह से तीमारदारों से पिण्ड न छूटा, तो मुझे मजबूरन् कहना पड़ा, कि मैं बिल्कुल अच्छा हो गया। फिर भी कम्बख़्तों ने मुझे साबूदाना खिलाकर ही छोड़ा और चौके में खाना खाने न जाने दिया। मैं यहाँ इस इन्तज़ार में ही था, कि कोई-न-कोई मुझे चुपके-से रसोई जीमने को बुलाने आयेगा, और वहाँ सब लोगों ने खा-पीकर चौका उठा दिया, तब तो मुझे बड़ा गुस्सा मालूम हुआ। जी में ठान लिया, कि मैं इसकी कसर उनसे ज़रूर निकालूँगा। भलमनसाहत से बोलने या उनके

पास जाने की क़सम खायी थी, मगर गुस्से में डाँटने-फटकारने या मारने-पीटने की नीयत से उनके पास जाने में कोई बुराई न थी; क्योंकि असली चीज़ तो नीयत होती है। जहाँ यह बदली, वहाँ बात भी बदल गयी—चाहे यों देखने में वह बदली हुई न मॉलूम हो। इसलिये अब उनके पास जाने में मेरी क़सम टूट नहीं सकती।

मगर जाऊँ तो किस तरह जाऊँ? घरवाले, मालूम होता है, कि आज 'रतजगा' की रस्म करनेवाले हैं। तभी तो आधी रात हो गई, और अब तक नीचे बक-बक, झक-झक लगाये हुए हैं। उन लोगों के सामने भला मारना-पीटना किस तरह हो सकता? इसलिये ख़ून का घूँट पीकर अपने कमरे में चुपचाप अकेला ही पड़ा रहा।

इतने में सीढ़ियों पर कुछ झुनझुनाहट की आवाज़ सुनाई दी। मैं समझ गया, कि वह आ रही हैं। मगर मैं तो गुस्से में भरा बैठा था। मुझे इतनी ताब कहाँ थी, कि मैं उनको यहाँ तक आने की मुहलत देता! इसलिये तड़पकर पलँग से उठा और झपटकर सीढ़ियों पर दौड़ा, ताकि रास्ते में ही उनका गला घोंट दूँ। मगर अँधेरे में चौखट से खोपड़ी फूट गयी; फिर भी गिरता-पड़ता सीढ़ियों पर दौड़ ही गया और उनको एकदम गोद में उठा लिया। घबराहट में उनके हाथ से भरा लोटा छूट गया, और मेरी धोती एकदम भीग गई है। मैं समझ गया, कि यह पाजीपन जान-बूझकर किया गया, जिससे मैं उन्हें छोड़ दूँ; मगर मैं कहाँ मानने-वाला था? मारे गुस्से के उनको दाँतों से काटने लगा। इसके सिवाय और कर क्या सकता था? क्योंकि उनको उठाये रहने के कारण मेरे दोनों हाथ बँधे हुये थे। थप्पड़ मारने का मौक़ा न था। इसलिये बजाय हाथ के दाँत इस्तेमाल करने पड़े, मगर अफ़सोस है, कि उनके सिर्फ़ गाल और ओंठ ही काट सका; और कोई अङ्ग मेरे मुँह के सामने पड़ा

ही नहीं। फिर भी मेरा गुस्सा उतरा नहीं। इसलिये मैंने उनको लिये-दिये अपने कमरे में लाकर पलँग पर दे मारा, ताकि इतमीनान के साथ हाथों से भी कुटुम्बस कर सकूँ। मगर ज्यों-ही लैम्प की रोशनी उनके चेहरे पर पड़ी, त्यों-ही मैं चीख उठा! क्योंकि अब मालूम हुआ, कि मैं उसके बदले में टेसुआ को पकड़ लाया हूँ। यह साला चाभियों का गुच्छा बजाता हुआ, पानी रखने ऊपर आ रहा था। इसलिये मैं धोखा खा गया। धत्तेरे की! जी में आया—इस पाजी को कच्चा चबा जाऊँ। मगर उसे चार आने पैसे देकर विदा करना ही मुनासिब मालूम हुआ।

भीगी धोती कब तक पहने रहता? मगर मेरे कमरे में उस वक्त और कोई धोती भी न थी। हाँ, पतलून अलबत्ता खूँटी पर टँगा हुआ था। इसलिये सर्दी लग जाने के डर से उसे पहनना पड़ा। इतने में किसी ने पीछे से कहा—"इस वक्त कहाँ चले?"

घूमकर देखा, तो आप खड़ी थीं। बस, बदन में आग ही तो लग गयी। दाँत पीसकर कहा—"अब आप तशरीफ़ लायी हैं? क्या ज़रूरत थी, आने की?"

वह—"अच्छा, तो जाती हूँ।"

यह कहकर वह सचमुच चली गयीं। अब तो मुझसे न रहा गया। मैं उनके पीछे दौड़ा, और लपककर उनका हाथ पकड़ना चाहा। मगर वह तो साफ़ निकल गयीं। हाँ, उनकी कोई चीज़ मेरे हाथ में अलबत्ता आ गई और वह भी बदहवासी में मेरे हाथ से छूट गयी। लालटेन लाकर देखा, तो मालूम हुआ, कि 'हस्नोहिना' की शीशी टूटी पड़ी हुई है, और उसका तमाम 'सेण्ट' ज़मीन पर बह रहा है।

अगर कोई चीज़ उनकी मुझसे टूट गई, तो मैं कोई जोरू का टट्टू नहीं हूँ, कि उनका अहसान लादूँ, और उन से दबकर रहूँ। इसलिये

दिल में ठान लिया, कि इसके बदले में 'हस्नोहिना' की नई शीशी अभी लाकर दूँगा, चाहे कुछ हो। बस, मैं नीचे उतरा। चुपके-से दरवाज़ा खोला, और बाइसिकिल निकालकर उसी वक़्त बाज़ार चल दिया।

यहाँ के दूकानदार भी अजब बेवकूफ़ होते हैं। सरे-शाम से ही जब दूकानें बन्द कर देते हैं, तब उन्हें क्या ख़ाक फ़ायदा हो सकता है? सारे बाज़ार में घूमा, मगर कोई भी दूकान खुली हुई न मिली। इतने में घण्टा-घर में टन-से एक बजा। इस वक़्त भला कहीं एक बज सकता है? यह किसी घण्टे का आधा होगा। इसलिये मैंने इस पर कुछ ध्यान नहीं दिया।

मैं किसी-न- किसी दूकानदार को घर से जगाकर दूकान खुलवाने की फ़िक्र में था; कि इतने में ही कोई आदमी मेरी बाइसिकिल के सामने आ गया। वह गिर पड़ा, तो मैं क्या करूँ? मैं भी तो उसकी वजह से गिरा और बाइसिकिल टूटी, सो अलग। मगर वह कम्बख़्त पहरेवाला कॉन्स्टेबिल निकला। फिर वह कहाँ अपनी ग़लती मान सकता था? क्योंकि पुलिसवाले भला ख़ुद मुजरिम किस तरह हो सकते हैं? इसलिये वह मुझसे लड़ने लगा। डेढ़ घण्टे तक हम में बहस होती रही। मैं उसे क़ायल नहीं कर सका। आख़िर वह बिना लैम्प रात के वक़्त बाइसिकिल पर चढ़ने की इल्लत में मेरा चालान करने के लिये मेरी बाइसिकिल लेकर कोतवाली की तरफ़ चला, और मैं मौक़ा पाकर साइकिल छोड़, अपने घर की तरफ़ भागा।

घर का दरवाज़ा बन्द मिला। मारे ग़ुस्से के मैं रुआँसा हो गया; क्योंकि मेरा बाहर जाना अगर और किसी को मालूम न था, तो कम-से-कम वह तो जानती थीं; क्योंकि वह ख़ुद ही पूछ चुकी थीं, कि इस वक़्त कहाँ जा रहे हो। तब उन्होंने दरवाज़ा क्यों बन्द कर दिया? मैं रात-भर

के लिये तो बाहर गया ही न था। घण्टे-आध-घण्टे में लौटता ही। और गया भी था, तो उन्हीं की चीज़ लाने के लिये। उस पर यह अन्धेर, कि उन्होंने दरवाज़ा ही बन्द कर दिया! अगर पुकारता हूँ, तो सब जग जायेंगे और फिर उनसे मुलाक़ात होना ग़ैर-मुमकिन हो जायेगा। मैं उनसे मिलना तो चाहता न था, मगर गुस्सा उतारने के लिये उनके पास तक पहुँचना भी तो ज़रूरी था। इसलिये कलेजा मसोसकर अपने ही दरवाज़े पर चोर की तरह घण्टों दबका खड़ा रह गया।

न-जाने कितनी देर के बाद "टेसुआ" किसी ज़रूरत से दरवाज़ा खोलकर बाहर निकला, और मैं चुपके-से अन्दर हो गया। मगर वह न अपने कमरे में मिलीं, और न मेरे में। इसलिये मैं लालटेन लेकर हर सोनेवालों को चुपके-चुपके मुँह देखने लगा, ताकि फिर कहीं उनके धोखे में किसी दूसरे को जगा न बैठूँ। कम्बख़्ती के मारे भाई साहब मुँह ढके सो रहे थे। इसलिये मुझे उनकी चद्दर हटाकर लालटेन से मुँह देखना पड़ा, मगर उन्होंने आव देखा न ताव, उठकर धाँय-धाँय मेरी पीठपर दो घूँसे लगाये, और गालियाँ दीं, सो अलग कि "हरामज़ादा बदमाश! जानता है, कि मेरी आँखें उठी हैं। उस पर तू मेरी आँखों को लालटेन दिखाता है? साले! सुबह ही तुझे निकालता हूँ।" चलो, बड़ी ख़ैर हुई, कि उन्होंने मुझे टेसुआ समझा। इसलिये चुपके-से कोठे पर चला जाना ही अब बेतरह समझा।

मगर सोना बेकार था; क्योंकि घड़ी में पौने पाँच बजे थे। मैं धोती पहनकर फिर नीचे आ गया। इस बार वह लोटा लिये कहीं जा रही थीं। और सब लोग बिस्तर पर ही थे। उनसे मिलने का यह बड़ा अच्छा मौक़ा था। इसलिये मैं उनके सामने गया। वह कतराकर जाने लगीं। मगर मैं ऐसा बेवक़ूफ़ न था, उनको इस तरह निकल जाने देता। इसलिये

लपककर मैंने उनका हाथ पकड़ ही तो लिया, मगर जब तक मैं अपना गुस्सा दिखाने के लिये उनसे कुछ कहता, तब तक उन्होंने झुँझलाकर अपना हाथ छुड़ा लिया और डपटकर बोलीं—"खबरदार ! मेरा हाथ न छुओ। जाओ, वहीं रहो, जहाँ रात-भर रहे। बस, अब तुम-से-मुझसे कोई मतलब नहीं।"

वह तिनकती हुई चली गयीं, और मैं हक्का-बक्का मुँहबाये वहीं खड़ा रह गया !!

पं० विशम्भरनाथ जिज्जा

जन्मकाल	रचनाकाल
१९५१ वि०	१९१२ ई०

परदेसी

१

विधवा होने पर जमुना की माता जसोदा ने जमुना को ससुराल नहीं भेजा; अपने पास ही रखा। जसोदा के कोई नहीं था। पति का स्वर्गवास पहले ही हो चुका था, आज छः बरस हुए, लड़का भी मर गया। इधर जमुना भी विधवा हो गई, इस कारण उसने अपने पास रखके घर की चहल-पहल बनाये रखने की चेष्टा की। शहर में जसोदा के कई मकान थे, उन्हीं के किराये से उसका जीवन-निर्वाह होता था। किराया कम नहीं था—यथेष्ट था। सूखा भोजन न करके दोनों समय अच्छा भोजन करने के लिये काफ़ी था। घर में जसोदा अकेली थी। साथ थी, केवल एक यही विधवा जमुना। माता की छाती बच्ची के लिये अब भी वैसी ही दूध-भरी थी। जमुना की अवस्था १७ साल की है। पति को स्वर्गवासी हुए भी तीन वर्ष हो गये। सारा सुख सूखा हो गया। हृदय के उल्लास-उद्गार सदा के लिये हृदय में दब गये।

परसों चन्द्र-ग्रहण लगनेवाला है। काशी में चन्द्र-ग्रहण का बड़ा माहात्म्य है! दूर-दूर से लोग गङ्गा-स्नान के लिये आते हैं। लाखों यात्रियों की भीड़ होती है। जसोदा का मकान गङ्गा-तट पर था। उसके मकान के बाहर पक्के ओसारे में कई दिन से एक परदेसी यात्री आके टिका हुआ है। यात्री युवा है, ग़रीब है। इस भीड़-भाड़ में काशी में कहीं ठहरने का ठिकाना नहीं मिला। जसोदा ने दया करके उसे अपने मकान के बाहर ओसारे में स्थान दे दिया है।

२

सन्ध्या-समय जमुना जब नहा-धोकर ऊपर छत पर टहलती थी, उस समय परदेसी ओसारे के बाहर चौतरे पर रोटियाँ ठोंकता था। जमुना देखती थी कि वह गोहरे से सुलगाये हुए, चूल्हे को फूँकते-फूँकते रोने लगता था। धूएँ से आँखें बहुत लाल हो जाती थीं। कभी-कभी हाथ जल जाने से, वह बहुत देर तक तड़फता था। जमुना ने एक रोज़ यह भी देखा कि उसकी दाल की बटुली उलट गई। अपना परिश्रम निष्फल देख, परदेसी का खिला चेहरा मुरझा गया। जमुना ने सोचा—"माता ने जहाँ इस परदेसी पर इतनी दया दिखाई है, वहाँ भोजन भी दे दिया करे, तो क्या हर्ज है।"

दिन भर की धूप से तपे हुए पक्के ओसारे की गच पर परदेसी रात को केवल एक दरी बिछाके सो रहता था—गरमी की ऊमस उसे विकल करने में और भी सहारा देती थी। जिस समय जमुना कई घड़े पानी से सींची हुई ठण्डी छत पर शीतलपाटी बिछा-कर सोती थी—चन्द्र की शीतल किरणें छत को धवलित करती थीं—ठण्डी हवा के झोंके चलते थे—उस समय वह उस दीन परदेसी के लिये बहुत चिन्ता करती थी।

मन में सोचती थी कि बिचारा इस समय गरमी की व्यथा से तड़प रहा होगा। ओसारे की तपती हुई पक्की गच से उसका शरीर जलता होगा। पीठ तपती होगी। ताड़ की टूटी पंखी, जो उसी ने दया करके उसके पास भेजवा दी थी, हाँकते-हाँकते अपने को ठण्डा करता होगा। अनजान विदेशी के गरम ओसारे में जमुना की शीतल कल्पना चक्कर मारने लगी। ठण्डी छत पर शीतल चन्द्रके नीचे जमुना का कलेजा गरमी के मारे जलने लगा। ठण्डी हवा में दोपहरिये की लू का अनुभव होने लगा।

जिस रात में युवतियाँ अपने प्रेमियों को गजरे पहिनाती हैं—नव-वधुएँ सैयाँ से मान करती हैं, जिस रात में रसिया बालम मानवती सुन्दरियों को मनाते-मनाते अपनी ओर खींच लेते हैं—वक्ष से लगा के हँसते हैं—हँसाते हैं, जिस रात में मुलायम बिछौना युवक-युवतियों की आनन्द-क्रीड़ा से कुचला जाता है, उसी रात में—उसी सुखमयी आनन्द-रजनी में—जमुना, एक पतली शीतलपाटी पर नक्षत्रों को गिनती हुई सवेरा कर देती थी।

३

सन्ध्या-समय दुर्गाजी के मन्दिर के प्रसाद में बेले की कलियों की जो माला जमुना लाई थी, इस समय वह उसके वक्ष पर पड़ी हुई है। उस समय सब कलियाँ थीं, इस समय रात्रि में एक कामिनी की मुलायम छाती पर आसीन होने के कारण प्रसन्न, सब-की-सब खिल-खिल, पड़ीं। सुगन्ध आने लगी। किन्तु अन्य युवतियों के सुख का ध्यान करते-करते जमुना ने उस माला को मींजके फेंक दिया। सारा संसार सुख से—निस्तब्ध रात्रि में विश्राम करता था। जमुना ने अनुमान किया कि परदेसी भी ओसारे में पंखा हाँकते-हाँकते सो गया होगा। आकाश में

अनगिनती तारिकायें हँस रही थीं। बादल के टुकड़ों में चन्द्र की लूक-लुकैया देखते-देखते जमुना ने परदेसी को एक बार देखने का विचार किया। गरमी की व्यथा से उसकी क्या दशा होगी, यही उसे देखने की इच्छा थी। सहसा उसके कान में एक मधुर रागिनी सुन पड़ी। उसे ऐसा जान पड़ा, मानो कोई उमङ्ग में मदमाती इस खिली हुई चाँदनी में जी खोलकर गा रहा है, जमुना उस गाने को सुनने लगी। गवैये की तान और गिटकिरी में गीत समझ नहीं पड़ता था। बहुत ध्यान देने पर समझ पड़ा—

"बेला फूले आधी रात, गजरा केकरे गरे डारूँ।
एक तो मैं बारी भोरी, मैं बारी भोरी, सैयाँ छाये परदेस,
गजरा केकरे गरे डारूँ॥"

बहुत काल की विस्मृति, सुख-स्मृति की नाईं वह मधुर गान जमुना के कानों में घुस गया। गवैया अपनी आन्तरिक उमङ्ग की मस्ती में गा रहा था। आनन्द की उछाह से गाया गया गीत उस निस्तब्ध चाँदनी रात में कोयल की सुन्दर कूक की तरह गूँज उठा। मस्ती से बजती हुई वीणा-झनकार की नाईं जमुना की हृत्-तन्त्री बज उठी।

वह उठके टहलने लगी। टहलते-टहलते मुँडेर के पास गई। उसे जान पड़ा कि नीचे ओसारे में कोई गा रहा है। उसने सोचा कि यह उसी परदेशी के कलकण्ठ की मधुर-ध्वनि है। जमुना मुग्ध होके सुनने लगी; सुनने ही नहीं लगी—साथ-साथ रोती भी गई।

अच्छा, जमुना क्यों रोई? गाने के एक-एक मर्म-बेधी शब्द उसके हृदय पर अविराम चोट मार रहे थे। जमुना ने अभी बेले की माला मींजकर फेंक दी थी। इसी बीच में उसे सुन पड़ा—बेला फूले आधी रात........इसी से उसका आन्तरिक पर्दा हिल उठा—नये साज़ से टूटे हुए दिल की आवाज़ निकलने लगी। जमुना रो पड़ी।

एक सुन्दरी नायिका, जिसका पति विदेश चला गया है,—आधी रात में जब बेले की माला फूली, तो उसकी मँहक से कमरा गूँज उठा—उद्‌भ्रान्त चित्त होके गाने लगी—"बेला फूले आधी रात गजरा केकरे गले डारूँ।"

सुगन्धित तेल और अम्बर में बसी हुई जवानी में मस्त युवती अपने पति-शून्य आनन्द-अभिसार में बैठी। पास खड़ी हुई बेले की माला फूल उठी। पति परदेश गया है, इस कारण दुःखी होके कहती है—"बेला फूले आधी रात········।"

अभी "सैयाँ" नहीं है, किन्तु आने पर उसके गले में माला अवश्य पड़ेगी। आज वह परदेस गया है, आने पर स्त्री अपने कर-कमलों से गजरा उसके कण्ठ में पहनाके प्यार करेगी, चाहे वह कल आवे चाहे दो महीने बाद—पर माला उसके गले में अवश्य पड़ेगी।

किन्तु जिसको कोई आशा नहीं, वह क्या करे? जहाँ सूर्य के प्रकाश में उज्ज्वलता नहीं है—चन्द्र की किरणों में शीतलता नहीं है—सुगन्धित कुसुम-पर भौंरा नहीं है—निर्मल नदी के जल में लहरों की टक्कर का एक न रुकनेवाला घोर अन्दोलन है—वहाँ क्या हो? तेल-रहित दीपक के समान जमुना क्या आशा करे? सब अपने सैयाँ को फूल चढ़ाएँगी—गजरे पहनायेंगी, पर जमुना अपनी प्रेम-पुष्पाञ्जलि किसे चढ़ावे? जिसका पति न कल आवेगा—न दो महीने बाद—न जीवन-पर्यन्त, वह किस आशा पर कहे—"सैयाँ गये परदेश गजरा केकरे गरे डारूँ···?"

चाँदनी के स्वच्छ प्रकाश में पृथ्वी, वृक्ष, लता, घास-पात, मकान-अटारी सभी हँसते-हँसते लोट रहे हैं, जमुना की हँसी किसने छीन ली?

कृष्ण पक्ष के तारों की ज्योति मन्द पड़ गई थी। टहाका खिली

हुई चाँदनी के हृदय में आनन्द का प्रादुर्भाव हो रहा था। परदेशी उसी आनन्द की उमंग में गा रहा था। उसके गान और तान दोनों में करुणा थी। आवाज़ में दर्द था। इसी से, जमुना के भी हृदय में दर्द होने लगा, आन्तरिक वीणा के ऋषभ, गन्धार और मध्यम स्वर से बजने लगा। जमुना हिचकियाँ ले-लेकर रोने लगी। गान बन्द हो गया। पर जमुना का करुण-क्रन्दन नहीं बन्द हुआ।

४

आज चन्द्रग्रहण का महान् पर्व है। बहुत-से मेवेवाले, चूरनवाले, और अन्य दुकानदार अपनी-अपनी दुकानों को साजे हैं। इन बिचारों का [illegible]यों से विशेष लाभ की सम्भावना है; इसी से अपनी-अपनी दुकानों को सब साज-साजके बैठे हैं। एक ओर बालक-बालिकागण चर्खियों में झूले का आनन्द ले रहे हैं।

बूढ़े, बच्चे, जवान सभी आये। हिन्दू-धर्म का सच्चा विश्वास दूर-दूर देशों—और गाँवों के कितने हज़ार मनुष्यों को खींच लाया था। ऐसा जान पड़ता था कि मानों अनन्त क़तार में ममुष्य-रूपी अनगिनती नद-नाले अपनी अन्यान्य सहायक धाराओं के साथ एक महासागर में मिलने जा रहे हैं। सब मनुष्यों का धर्म-विश्वास एक न रुकनेवाली सरिता की नाई उमड़ा हुआ था। चारों ओर से ध्वनि आरही थी—"गङ्गा माई की जय!"

लड़के, लड़की, जवान, बूढ़े सभी नर-नारी, विमल उज्ज्वल जल में स्नान कर, अक्षय पुण्य का सुख लूट रहे थे। पवित्रता की खान और प्यासों को बुझानेवाली गंगामाई भी स्वच्छ निर्मल जल से अपने बच्चों को नहला-नहलाकर पवित्र करने के लिये उत्सुकता से उछल रही थीं।

स्वयंसेवक और पुलिस का यथेष्ट प्रबन्ध था। कोई यात्री पद-दलित न होजाय, कोई बूढ़ा-बच्चा दबके मर न जाय, इसलिये चारों ओर अच्छा पहरा था।

शाम की नौबत झरी। 'गौरी' सहनाई बजी। डङ्के पर थाप पड़ने लगी। कुछ अँधेरा होते देखकर जसोदा ने कहा—"चल जमुना! हम भी स्नान कर आवें। ग्रहण लग गया।"

दोनों स्त्रियाँ धोती ले-लेके स्नान करने चलीं। जमुना को बाहर ओसारे में परदेसी नहीं देख पड़ा। उसने सोचा—यह हमसे पहिले नहाने चला गया है, इसी से नहीं देख पड़ा।

गङ्गाजी में गोता लगाते हुये जमुना ने देखा कि उसका परदेसी भी दूर पर खड़ा हुआ नहा रहा है। जमुना को परदेसी ने कभी देखा नहीं था। वह इसके सामने नहीं हुई थी। वह घर में थी। देखता कैसे? इसी देखने के लिये जमुना अब तक मरती थी। वह चाहती थी कि एक बार किसी भी दृष्टि से यह परदेसी उसकी ओर निहार दे। आज गङ्गाजी में उसकी यह तृष्णा बुझ गई। परदेसी उसकी ओर एक सामान्य—साधारण दृष्टि से देख, फिर नहाने लगा।

जीवन सफल होगया! इसी दृष्टि के लिये जमुना अब तक व्याकुल थी। पर प्रेम-शून्य दृष्टि से उसकी तृष्णा पूर्णतः नहीं बुझी।

५

रात के दस बज चुके हैं। जमुना खाके रोज़ की तरह आज भी ठंढी छत पर—शीतलपाटी बिछाके लेटी है। आज भी कलवाला गीत सुनने की उत्कट अभिलाषा है। ग्यारह बज गया, बारह, फिर एक बजा, दो भी

बज गये, पर अब तक गवैये की तान न सुन पड़ी। गवैया कहाँ गया, यह जानने के लिये वह नीचे झाँकने लगी।

पर सड़क पर क्या दिखेगा? परदेसी गवैया तो ओसारे में गाता था, इसलिये उसने एक बार उसे नीचे जाके देखने का विचार किया।

दबे-पाँव जमुना नीचे गई। अन्दर से, किवाड़ के झरोखे से, उसने देखा। देखा, ओसारे में कोई नहीं है—शून्य हृदय की नाईं खाली ओसारा भाँय-भाँय कर रहा है। क्षण-भर अन्धकार में परदेसी की कल्पना करते-करते—शून्य स्नेह-सम्पन्न प्रेम-मूर्ति का आवाहन करते-करते जमुना वहीं सिर थामके बैठ गई।

आशा का भी क्या प्रबल प्रताप है! मनुष्य को कभी निराशा नहीं होती। इसका पग सदा आगे चलता है। तुरन्त फाँसी पर लटकाये जाने-वाले मनुष्य को छूट जाने की आशा बनी रहती है—सम्भव है, न्याया-धीश अब भी दया करके उसे टिकटी पर से उतरवाने की आज्ञा दे दे। इसी तरह दुःख में सदा सुख की आशा बनी रहती है। वही सुखमयी आशा, इस समय कोयल बनके दुखिया जमुना के हृदयमें कूकने लगी। उसने आशा की;—सोचा, सम्भव है, परदेशी कहीं चला गया हो—प्रभात में आजाय। गाँव की कल्पना कर, दुखिया जमुना क्षण-भर को सुखी हो गई।

थोड़ी देर के बाद फिर कोठे पर गई। चन्द्रदेव चमक रहे थे। उस उज्वल चाँदनी में गर्म उच्छ्‌वास फेंकती हुई जमुना आकाश की ओर निहारने लगी। बादलों में से तेज़ी के साथ जाते हुए चन्द्रदेव को देखते-देखते जमुना सो गई।

सबेरा हुआ। जमुना उन्मत्त की नाईं ओसारे में गई। उसने देखा, ओसारा सूनसान पड़ा है!

* * * *

सप्ताह, महीने और वर्ष बीत गये। पर फिर परदेशी नहीं देख पड़ा। फिर वह—"बेला फूले आधी रात गजरा केकरे गरे डारूँ"—वाली मधुर तान नहीं सुन पड़ी।

चाँदनी रात में छत पर लेटे-लेटे जमुना आज भी उसी तान का अनुभव करती है। आज भी परदेशी के कलकंठ की मनोहर ध्वनि उसे अपने हृदयाकाश में गूँजती हुई मालूम होती है। परदे पर उँगली फेरने के समान आज भी उसके आन्तरिक तार झनझना उठते हैं—सरगम के पंचम स्वर में कंठ-वीणा उसी कारुणिक स्वर में बजती है—"सैयाँ गये परदेश गजरा केकरे गरे डारूँ।" जमुना हँसती है—रोती है!

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक

जन्मकाल १९४८ वि०

रचनाकाल १९१३ ई०

वह प्रतिमा

स्मृति—वह मर्म-स्पर्शी स्मृति, जो हृदय-पृष्ठ पर करुणोत्पादक भावों की उस पक्की और गहरी-स्याही से अंकित की गई है, जिसका मिटना इस जन्म में कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव है। आह! वह स्मृति कष्ट-दायिनी होने पर भी कितनी मधुर और प्रिय है! उस स्मृति से हृदय जला जाता है, तन-मन राख हुआ जाता है, फिर भी उसे मिटाने की चेष्टा करने को जी नहीं चाहता। वह स्मृति वह मीठी छुरी है जिसकी तेज़ धार से हृदय लहू-लुहान हो रहा है; परन्तु उसमें वह मधुरता है, वह मिठास है कि, उसे कलेजे से दूर करने को जी नहीं चाहता। क्यों? इसलिये कि वह उस प्रेम-प्रतिमा की स्मृति है, जिस के प्रेम के मूल्य को, जिसकी कर्त्तव्यशीलता की गहराई को मैं उस समय समझा, जब वह मुझसे सदैव के लिये बिछुड़कर मृत्यु के परदे में अदृश्य हो रही थी। उस प्रेम की पुतली का असली रूप मैंने उस समय देखा जब मृत्यु के यवनिका के बन्धन खुल चुके थे, और वह धीरे-धीरे हम

दोनों के बीच गिर रही थी। उसका असली जाज्वल्यमान स्वरूप देखकर मेरी आँखें झपक गईं, और फिर उस समय खुलीं, जब निष्ठुर यवनिका उसे अपनी ओट में छिपा चुकी थी।

* * * *

मेरा विवाह उस समय हुआ था, जब मेरी आयु १६ वर्ष की थी। विवाह के दो ही वर्ष बाद गौना भी हो गया था। मेरी स्त्री चमेली साधारण सुन्दरी और कुछ पढ़ी-लिखी भी थी। अधिक सुन्दरी न होने पर भी उसमें दो-एक ऐसी बातें थीं, जो हृदय को अपनी ओर उसी प्रकार खींचती थीं, जिस प्रकार सौन्दर्य खींच सकता है। वे बातें क्या थीं? आह! उनकी याद आने पर आज भी कलेजे में हूक उठती है। सच तो यह है कि केवल उन हाव-भावों पर ही कोई भी हृदय अनुपम सौन्दर्य को न्यौछावर कर सकता है। वे बातें थीं—उसकी लजीली आँखें, उसकी मन्द मुसकान। उसका लजाकर मन्द मुस्कान के साथ आँखें नीची कर लेना बड़े-से-बड़े सौन्दर्य का रङ्ग फीका कर देता था। गौना होने के पश्चात् तीन-चार वर्ष तक हम दोनों के दिन बड़े सुख से कटे। इस बीच में दो सन्तानें भी हुईं। उनमें एक पुत्र अभी तक जीवित है। एक कन्या हुई थी। वह कुछ ही महीनों बाद मर गई। कन्या उत्पन्न होने के पश्चात् हमारे सुखमय जीवन पर पाला पड़ गया। विधाता से इन दोनों का वह जीवन, जिसमें किसी प्रकार के भी दुःख का लेश-मात्र न था, सीधी आँखों न देखा गया। परिणाम यह हुआ कि चमेली रोग-ग्रस्त हो गई। न जाने किस अशुभ-घड़ी में रोग का आगमन हुआ कि उसने प्राण लेकर ही छोड़ा। रोग था राजयक्ष्मा। यह वह रोग

हैं, जो मनुष्य को घुला-घुलाकर मारता है। इस रोग में मनुष्य बरसों तक जीवित रहता है, पर स्वस्थ एक क्षण के लिये भी नहीं होता। यही हाल चमेली का भी हुआ। यद्यपि रोग-ग्रस्त होने के पश्चात् वह छः सात वर्ष तक जीवित रही, परन्तु स्वस्थ पूरे एक महीने भी न रही। कभी-कभी ऐसी दशा हो जाती थी कि सरसरी दृष्टि से देखने पर कोई रोग न मालूम होता था; पर तब भी उसका जी उदास रहता था। किसी काम में उसका जी न लगता था। केवल इन्हीं बातों से पता चलता था कि रोग ने उस पर से अपना अधिकार नहीं उठाया है।

एक वर्ष तक तो मैं उसकी दशा पर बड़ा चिन्तित रहा। दवा, दारू भी खूब की। परन्तु इसके पश्चात् मेरा जी कुछ ऐसा ऊब उठा कि मैंने उसे ईश्वर के भरोसे पर छोड़ दिया। साधारणरूप से चिकित्सा होने के अतिरिक्त और कोई विशेष चेष्टा न की।

चिकित्सकों से मुझे यह मालूम हुआ था कि राजयक्ष्मा बड़ा संक्रामक रोग है। अतएव आप भी उसी रोग से ग्रस्त हो जाने के भय से मैंने उसके पास बैठना-उठना भी कम कर दिया था। इसके अतिरिक्त एक यह भी कारण था कि उसका कान्ति-हीन मुख और दुबला-पतला शरीर देखकर मेरा हृदय दुःखित होता था, और सच तो यह है कि कुछ ग्लानि भी होती थी। मेरे परिवार में मेरी माता और दो छोटी भावजें थीं। इस कारण गृहस्थ-सम्बन्धी सब काम वे ही करती थीं। यह भी एक कारण था कि, जिससे मुझे उससे अधिक सम्पर्क रखने की आवश्यकता न पड़ती थी। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक उससे मेरी बात-चीत तक न होती थी। मेरी इस उदासीनता को चमेली भी जानती थी; पर उसके सम्बन्ध में उसने मुझसे कभी शिकायत नहीं की।

२

इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत हो गया। इन दिनों मेरी चित्त-वृत्ति बिलकुल बदल गई थी। अब मुझे घर में एक क्षण रहना भी कष्टदायक मालूम होता था। जबतक बाहर रहता, चित्त प्रसन्न रहता था; परन्तु घर में आते ही चित्त उदास और खिन्न हो जाता था। इसलिये दिन में केवल दो-तीन घण्टे घर में रहता था, और उधर रात को दस-ग्यारह बजे के पहले घर न लौटता था। मुझे नशेबाजी इत्यादि दुर्गुणों और दुर्व्यसनों की भी लत पड़ गई थी; क्योंकि मेरा हृदय सदैव आनन्द और प्रसन्नता के लिये लालायित रहता था। इन दुर्व्यसनों में मुझे आनन्द मिलता था।

एक दिन मैं दोपहर में बैठा हुआ उपन्यास पढ़ रहा था। सहसा किसी के आने की आहट पाकर मैंने सिर उठाया। सामने चमेली को देखकर कुछ सिटपिटा गया; क्योंकि मैं उससे सदैव अलग-अलग रहने की चेष्टा किया करता था। मैंने शिष्टाचार के नाते चमेली से कहा—"आओ बैठो, कहो अब जी कैसा रहता है?"

चमेली मेरे सामने बैठ गई, और उदास स्वर में बोली—"जैसा है, वैसा ही रहता है।"

मैं—"आख़िर कुछ मालूम तो हो, पहले से कुछ अच्छा है, या कुछ......?"

चमेली—"अच्छा तो क्या, किसी-न-किसी प्रकार जी रही हूँ। जीवन के जितने दिन हैं, वे तो किसी-न-किसी प्रकार पूरे ही करने पड़ेंगे।"

मैं कुछ कहने के अभिप्राय से बोला—"हाँ यह तो ठीक ही है। क्या कहें, इतनी दवा-दारू हुई और हो रही है, पर अभी तक कुछ भी फ़ायदा न हुआ।"

चमेली इस बात पर ध्यान न देकर बोली—"आज बीस दिन बाद तुमसे बात-चीत करने का अवसर मिला है।"

मैं—"बीस दिन! अभी आठ-दस दिन हुए, जब मैं तुमसे मिला था।"

चमेली—"तुम्हें बीस दिन आठ-दस दिन ही समझ पड़ते हैं; पर मेरे लिये तो बीस दिन बीस ही दिन हैं।"

मैंने कुछ लज्जित होकर कहा—"सम्भव है, बीस दिन हो गये हों। जब से तुम बीमार रहने लगीं, तब से मिलने-जुलने का सुयोग ही नहीं लगता।"

चमेली—"सुयोग तो तब लगे, जब सुयोग के लिये कुछ चेष्टा की जाय।"

मेरा हृदय धड़कने लगा! अन्तःकरण पर कुछ चोट-सी लगी; क्योंकि चमेली की इस बात में सत्यता का बहुत कुछ अंश था।

मैंने उपन्यास के पृष्ठ उलटते हुए कहा—"माता इत्यादि के रहते हुए इस प्रकार की चेष्टा करना कुछ भद्दा-सा मालूम होता है।"

कहने को तो यह बात कह गया, परन्तु मुझे ख़ुद यह बात बेतुकी-सी मालूम हुई; क्योंकि एक वह समय भी था, जब माता इत्यादि के रहते हुए भी मैं जितनी बार चाहता था, चमेली से मिलने का सुअवसर उत्पन्न कर ही लेता था।

चमेली ने भी यही बात कही। वह बोली—"मेरे बीमार होने के पहले भी तो माता और भौजाइयाँ थीं।"

इसका उत्तर मैं कुछ न दे सका। मुझे चमेली का बैठना बुरा मालूम हुआ। मैं मन-ही-मन ईश्वर से प्रार्थना करने लगा कि कोई कारण ऐसा उत्पन्न हो जाय, जिससे चमेली मेरे पास से उठ जाय। आह! कैसा

विकट परिवर्तन था। जिस चमेली के दर्शनों के लिये मैं मकान के कोने और कोठरियों में छिपा खड़ा रहता था, उसी चमेली का पास बैठना आज मुझे बुरा मालूम हो रहा था!

चमेली कुछ देर तक चुप रहकर बोली—"लज्जित क्यों होते हो? लज्जित होने का कोई कारण नहीं। मैं इस बात से ज़रा भी रुष्ट नहीं हूँ। मैं जानती हूँ कि मुझ में अब ऐसा कोई आकर्षण नहीं रहा, जो तुम्हें मेरे पास आने के लिये विवश करे।"

मैंने विकल होकर कहा—"आज तुम्हें यह क्या सूझा है, जो वाहियात बातें मुँह से निकाल रही हो?"

चमेली एक लम्बी साँस लेकर बोली—"वाहियात बातें नहीं, सच्ची बातें हैं। मुझे कोई शिकायत नहीं, पर कुछ दुःख अवश्य है। तुम्हें यह ध्यान रखना चाहिये कि सब का जी तुम्हारा-सा नहीं है।"

मैंने कुछ रुष्ट होकर कहा—"देखो चमेली, यदि तुम ऐसी निरर्थक बातें करोगी, तो मैं उठकर चला जाऊँगा।"

चमेली के नेत्रों में आँसू छलछला आये—उन्हीं नेत्रों में, जिन्हें देखकर मैं कभी मतवाला होजाता था। परन्तु आज, उन नेत्रों को अश्रु-पूर्ण देखकर मेरा हृदय पसीजा तक नहीं।

चमेली ने कहा—"यदि तुम्हें ये बातें बुरी मालूम होती हैं, तो न कहूँगी। हाँ यदि तुम एक बात मानने का वचन दो, तो कहूँ।"

मैं—"कौन-सी बात?"

चमेली—"मानोगे?"

मैं—"यदि मानने योग्य होगी।"

चमेली—"तुम दूसरा विवाह कर लो।"

मैं चौंक पड़ा। ऐं—दूसरा विवाह ! और चमेली खुद उसका प्रस्ताव करे ! मैंने कुछ देर तक चुप रहकर कहा—"तुम ऐसा क्यों कहती हो ?"

चमेली—"इसलिये कि तुम्हें उसकी आवश्यकता है। मैं तो इस योग्य ही नहीं रही कि आपकी कुछ सेवा कर सकूँ। इसीलिये दूसरा विवाह कर लेना ठीक है। मेरे लिये तुम अपने जीवन को दुःखमय क्यों बना रहे हो ? इससे मुझे भी बड़ा दुःख है। मैं तुम्हें उदास और चिन्तित देखती हूँ। मुझे यह भी मालूम है कि तुम किसी दिन भी रात को बारह बजे के पहले घर नहीं लौटते। मैं यह जानती हूँ कि घर में तुम्हारा जी नहीं लगता। इन सब बातों का कारण भी मैं जानती हूँ। मैं रात-दिन ईश्वर से यही प्रार्थना किया करती हूँ कि वह मुझे शीघ्र उठा लें, और तुम विवाह करने के लिये स्वतन्त्र हो जाओ। परन्तु मेरी प्रार्थना जल्दी स्वीकार होती दिखाई नहीं पड़ती, इसलिये मैं यह चाहती हूँ कि तुम विवाह कर डालो।"

चमेली की इस बात ने मुझे चिन्ता-सागर में डाल दिया। कई बार मेरे हृदय में भी यही विचार उत्पन्न हुआ था कि यदि चमेली आरोग्य नहीं होती, तो मर ही जाय, और मुझे दूसरा विवाह करने की स्वतन्त्रता मिल जाय। ओफ़् ! मैं नहीं समझता कि मेरे हृदय में यह विचार कैसे आता था। जिस चमेली का सिर कुछ दुखने से ही मुझे अत्यन्त कष्ट पहुँचता था, उसी चमेली का मरना मैं मनाता था ! सच तो यह है कि इन्हीं बातों के प्रायश्चित्त-स्वरूप आज घोर मानसिक क्लेश भोग रहा हूँ।

मैंने कहा—"नहीं, मैं विवाह न करूँगा। तुम्हारे रहते मैं विवाह करूँ, ऐसा कभी संभव हो सकता है ?"

चमेली—"हानि ही क्या है ? जब मैं इस में राज़ी हूँ, तब तुम क्यों हिचकते हो ?"

इच्छा न रहने पर भी मेरे मुँह से सच्ची बात निकल गई। मैंने कहा—"मैं यदि विवाह करने के लिये तैयार भी हो जाऊँ, तो माता और भाई साहब इसे कब स्वीकार करेंगे?"

चमेली—"मैं जब कहूँगी, तो स्वीकार कर लेंगे।"

मैं—"ईश्वर के लिये कहीं ऐसा कर भी न बैठना, नहीं माताजी तो मुझे खा जायँगी। तुम इस फेर में मत पड़ो; मैं विवाह-इवाह कुछ न करूँगा।"

चमेली—"मेरे पीछे तुम दुःख क्यों उठाते हो?"

मैं—"मुझे कोई दुःख नहीं। केवल तुम्हारी बीमारी और कष्ट से अवश्य दुःख होता है; पर उसके लिये क्या किया जाय? ईश्वर ही को मंजूर है कि हमें यह दुःख हो।"

चमेली ने इस पर कुछ नहीं कहा, और थोड़ी देर के बाद वह मेरे पास से उठकर चली गई।

३

एक वर्ष और व्यतीत हुआ। चमेली की वही दशा थी। न तो रोग-मुक्त होती दिखाई पड़ती थी, और न जीवन-मुक्त। कभी-कभी मुझे उस पर बड़ा तरस आता था। कारण, मृत्यु की प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त उसके लिये संसार में कोई और काम ही न था। संसार में कोई वस्तु ऐसी न थी, जो उसका मनोरंजन कर सकती। परन्तु इतना होते हुए भी उसका लक्ष्य मेरे सुख-दुःख की ओर विशेष रहता था। वह सदैव मेरे ही सुख-दुःख का ध्यान रखती थी। वह मेरे अलग-अलग रहने पर भी मुझे प्रसन्न और सुखी रखने की चिन्ता में रहती थी। यद्यपि उसका शारीरिक सौंदर्य नष्ट हो गया था, परन्तु हार्दिक सौंदर्य वैसा

ही बना हुआ था; बल्कि पहले की अपेक्षा भी कुछ बढ़ ही गया था। यद्यपि वह पुष्प मुरझा गया था, सूख गया था, परन्तु वह गुलाब का पुष्प था, कि जो सूख जाने पर भी अपनी सुगन्ध नहीं छोड़ता। इसके प्रतिकूल मेरे हृदय में कितना गहरा परिवर्तन हो गया था! मेरा हृदय-भ्रमर उस पुष्प की सुगन्ध की ज़रा भी पर्वाह नहीं करता था। भ्रमर को सुगन्ध से क्या सरोकार? वह तो केवल रस चाहता है। सुगन्ध होते हुये भी वह नीरस पुष्प के पास नहीं फटकता।

एक दिन मैंने अपने पुत्र ज्ञानू को, जिसकी उम्र उस समय सात वर्ष की थी, किसी साधारण अपराध पर पीट दिया। वह रोता हुआ अपनी माँ के पास गया। केवल इसी बात पर चमेली ने दूसरे दिन मुझ से कहा—"कल तुमने ज्ञानू को बड़ी बुरी तरह मारा।"

मैंने कहा—"उसने काम ही मार खाने का किया था।"

चमेली आँखों में आँसू भरके बोली—"उसे मारा न करो।"

मैंने कहा—"क्यों?"

चमेली—"मुझे बड़ा दुःख होता है।"

मुझे उसकी इस बात पर कुछ हँसी आई। सभी बच्चे कुछ-न-कुछ मारे-पीटे जाते हैं। इसमें इतना दुख अनुभव करने की क्या आवश्यकता? मैंने चमेली से कहा—"अपराध करने पर तो ताड़ना की ही जाती है। इसमें तुम्हारा इतना दुःख मानना बिल्कुल निरर्थक है।"

चमेली—"मेरे इतना दुःख मानने का कारण है।"

मैं—"क्या कारण?"

चमेली—"वह बिन माँ का है!"

मैं हतबुद्धि होकर बोला—"बिन माँ का है?"

चमेली—"हाँ, मैं ऐसा ही समझती हूँ। मेरे जीवन का क्या

भरोसा ? मैं अपने को मरा हुआ ही मानती हूँ और इसी कारण उसे मातृ-हीन समझती हूँ। यही कारण है, कि जब उसे कोई कुछ कहता-सुनता है, जब कभी तुम मारते-पीटते हो, तब आकर वह मेरी छाती से लग जाता है। मैं उसे हृदय से लगाकर, चुमकार-पुचकारकर शान्त कर देती हूँ। पर मेरे पीछे वह किसके पास जायगा, किसके आँचल में मुँह छिपाकर बैठेगा ? कौन उसे प्यार करके प्रसन्न करेगा ? इसीलिये कहती हूँ, कि तुम उसे कुछ न कहा करो।"

चमेली की इस करुण प्रार्थना से कुछ क्षण के लिये मेरा हृदय थर्रा गया। उसके इन शब्दों में न-जाने कितनी प्रबल शक्ति थी, कि उसने मेरे पाषाण-हृदय को भी ठेस पहुँचाई। मैंने कहा—"अच्छा, अब जहाँ तक हो सकेगा, उसे कुछ न कहा करूँगा।"

* * * *

चमेली का अन्त समय निकट था। एक महीना हुआ, उसने चारपाई की शरण ली थी। तब से उसकी दशा दिन-प्रति-दिन बिगड़ती ही गई। वह जिस दिन रात को इस संसार से सदैव के लिये बिदा होनेवाली थी, उसी दिन उसने दोपहर को मुझे अपने पास बुलवाया। मैं उसके पास पहुँचा। मुझे यह तो मालूम था, कि अब चमेली थोड़े ही दिनों की मेहमान है, पर स्वप्न में भी यह खयाल न आया था, कि यही दिन उसका अन्तिम दिन है। मैं उसके पास बैठ गया, और पूछा—"इस समय कैसा जी है ?"

चमेली कुछ मुस्कुराई और बोली—"अब जी बहुत अच्छा है।"

मैंने कहा—"बहुत अच्छा तो क्या होगा ?"

चमेली—"मेरा चित्त इस समय जितना प्रसन्न है, उतना कभी नहीं रहा।"

मैं—"यह तो तुम्हारी बातें हैं।"

चमेली—"नहीं, मैं सच कहती हूँ।"

मैंने चमेली के मुख को ध्यानपूर्वक देखा। आज छः वर्ष पश्चात् मुझे उसकी आँखों में, उसके मुख पर, वही सौन्दर्य दिखाई पड़ा, जो छः वर्ष पूर्व था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, कि चमेली को कोई रोग ही नहीं; वह बिल्कुल स्वस्थ है। न-जाने उस दिन मेरे हृदय में उसके प्रति पहले का-सा प्रेम क्यों उत्पन्न हो गया। छः वर्ष पश्चात् मैंने बड़े प्रेमपूर्वक उसके सिर पर हाथ फेरकर कहा—"जो तुम्हारी तबियत ऐसी ही रही, तो दो-चार दिन में तुम बिल्कुल स्वस्थ हो जाओगी।" मेरा प्रेम-व्यवहार देखकर चमेली ने मन्द-मुस्कान के साथ शरमाकर अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेर ली। मैं विकल हो गया। वही शरमीली दृष्टि—वही मन्द मुसकान! मैंने अपने मन में कहा—चमेली के सौन्दर्य में तो ज़रा भी अन्तर नहीं आया। क्या मैं इतने दिनों तक अन्धा रहा, जो यह बात न देख सका? ओफ़्! मैंने कितना घोर अनर्थ किया, जो इसकी ओर से इतना उदासीन हो गया। मुझे क्या हो गया था? मैं इसे इतने दिन कैसे और क्यों ठुकराये रहा? इसमें कौन-सा ऐसा बुरा परिवर्तन हो गया था, जिसके कारण मैं इससे इतने दिनों घृणा करता रहा? मैं इस रत्न को छोड़कर इधर-उधर काँच के टुकड़ों से कैसे आनन्द का अनुभव करता रहा? इसलिये कि यह रोग-ग्रस्त थी? छिः-छिः! कितनी पाशविकता हुई! मैं यदि उसी प्रकार चेष्टा करता रहता, तो बहुत सम्भव है, यह अब तक कभी की रोग-मुक्त हो गई होती। इसे रोग-ग्रस्त और इतने कष्ट में छोड़कर मैं अकेला केवल अपने ही लिये, आनन्द और सुख की खोज में कैसे घूमता रहा? यदि यह दुखी थी, तो मुझे इसका दुःख बटाना चाहिये था, न-कि इसको इस दशा में छोड़कर अकेले सुख-भोग करना। ओफ़्!

कितना अनर्थ हुआ ! इसने इन सब बातों को जानकर भी कोई शिकायत नहीं की, उलटे यह सदैव मुझे प्रसन्न और सुखी रखने की चिन्ता करती रहती। यहाँ तक कि केवल मुझे सुखी करने के लिये इसने मेरा दूसरा विवाह कराने की भी चेष्टा की। आह ! मेरे और इसके व्यवहार में आकाश-पाताल का अन्तर रहा। ओफ् ! मैंने बड़ा पाप किया। न-जाने इस पाप से कैसे मुक्त हो सकूँगा !

चमेली ने मुझे विचार-सागर में निमग्न देखकर पूछा—"क्या सोच रहे हो ?"

मैं—"कुछ नहीं।"

चमेली—"मैंने कुछ कहने के लिये बुलाया था।"

मैं—"कहो, क्या कहती हो ?"

चमेली—"मेरे कारण तुम्हें बड़ा कष्ट मिला। मैं तुम्हारे सुख-मार्ग का काँटा रही। मेरे भाग्य में तो विधाता ने सुख लिखा ही नहीं था। जितना लिखा था, वह भोगा, और वह स्वप्न में वैकुण्ठ मिलने की तरह था। परन्तु मैं तुम्हारा सुख नष्ट करने का कारण रही। अब मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है, कि मैं तुम्हारे सुख-मार्ग से अलग हुई जाती हूँ। अब तुम संसार में सुख भोगने के लिये स्वतन्त्र······।"

मैं आगे कुछ न सुन सका। मैंने बेचैन होकर कहा—"चमेली, यह तुम क्या बक रही हो ? तुम्हारे बिना मुझे स्वर्ग में भी सुख नहीं मिल सकता। ईश्वर न करे······।"

चमेली कुछ विस्मित होकर बोली—"नाथ, अब लोकाचार दिखाने का समय नहीं है। यह कपट-वेष छोड़ो, और जो मैं कहती हूँ, उसे सुनो।"

मैं अत्यन्त दुःखित होकर बोला—"चमेली, मैं बड़ा अधम हूँ, बड़ा नीच हूँ। इसमें सन्देह नहीं, कि एक घण्टा पहले तक मैं कपट-वेष धारण किये हुए था; परन्तु ईश्वर साक्षी है, इस समय मैं अपने पिछले शुष्क व्यवहार पर अत्यन्त लज्जित हूँ। मैंने जो कुछ किया, उसका प्रायश्चित्त यदि ये प्राण देकर हो सके, तो मैं करने को तैयार हूँ। मैं अंधा हो गया था। मैं नहीं जानता, मुझे इस बात पर आश्चर्य है, कि मैंने कैसे तुमसे यह दुर्व्यवहार किया।"

इतना कहते-कहते मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। मेरी हिचकी बँध गई। चमेली की आँखों से भी आँसुओं की धारा बहने लगी।

कुछ देर बाद उसने कहा—"यदि यह बात तुमने आज से कुछ दिनों पहले कही होती, तो कदाचित् मैं जीवित रहने की चेष्टा करती; परन्तु अब कुछ नहीं हो सकता।"

मैं चौंक पड़ा। मेरी आँखों के आगे अँधेरा आने लगा। मैंने चमेली का सिर अपनी गोद में रखकर कहा—"नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। ऐसे समय में, जब मैं अपनी भूल पर पश्चात्ताप कर रहा हूँ, उसका प्रायश्चित्त करने के लिये तैयार हूँ, जब तुम मुझे संसार की समस्त मूल्यवान् चीज़ों से प्रिय हो गई हो, तब मुझे छोड़कर जाना चाहती हो? नहीं प्रियतमे, ऐसा कभी नहीं हो सकता!"

चमेली एक आह भरकर बोली—"तुम्हारी इन बातों से मुझे मृत्यु से भय मालूम होता है। हृदय में जीने की उत्कट लालसा उत्पन्न होती है। अभी तक मैं प्रसन्नतापूर्वक मरने को तैयार थी; परन्तु अब तुम्हारी बातों से मुझे मरना दुखदायी प्रतीत हो रहा है। नाथ, मेरा अन्त समय दुखदाई न बनाओ! मुझे इस प्रकार मरने में कष्ट होगा। तुम यही कहो, कि मैं तुमसे घृणा करता हूँ। उसी प्रकार उदासीन भाव रक्खो।

मुझे विश्वास दिला दो, कि तुम्हें मेरे मरने से प्रसन्नता होगी, सुख होगा, जिससे मुझे मृत्यु से भय न हो, मैं प्रसन्नतापूर्वक मरूँ।"

दुःख और पश्चात्ताप से मेरा कंठ रुँध गया। मैं उसकी बात का कोई उत्तर न दे सका। चमेली ने कहा—"इस अन्त समय में मैं केवल एक भिक्षा तुमसे माँगती हूँ।"

मैंने बड़ी कठिनता से कहा—"क्या?"

चमेली—"मेरे ज्ञानू को कभी कुछ न कहना!"

इतना कहकर चमेली बेहोश हो गई, फिर उसे अन्तिम श्वास तक होश न आया।

ताई

१

"ताऊजी, हमें लेलगाली (रेलगाड़ी) ला दोगे?"—कहता हुआ एक पञ्चवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौड़ा।

बाबू साहब ने दोनों बाहें फैलाकर कहा—"हाँ, बेटा ला देंगे।"

उनके इतना कहते-कहते बालक उनके निकट आ गया। उन्होंने बालक को गोद में उठा लिया, और उसका मुख चूमकर बोले—"क्या करेगा रेलगाड़ी?"

बालक बोला—"उसमें बैठकर बड़ी दूर जायँगे। हम भी जायँगे, चुन्नी को भी ले जायँगे। बाबूजी को नहीं ले जायँगे। हमें रेलगाड़ी नहीं ला देते। ताऊजी तुम ला दोगे, तो तुम्हें ले जायँगे।"

बाबू—"और किसे ले जायगा?"

बालक दम-भर सोचकर बोला—"बछ, और किसी को नही ले जायँगे।"

पास ही बाबू रामजीदास की अर्द्धाङ्गिनी बैठी थीं। बाबू साहब ने उनकी ओर इशारा करके कहा--"और अपनी ताई को नही लेजायगा?"

बालक कुछ देर तक अपनी ताई की ओर देखता रहा। ताईजी उस समय कुछ चिढ़ी हुई सी बैठी थीं। बालक को उनके मुख का यह भाव अच्छा न लगा। अतएव वह बोला—"ताई को नहीं ले जायँगे।"

ताईजी सुपारी काटती हुई बोलीं—"अपने ताऊ को ही लेजा! मेरे ऊपर दया रख!

ताई ने यह बात बड़ी रुखाई के साथ कही। बालक ताई के शुष्क व्यवहार को तुरन्त ताड़ गया। बाबू साहब ने पूछा—"ताई को क्यों नहीं ले जायगा?"

बालक--"ताई हमें प्याल (प्यार) नहीं करती।"

बाबू--"जो प्यार करे तो ले जायगा?"

बालक को इसमें कुछ सन्देह था। ताई का भाव देखकर उसे यह आशा नहीं थी कि वह प्यार करेगी। इससे बालक मौन रहा।

बाबू साहब ने फिर पूछा—"क्यों रे, बोलता नहीं? ताई प्यार करे तो, रेल पर बिठाकर ले जायगा?"

बालक ने ताऊजी को प्रसन्न करने के लिये केवल सिर हिलाकर स्वीकार कर लिया; परन्तु मुख से कुछ नहीं कहा।

बाबू साहब उसे अपनी अर्द्धाङ्गिनी के पास लेजाकर उनसे बोले—"लो, इसे प्यार करलो, यह तुम्हें भी ले जायगा।" परन्तु बच्चे की ताई श्रीमती रामेश्वरी को पति की यह चुहुलबाज़ी अच्छी न लगी। वह तुनककर बोलीं—"तुम्हीं रेल पर बैठकर जाओ, मुझे नहीं जाना है।"

बाबू साहब ने रामेश्वरी की बात पर ध्यान नहीं दिया। बच्चे को

उनकी गोद में बिठाने की चेष्टा करते हुये बोले—"प्यार नहीं करोगी, तो फिर रैल में नहीं बिठावेगा।—क्यों रे मनोहर?"

मनोहर ने ताऊ की बात का उत्तर नहीं दिया। उधर ताई ने मनोहर को अपनी गोद से ढकेल दिया। मनोहर नीचे गिर पड़ा। शरीर में चोट नहीं लगी; पर हृदय में चोट लगी। बालक रो पड़ा।

बाबू साहब ने बालक को गोद में उठा लिया, चुमकार-पुचकारकर चुप किया, और तत्पश्चात् उसे कुछ पैसे तथा रैलगाड़ी ला देने का वचन देकर छोड़ दिया। बालक मनोहर भयपूर्ण दृष्टि से अपनी ताई की ओर ताकता हुआ उस स्थान से चला गया।

मनोहर के चले जाने पर बाबू रामजीदास रामेश्वरी से बोले—"तुम्हारा कैसा व्यवहार है? बच्चे को ढकेल दिया! जो उसके चोट लग जाती तो?"

रामेश्वरी मुँह लटकाकर बोलीं—"लग जाती, तो अच्छा होता। क्यों मेरी खोपड़ी पर लादे देते थे। आप ही तो उसे मेरे ऊपर डालते थे, और अब आप ही ऐसी बातें करते हैं।"

बाबू साहब कुढ़कर बोले—"इसी को खोपड़ी पर लादना कहते हैं?"

रामेश्वरी—"और नही किसे कहते हैं? तुम्हें तो अपने आगे और किसी का दुःसुख सूझता ही नहीं। न-जाने कब किसका जी कैसा होता है। तुम्हें इन बातों की कुछ परवाह ही नहीं, अपनी चुहुल से काम है।"

बाबू—"बच्चों की प्यारी-प्यारी बातें सुनकर तो चाहे जैसा जी हो प्रसन्न हो जाता है। मगर तुम्हारा हृदय न-जाने किस धातु का बना हुआ है!"

रामेश्वरी—"तुम्हारा हो जाता होगा। और होने को होता भी है; मगर वैसा बच्चा भी तो हो! पराये धन से भी कहीं घर भरता है?"

बाबू साहब कुछ देर चुप रहकर बोले—"यदि अपना सगा भतीजा भी पराया धन कहा जा सकता है, तो फिर मैं नहीं समझता कि अपना धन किसे कहेंगे?"

रामेश्वरी कुछ उत्तेजित होकर बोलीं—"बातें बनाना बहुत आता है। तुम्हारा भतीजा है, तुम चाहे जो समझो; पर मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। हमारे भाग ही फूटे हैं। नहीं तो ये दिन काहे को देखने पड़ते। तुम्हारा चलन तो दुनिया से निराला है। आदमी सन्तान के लिये न-जाने क्या क्या करते हैं—पूजा-पाठ कराते हैं, व्रत रखते हैं, पर तुम्हें इन बातों से क्या काम? रात-दिन भाई-भतीजों में मगन रहते हो?"

बाबू साहब के मुख पर घृणा का भाव झलक आया। उन्होंने कहा—"पूजा-पाठ-व्रत सब ढकोसला है। जो वस्तु भाग्य में नहीं, वह पूजा-पाठ से कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मेरा यह अटल विश्वास है।"

श्रीमतीजी कुछ रुआसे स्वर में बोलीं—"इसी विश्वास ने तो सब चौपट कर रक्खा है! ऐसे ही विश्वास पर सब बैठ जाँय, तो काम कैसे चले? सब विश्वास पर ही बैठे रहें, आदमी काहे को किसी बात के लिये चेष्टा करे?"

बाबू साहब ने सोचा कि मूर्ख स्त्री के मुँह लगना ठीक नहीं। अतएव वह स्त्री की बात का कुछ उत्तर न देकर वहाँ से टल गए।

२

बाबू रामजीदास धनी आदमी हैं। कपड़े की आढ़त का काम करते हैं। लेन-देन भी है। इनके एक छोटा भाई है। उसका नाम है, कृष्णदास। दोनों भाइयों का परिवार एक ही में है। बाबू रामजीदास की आयु ३५ वर्ष के लगभग है, और छोटे भाई कृष्णदास की २१ के लगभग। राम-

जीदास निस्सन्तान हैं। कृष्णदास के दो सन्तानें हैं। एक पुत्र—वही पुत्र, जिससे पाठक परिचित हो चुके हैं—और एक कन्या है। कन्या की आयु दो वर्ष के लगभग है।

रामजीदास अपने छोटे भाई और उनकी सन्तान पर बड़ा स्नेह रखते हैं—ऐसा स्नेह कि उसके प्रभाव से उन्हें अपनी सन्तान-हीनता कभी खटकती ही नहीं। छोटे भाई की सन्तान वे अपनी ही सन्तान समझते हैं। दोनों बच्चे भी रामजीदास से इतने हिले हैं कि उन्हें अपने पिता से भी अधिक समझते हैं।

परन्तु रामजीदास की पत्नी रामेश्वरी को अपनी सन्तान-हीनता का बड़ा दुःख है। वह दिन-रात सन्तान-ही-के सोच में घुला करती हैं। छोटे भाई की सन्तान पर पति का प्रेम उनकी आँखों में काँटे की तरह खटता है।

रात को भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर रामजीदास शय्या पर लेटे हुए शीतल और मन्द वायु का आनन्द ले रहे थे। पास ही दूसरी शय्या पर रामेश्वरी, हथेली पर सिर रक्खे, किसी चिन्ता में डूबी हुई थीं। दोनों बच्चे अभी बाबू साहब के पास से उठकर अपनी माँ के पास गए थे।

बाबू साहब ने अपनी स्त्री की ओर करवट लेकर कहा—"आज तुम ने मनोहर को इस बुरी तरह से ढकेला था कि मुझे अब तक उसका दुःख है, कभी-कभी तो तुम्हारा व्यवहार बिलकुल ही अमानुषिक हो उठता है।"

रामेश्वरी बोली—"तुम्हीं ने ऐसा बना रक्खा है। उस दिन उस पण्डित ने कहा था कि हम दोनों के जन्म-पत्र में सन्तान का जोग है, और उपाय करने से सन्तान भी हो सकती है, उसने उपाय भी बताए थे; पर तुमने उनमें से एक भी उपाय करके न देखा। बस, तुम तो इन्हीं

दोनों में मगन हो। तुम्हारी इस बात से रात-दिन मेरा कलेजा सुलगता रहता है। आदमी उपाय तो करके देखता है। फिर होना-न-होना तो भगवान के आधीन है।"

बाबू साहब हँसकर बोले—"तुम्हारी-जैसी-सीधी स्त्री भी......क्या कहूँ, तुम इन ज्योतिषियों की बातों पर विश्वास करती हो, जो दुनियाँ-भर के झूठे और धूर्त हैं! ये झूठ बोलने-ही-की रोटियाँ खाते हैं।"

रामेश्वरी तुनककर बोलीं—"तुम्हें तो सारा संसार झूठा ही दिखाई पड़ता है। ये पोथी-पुराण भी सब झूठे हैं? पण्डित कुछ अपनी तरफ़ से तो बना कर कहते ही नहीं हैं; शास्त्र में जो लिखा है, वही वे भी कहते हैं। शास्त्र झूठा है, तो वे भी झूठे हैं। अँगरेजी क्या पढ़ी, अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं। जो बातें बाप-दादों के ज़माने से चली आई हैं, उन्हें भी झठा बनाते हैं।"

बाबू साहब—"तुम बात तो समझती ही नहीं, अपनी ही ओटे जाती हो। मैं यह नहीं कहता कि ज्योतिष शास्त्र झूठा है। संभव है, वह सच्चा हो। परन्तु ज्योतिषियों में अधिकांश झूठे होते हैं। उन्हें ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान तो होता नहीं, दो-एक छोटी-मोटी पुस्तकें पढ़कर ज्योतिषी बन बैठते हैं, और लोगों को ठगते फिरते हैं। ऐसी दशा में उन पर कैसे विश्वास किया जा सकता है?"

रामेश्वरी—"हूँ! सब झूठे ही हैं, तुम्हीं एक सच्चे हो! अच्छा, एक बात पूछती हूँ, भला तुम्हारे जी में सन्तान की इच्छा क्या कभी नहीं होती?"

इस बार रामेश्वरी ने बाबू साहब के हृदय का कोमल स्थान पकड़ा। वह कुछ देर चुप रहे। तत्पश्चात् एक लम्बी साँस लेकर बोले—"भला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसके हृदय में संतान का मुख देखने की

इच्छा न हो ? परन्तु किया क्या जाय ? जब नहीं है, और न होने की आशा ही है, तब उसके लिये व्यर्थ चिन्ता करने से क्या लाभ ? इसके सिवा, जो बात अपनी सन्तान से होती, वही भाई की संतान से भी हो रही है। जितना स्नेह अपनी पर होता, उतना ही इन पर भी है। जो आनन्द उनकी बाल-क्रीड़ा से आता, वही इनकी क्रीड़ा से भी आ रहा है। फिर मैं नहीं समझता कि चिन्ता क्यों की जाय।"

रामेश्वरी कुछ कुढ़कर बोलीं—"तुम्हारी समझ को मैं क्या कहूँ। इसी से तो रात-दिन जला करती हूँ। भला यह बताओ कि हमारे पीछे क्या इन्हीं से तुम्हारा नाम चलेगा ?"

बाबू साहब हँसकर बोले—"अरे, तुम भी कहाँ की पोच बातें लाईं। नाम संतान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृति से चलता है। तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। सूरदास को मरे कितने दिन हो चुके ? इसी प्रकार कितने महात्मा हो गए हैं, उन सब का नाम क्या उनकी संतान ही की बदौलत चल रहा है ? सच पूछो, तो संतान से जितनी नाम चलने की आशा रहती है, उतनी नाम डूब जाने की भी संभावना रहती है। परन्तु सुकृति एक ऐसी वस्तु है, जिससे नाम बढ़ने के सिवा घटने की कभी आशंका रहती ही नहीं। हमारे शहर में राय गिरधारीलाल कितने नामी आदमी थे ? उनके संतान कहाँ है ? पर उनकी धर्मशाला और अनाथालय से उनका नाम अब तक चला जा रहा है, और अभी न-जाने कितने दिनों तक चला जायगा।"

रामेश्वरी—"शास्त्र में लिखा है, जिसके पुत्र नहीं होता, उसकी मुक्ति नहीं होती ?"

बाबू—"मुक्ति पर मुझे विश्वास ही नहीं। मुक्ति है किस चिड़िया का नाम ? यदि मुक्ति होना मान भी लिया जाय, तो, यह कैसे माना

जा सकता है कि सब पुत्रवानों की मुक्ति हो ही जाती है ? मुक्ति का भी क्या सहज उपाय है। ये जितने पुत्रवाले हैं, सभी को तो मुक्ति हो ही जाती होगी ?"

रामेश्वरी निरुत्तर होकर बोलीं—"अब तुम से कौन बकवाद करे। तुम तो अपने सामने किसी को मानते ही नहीं।"

३

मनुष्य का हृदय बड़ा ममत्व-प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी ही सुन्दर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई समझता है, तब तक उससे प्रेम नहीं करता। किन्तु भद्दी-से-भद्दी और काम में, न आनेवाली वस्तु को भी यदि मनुष्य अपनी समझता है, तो उससे प्रेम करता है। पराई वस्तु कितनी ही मूल्यवान् क्यों न हो, कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं करता, इसलिये कि वह वस्तु उसकी नहीं, पराई है। अपनी वस्तु कितनी ही भद्दी हो, काम में न आनेवाली हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य को दुःख होता है, इसलिये कि वह अपनी चीज़ है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य पराई चीज़ से प्रेम करने लगता है। ऐसी दशा में भी जब तक मनुष्य उस वस्तु को अपनी बनाकर नहीं छोड़ता, अथवा अपने हृदय में यह विचार नहीं दृढ़ कर लेता कि यह वस्तु मेरी है, तब तक उसे सन्तोष नहीं होता। ममत्व से प्रेम उत्पन्न होता है, प्रेम से ममत्व। इन दोनों का साथ चोली-दामन का-सा है। ये कभी पृथक् नहीं किये जा सकते।

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था,

तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अंतर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं; परन्तु उनका विकास नहीं हुआ था। उनका हृदय उस भूमि की तरह था, जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के ऊपर लानेवाला कोई नहीं। इसलिये उनका हृदय उन बच्चों की ओर खिंचता तो था, परन्तु जब उन्हे ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दूसरे के हैं, तब उनके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी। विशेषकर उस समय उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ़ जाती थी, जब वह देखती थी कि उनके पति-देव उन बच्चों पर प्राण देते हैं, जो उनके (रामेश्वरी के) नहीं हैं।

शाम का समय था। रामेश्वरी खुली छत पर बैठी हवा खा रही थी। पास ही उनके देवरानी भी बैठी थी। दोनो बच्चे छत पर दौड़कर खेल रहे थे। रामेश्वरी उनके खेलों को देख रही थी। इस समय रामेश्वरी को उन बच्चों का खेलना-कूदना बड़ा भला मालूम हो रहा था। हवा में उड़ते हुए उनके बाल, कमल की तरह खिले हुए उनके नन्हें-नन्हें मुख, उनकी प्यारी-प्यारी तोतली बातें, उनका चिल्लाना, भागना, लौट जाना इत्यादि क्रीड़ायें उनके हृदय को शीतल कर रही थीं। सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिलखिलाती हुई दौड़कर रामेश्वरी की गोद में जा गिरी। उसके पीछे-पीछे मनोहर भी दौड़ा हुआ आया, और वह भी उन्हीं की गोद में जा गिरा। रामेश्वरी उस समय सारा द्वेष भूल गई। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया, जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चों के लिये तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस

समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विश्वास होता कि रामेश्वरी ही उन बच्चों की माता हैं।

दोनों बच्चे बड़ी देर तक उनकी गोद में खेलते रहे। सहसा उसी समय किसी के आने की आहट पाकर बच्चों की माता वहाँ से उठकर चली गई।

"मनोहर, ले रेलगाड़ी।"—कहते हुए बाबू रामजीदास छत पर आये। उनका स्वर सुनते ही दोनों बच्चे रामेश्वरी के गोद से तड़पकर निकल भागे। रामजीदास ने पहले दोनों को खूब प्यार किया, फिर बैठ कर रेलगाड़ी दिखाने लगे।

इधर रामेश्वरी की नींद-सी टूटी। पति को बच्चों में मगन होते देखकर उनकी भवें तन गईं। बच्चों के प्रति फिर वही घृणा और द्वेष का भाव जग उठा।

बच्चों को रेलगाड़ी देकर बाबू साहब रामेश्वरी के पास आए, और मुसकिराकर बोले—"आज तो तुम बच्चों को बड़ा प्यार कर रही थीं! इससे मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में भी इनके प्रति कुछ प्रेम अवश्य है।"

रामेश्वरी को पति की यह बात बहुत बुरी लगी। उन्हें अपनी कमज़ोरी पर बड़ा दुःख हुआ। केवल दुःख ही नहीं, अपने ऊपर क्रोध भी आया। वह दुःख और क्रोध पति के उक्त वाक्य से और भी बढ़ गया। उनकी कमज़ोरी पति पर प्रकट हो गई, यह बात उनके लिये असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले—"इसीलिये मैं कहता हूँ कि अपनी सन्तान के लिये सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो, तो तुम्हें ये ही अपनी सन्तान प्रतीत होने लगेंगे! मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख रही हो।"

यह बात बाबू साहब ने नितान्त शुद्ध हृदय से कही थी; परन्तु रामेश्वरी को इसमें व्यंग की तीक्ष्ण गन्ध मालूम हुई। उन्होंने कुढ़कर मन में कहा—"इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जायँ पाप कटे! आठों पहर आँखों के सामने रहने से प्यार करने को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।"

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा—"अब झेंपने से क्या लाभ? अपने प्रेम को छिपाना व्यर्थ है। छिपाने की आवश्यकता भी नहीं!"

रामेश्वरी जल-भुनकर बोलीं—"मुझे क्या पड़ी, जो मैं प्रेम करूँगी? तुम्हीं को मुबारक रहे! निगोड़े आप ही आ-आकर घुसते हैं। एक घर में रहने से कभी-कभी हँसना-बोलना ही पड़ता है। अभी परसों ज़रा योंही ढकेल दिया उस पर तुमने सैकड़ों बातें सुनाईं। संकट में प्राण है; न यों चैन, न यों चैन।"

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—"न जाने कैसे हृदय की स्त्री है। अभी अच्छी-ख़ासी बैठी बच्चों को प्यार कर रही थी। मेरे आते ही गिरगिट की तरह रङ्ग बदलने लगी। अपनी इच्छा से चाहे जो करे, पर कहने से बल्लियों उछलती है। न-जाने मेरी बातों में कौन-सा विष घुला रहता है। यदि मेरा कहना ही बुरा मालूम होता है, तो न कहा करूँगा। इतना याद रखो कि अब जो कभी इनके विषय में निगोड़े-सिगोड़े अपशब्द निकाले, तो अच्छा न होगा! तुमसे मुझे बच्चे कहीं अधिक प्यारे हैं।"

रामेश्वरी ने इसका कोई उत्तर न दिया। अपने क्षोभ तथा क्रोध को वह आँखो द्वारा निकालने लगीं।

जैसे-ही-जैसे बाबू रामजीदास का स्नेह दोनों बच्चों पर बढ़ता जाता

था, वैसे-ही-वैसे रामेश्वरी के द्वेष और घृणा की मात्रा भी बढ़ती जाती थी। प्रायः बच्चों के पीछे पति-पत्नी में कहा-सुनी हो जाती थी, और रामेश्वरी को पति के कटुवचन सुनने पड़ते थे। जब रामेश्वरी ने यह देखा कि बच्चों के कारण वह पति की नज़रों से गिरती जा रही है, तब उसके हृदय में बड़ा तूफ़ान उठा। उन्होंने सोचा—पराये बच्चों के पीछे यह मुझसे प्रेम कम करते जाते हैं, मुझे हर समय बुरा-भला कहा करते हैं। इनके लिये बच्चे ही सब-कुछ हैं, मैं कुछ भी नहीं! दुनियाँ मरती जाती है, पर इन दोनों को मौत नहीं। ये पैदा होते ही क्यों न मर गये। न होते, न मुझे ये दिन देखने पड़ते। जिस दिन ये मरेंगे, उस दिन घी के चिराग़ ज़लाऊँगी। इन्होंने ही मेरा घर सत्यानाश कर रक्खा है।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। एक दिन नियमानुसार रामेश्वरी छत पर अकेली बैठी हुई थीं। उनके हृदय में अनेक प्रकार के विचार आरहे थे। विचार और कुछ नहीं, वही अपनी निज की सन्तान का अभाव, पतिका भाई की सन्तान के प्रति अनुराग—इत्यादि। कुछ देर बाद उनके विचार स्वयं कष्ट-दायक प्रतीत होने लगे। तब वह अपना ध्यान दूसरी ओर लगाने के लिये उठकर टहलने लगीं।

वह टहल रही थीं कि मनोहर दौड़ता हुआ आया। मनोहर को देखकर उनकी भृकुटि चढ़ गई, और वे छत की चहारदिवारी पर हाथ रखकर खड़ी हो गईं।

सन्ध्या का समय था। आकाश में रंग-विरंगी पतंगे उड़ रही थीं। मनोहर कुछ देर तक खड़ा पतंगों को देखता और सोचता रहा कि कोई पतंग कटकर उसकी छत पर गिरे, तो क्या ही आनन्द आवे। देर तक पतंग गिरने की आशा करने के बाद वह दौड़कर रामेश्वरी के पास

आया, और उनकी टाँगों में लिपटकर बोला—"ताई, हमें पतंग मँगादो।" रामेश्वरी ने झिड़कर कहा—"चल हट, अपने ताऊ से माँग जाकर।"

मनोहर कुछ अप्रतिभ होकर फिर आकाश की ओर ताकने लगा। थोड़ी देर बाद उससे फिर न रहा गया। इस बार उसने बड़े लाड़ में आकर अत्यन्त करुण स्वर में कहा—"ताई, पतङ्ग मँगा दो; हम भी उड़ावेंगे।"

इस बार उसकी भोली प्रार्थना से रामेश्वरी का कलेजा कुछ पसीज गया। वह कुछ देर तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखतीं रहीं। फिर उन्होंने एक लम्बी साँस लेकर मन-ही-मन कहा—यदि यह मेरा पुत्र होता, तो आज मुझसे बढ़कर भाग्यवान् स्त्री संसार में दूसरी न होती। निगोड़-मारा कितना सुन्दर है, और कैसी प्यारी-प्यारी बातें करता है। यही जी चाहता है कि उठाकर छाती से लगा लें।

यह सोचकर वह उसके सिर पर हाथ फेरनेवाली ही थी कि इतने में मनोहर उन्हें मौन देखकर बोला—"तुम हमें पतंग नहीं मँगवा दोगी, तो ताऊजी से कहकर तुम्हें पिटवायेंगे।"

यद्यपि बच्चे की इस भोली बात में भी बड़ी मधुरता थी, तथापि रामेश्वरी का मुख क्रोध के मारे लाल हो गया। वह उसे झिड़ककर बोलीं—"जा कह दे अपने ताऊजी से। देखूँ, वह मेरा क्या लेंगे!"

मनोहर भयभीत होकर उनके पास से हट आया, और फिर सतृष्ण नेत्रों से आकाश में उड़ती हुई पतंगों को देखने लगा!

इधर रामेश्वरी ने सोचा—यह सब ताऊजी के दुलार का फल है कि बालिस्त-भर का लड़का मुझे धमकाता है। ईश्वर करे, इस दुलार पर बिजली टूटे।

उसी समय आकाश से एक पतंग कट कर उसी छत की ओर आई, और रामेश्वरी के ऊपर से होती हुई छज्जे की ओर गई। छत के चारों ओर चहारदिवारी थी। जहाँ रामेश्वरी खड़ी हुई थीं, केवल वहाँ पर एक द्वार था, जिससे छज्जे पर आ-जा सकते थे। रामेश्वरी इस द्वार से सटी हुई खड़ी थी। मनोहर ने पतंग को छज्जे पर जाते देखा। पतंग पकड़ने के लिये वह दौड़ कर छज्जे की ओर चला। रामेश्वरी खड़ी देखती रहीं। मनोहर उनके पास होकर छज्जे पर चला गया और उनसे दो फ़ीट की दूरी पर खड़ा हो कर पतंग को देखने लगा। पतंग छज्जे पर से होती हुई नीचे, घर के आँगन में, जा गिरी। एक पैर छज्जे की मुँडेर पर रख कर मनोहर ने नीचे आँगन में झाँका और पतंग को आँगन में गिरते देख प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। वह नीचे जाने के लिए शीघ्रता से घूमा; परन्तु घूमते समय मुँडेर पर से उसका पैर फिसल गया। वह नीचे की ओर गया। नीचे जाते-जाते उसके दोनों हाथों में मुँडेर आ गई। वह उसे पकड़ कर लटक गया और रामेश्वरी की ओर देख कर चिल्लाया—"ताई!" रामेश्वरी ने धड़कते हुए इस घटना को देखा। उनके मन में आया कि अच्छा है, मरने दो, सदा का पाप कट जायगा। यही सोच कर वह क्षण के लिए रुकीं। उधर मनोहर के हाथ मुँडेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यन्त भय तथा करुण नेत्रों से रामेश्वरी की ओर देख कर चिल्लाया—"अरी ताई!" रामेश्वरी की आँखें मनोहर की आँखों से जा मिलीं। मनोहर की वह करुण दृष्टि देख कर रामेश्वरी का कलेजा मुँह को आ गया। उन्होंने व्याकुल हो कर मनोहर को पकड़ने के लिये अपना हाथ बढ़ाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक पहुँचा भी नहीं था कि मनोहर के हाथ से मुँडेर छूट गई। वह नीचे आ गिरा। रामेश्वरी चीख मार कर छज्जे पर गिर पड़ीं।

रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुखार में बेहोश पड़ी रहीं। कभी-कभी वह ज़ोर से चिल्ला उठतीं और कहतीं—"देखो-देखो, वह गिरा जा रहा है—उसे बचाओ—दौड़ो—मेरे मनोहर को बचा लो।" कभी वह कहतीं—"बेटा मनोहर, मैंने तुझे नहीं बचाया। हाँ, हाँ, मैं चाहती, तो बचा सकती थी—मैंने देर कर दी।" इसी प्रकार के प्रलाप वह किया करतीं। मनोहर की टाँग उखड़ गई थी। टाँग बिठा दी गई। वह क्रमशः फिर अपनी असली हालत पर आने लगी।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा—"मनोहर कैसा है?"

रामजीदास ने उत्तर दिया—"अच्छा है।"

रामेश्वरी—"उसे मेरे पास लाओ।"

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे प्यार से हृदय से लगाया। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। हिचकियों से गला रुँध गया।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गईं। अब मनोहर की बहन चुन्नी से भी द्वेष और घृणा नहीं करतीं और मनोहर तो अब उनका प्राणाधार हो गया है। उसके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह

जन्मकाल रचनाकाल
१९४७ वि० १९१३ ई०

कानों में कंगना

१

"किरण ! तुम्हारे कानों में यह क्या है ?"

उसने कानों से चञ्चल लट को हटा कर कहा—"कङ्गना"

सचमुच दो कङ्गन कानों को घेर कर बैठे थे।

"अरे कानों में कङ्गना ?"

"हाँ—तब कहाँ पहनूँ ?"

किरण अभी भोली थी। दुनियाँ में जिसे भोली कहते हैं, वैसी ली नहीं; उसे बन के फूलों का भोलापन समझो। नवीन उद्यान के ओं की भङ्गी नहीं;—विविध खाद या रस से जिनकी जीविका है, निर- र् काट-छाट से जिनका सौन्दर्य है, जो दो घड़ी चञ्चल, चिकने बाल भूषा हैं, जो दो घड़ी तुम्हारे फूलदान के गौरव हैं, वैसे, वन के फूल- ते नहीं। प्रकृति के हाथों से लगी है, मेघों की धारा से बढ़ी है, चटुल ष्टि उसे पाती नहीं, जगत्-वायु उसे छूती नहीं। यह सरल, सुन्दर,

सौरभमय जीवन है। जब जीवित रहे तब चारों तरफ़ अपने प्राण-धन से हरे-भरे रखे; जब समय आया तब अपनी माँ के गोद में झर पड़े।

आकाश स्वच्छ था—नील, उदार, सुन्दर। पत्ते चुप थे, श्रान्त थे। सन्ध्या हो चली थी। सुनहली किरणें सुन्दर पर्वत की चूड़ा से देख रही थीं। वह पतली किरण अपनी मृत्यु-शय्या से इस शून्य, निविड़ कानन में क्या ढूँढ़ रही थी—कौन कहे? किसे एक टक देखती थी—कौन जाने? अपनी लीला-भूमि को सस्नेह करुण चाहती थी या हमारे बाद वहाँ क्या हो रहा है, इसे चाहती थी? मैं क्या बता सकता हूँ? उस भङ्गी में अकांक्षा अवश्य थी। मैं तो खड़ा-खड़ा उन बड़ी-बड़ी आँखों की किरण लूटता था। आकाश में तारों को देखा, या उन मनोहर आँखों को देखा, बात एक ही थी। हम दूर से तारों के सुन्दर, शून्य झिकमिक को बार-बार देखते हैं, लेकिन वह निःस्पन्द, निश्चेष्ट ज्योति सचमुच भावहीन है, या आप-ही-आप अपनी अन्तर-लहरी में मस्त है, इसे जानना आसान नहीं। हमारी ऐसी आँखें कहाँ कि, उनके सहारे उस निगूढ़ अन्तर में डूब कर थाह लें?

मैं रसाल की डाली थाम कर पास ही खड़ा था। वह बालों को हटा-कर कँगना दिखाने की भंगी प्राणों में रह-रह कर उठती थी। जब माखन चुराने वाले ने गोपियों के सर के मटके को तोड़ कर उनके भीतरी क़िले को तोड़ डाला, या नूरजहाँ ने अञ्चल से कबूतर को उड़ा कर शाहन्शाह के कठोर हृदय की धज्जियाँ उड़ा दीं; फिर नदी-किनारे वसन्त-वल्लभ रसाल-पल्लवों की छाया में बैठी, किसी अपरूप बालिका की सरल, स्निग्ध लीला एक मानव अन्तर पर क्यों न दौड़े? किरण इन आँखे के सामने प्रति दिन आती ही जाती थी। कभी आम के टिकोरे से आँचल भर लाती, कभी मौलसरी के फूलों की माला बना लाती, किन्तु कभी भी

ऐसी बाल-सुलभ लीला आँखों से हो कर हृदय तक नहीं उतरी। आज क्या था? कौन शुभ या अशुभ क्षण था कि अचानक वह बनेली लता मन्दार माला से भी कहीं मनोरम दीख पड़ी? कौन जानता था कि चाल से कुचाल जाने में, हाथों के कंगन भूल कर कानो में पहिनने में इतनी माधुरी थी, दो टके के कँगनों में ऐसी शक्ति है! गोपियों को कभी स्वप्न में भी न झलका था कि बांस की बाँसुरी में घूँघट खोल कर नचा देने की शक्ति है।

मैंने चटपट उसके कानों से कँगन उतार लिया, फिर धीरे-धीरे उसकी उँगलियों पर चढ़ाने लगा। न-जाने उस घड़ी कैसी खलबली थी, मुँह से अचानक निकल आया—"किरण! आज की यह घटना मुझे मरते दम तक न भूलेगी। यह, भीतर तक पैठ गयी।"

उसकी बड़ी बड़ी आँखें और भी बड़ी हो गयीं। मुझे चोट-सी लगी। मैं तत्काल योगीश्वर की कुटी की ओर चल पड़ा। प्राण भी उसी समय नहीं चल पड़े, यही विस्मय था।

२

एक दिन था कि इस दुनियाँ में दुनियाँ से दूर रह कर भी लोग दूसरी दुनियाँ का सुख उठाते थे। हरिचन्दन के पल्लवों की छाया भूलोक पर कहाँ मिले, किन्तु किसी समय हमारे यहाँ भी ऐसे बन थे जिनके वृक्षों की छाया में दो घड़ी घाम निवारने के लिये स्वर्ग से देवता तक उतर आते थे। जिस पञ्चवटी के अनन्त यौवन को देख कर राम की आँखें भी खिल उठी थीं, वहाँ के निवासियों ने अमर-तरु के सुन्दर फूलों की माला नहीं चाही, मन्दाकिनी के छींटों की शीतलता नहीं ढूँढ़ी।

वृन्दावन का सानी कहीं वन भी था ? कल्प-वृक्ष की छाया में शान्ति अवश्य है; लेकिन कदम की छाँह की शान्ति कहाँ मिल सकती है ? हमारी-तुम्हारी आँखों ने कभी नन्दोत्सव की लीला नहीं देखी, लेकिन इसी भूतल पर एक दिन ऐसा उत्सव हो चुका है, जिसको देख-देख कर प्रकृति-रजनी छ महीने तक ठगी रही, शत-शत देवाङ्गनाओं ने पारिजात के फूलों की वर्षा से नन्दन-कानन को उजाड़ डाला।

समय ने सब-कुछ पलट दिया। अब ऐसे बन नहीं, जहाँ कृष्ण गो-लोक से उतर कर दो घड़ी वंशी टेर दें। ऐसे कुटीर नहीं, जिनके दर्शन से रामचन्द्र का अन्तर भी प्रसन्न हो, या ऐसे मुनीश नहीं, जो धर्म-धुरन्धर धर्मराज को भी धर्म में शिक्षा दें।

यदि एक-दो भूले भटके हैं भी, तब अभी तक उन पर दुनियाँ का पर्दा नहीं उठा—जगन्माया की माया नहीं लगी। लेकिन कब तक बचे रहेंगे ? लोक अपने यहाँ अलौकिक बातें कब तक होने देगा ?

हृषीकेश के पास एक सुन्दर बन है; सुन्दर नहीं अपरूप सुन्दर है। वह प्रमाद-वन के विलास-निकुञ्जों से सुन्दर नहीं, वरञ्च चित्रकूट या पंचवटी की महिमा से मण्डित है। वहाँ चाँदनी में बैठकर कनक-घुँघरू की इच्छा नहीं होती, पंच प्राणों में ऐसी आवेग-धारा उठती है, जो कभी अनन्त साधना के कूल पर पहुँचाती है, कभी जीव-जगत् के एक-एक तत्व से दौड़ मिलाती है। गङ्गा की अनन्त गरिमा, वन की निविड़ योग-निद्रा नहीं देख पड़ेगी। कौन कहे वहाँ जाकर यह चंचल चित्त क्या चाहता है; गम्भीर अलौकिक आनन्द, या शान्त सुन्दर मरण ?

इसी वन में एक कुटी बनाकर योगीश्वर रहते थे। योगीश्वर, योगीश्वर ही थे।

यद्यपि वह भू-तल ही पर रहते थे, तथापि उन्हें इस लोक का जीव कहना यथार्थ नहीं था। उनकी चित्त-वृत्ति सरस्वती के श्रीचरणों में थी या ब्रह्म-लोक की अनन्त शान्ति में लिपटी थी, और वह बालिका स्वर्ग से एक किरण उतरकर उस घने जंगल में उजेला करती फिरती थी। वह लौकिक-माया-बद्ध जीवन नहीं था। उसे बंन्धन-रहित, बाधाहीन नाचती किरणों की रेखा कहिये। मानो मत्त, चंचल मलय-वायु फूल-फूल पर, डाली-डाली पर डोलती फिरती हो, या कोई मूर्तिमती अमर संगीत वे रोक-टोक हवा पर या जल के तरंग-भंग पर नाच रही हो। मैं ही वहाँ इस लोक का प्रतिनिधि था, मैं ही उन्हें उनकी अलौकिक स्थिति से इस जटिल मर्त्यराज में खैंच लाता था।

कोई साल-भर से मैं योगीश्वर के यहाँ आता-जाता था। पिता की रुचि थी कि उनके यहाँ जाकर अपने धर्म के ग्रन्थ सब पढ़ डालो। योगीश्वर और बाबा लड़कपन के साथी थे, इसलिये उनकी मुझ पर इतनी दया थी। किरण उनकी लड़की थी, उस कुटीर में एक वही दीपक थी। जिस दिन की घटना मैं लिख आया हूँ, उसी दिन सवेरे मेरे अध्ययन की पूर्णाहुति थी, और मैं बाबा के कहने पर एक जोड़ा पीताम्बर, पाँच स्वर्ण-मुद्रा तथा किरण के लिये दो कनक-कङ्कन आचार्य्य के निकट ले गया था। योगीश्वर ने सब लौटा दिया, केवल कङ्कन को किरण उठा ले गई। वे नहीं मालूम, क्या समझकर चुप रह गये। समय का अद्भुत चक्र है। जिस दिन मैंने धर्म-ग्रन्थ से मुँह मोड़ा, उसी दिन कामदेव के यहाँ जाकर उनकी किताब का पहला पन्ना उलटा।

दूसरे दिन मैं योगीश्वर से मिलने गया। वह किरण को पास बिठाकर न जाने क्या-क्या पढ़ा रहे थे। उनकी आँखें गम्भीर थीं! मुझको देखते ही वह उठ खड़े हुए और मेरे कन्धे पर हाथ रखकर गद्गद स्वर से

बोले—"नरेन्द्र ! अब मैं चला, किरण तुम्हारे हवाले है।" यह कहकर उन्होंने उसकी सुकोमल अँगुलियों को मेरे हाथ में रख दिया। लोचनों के कोनों पर दो बूँदें निकलकर झाँक पड़ीं। मैं सहम उठा। क्या उन पर सब बातें विदित थीं ? क्या उनकी तीव्र दृष्टि मेरी अन्तर्लहरी तक डूब चुकी थी ? वे ठहरे नहीं, चल दिये। मैं काँपता रह गया। किरण देखती रह गई।

वन-वायु भी अवाक् हो गई। हम दोनों चल पड़े। किरण मेरे कन्धे पर हाथ रक्खे थी। हठात् अन्तर से कोई कड़ककर कह उठा—"हाय नरेन्द्र, यह क्या ? तुम इस वन-फूल को किस उद्यान में ले चले ? इस बन्धन-विहीन स्वर्गीय जीवन को किस लोक-जाल से बाँधने ले चले ?"

३

कङ्कड़ी जल में जाकर कोई स्थाई विवर नहीं फोड़ सकती। क्षणभर जल का समतल भले ही उलट-पुलट हो, लेकिन इधर-उधर से जल-तरंग दौड़कर किसी छिद्र का चिन्ह-मात्र भी नहीं रहने देते। जगत् की भी यही चाल है। यदि स्वर्ग से देवेन्द्र भी भागकर इस लोक-चला-चल से खड़े हों, फिर संसार देखते-ही-देखते उन्हें अपना बना लेगा। इस काली कोठरी में आकर इसकी कालिमा से बचा रहे, ऐसी शक्ति अब आकाश-कुसुम ही समझो। दो दिन में राम 'हाय जानकी' कहकर बन-बन भटकते फिरे। दो क्षण में वही विश्वामित्र को स्वर्ग से घसीट लाया।

किरण की यही अवस्था हुई। कहाँ प्रकृति की निर्मुक्त गोद कहाँ —जगत् का जटिल बन्धन-पाश ?—कहाँ-से-कहाँ आ पड़ी। वह अलौकिक भोलापन, वह निसर्ग उच्चावास हाथों-हाथ लुट गये। उस बन की मायावी मनोहारिता में परिणत हुई। अब आँखें उठाकर आकाश से नीरव बात-

चीत करने का अवसर कहाँ से मिले, मलय-वायु से मिलकर मलयाचल के फूलों की पूछ-ताछ क्योंकर हो ?

जब किरण नये साँचे में ढलकर उतरी, उसे पहचानना भी कठिन था। अब वह लाल, पीली, हरी साड़ी पहिनकर सर पर सिन्दूर-लेखा सजती; और हाथों में कङ्कन, कानों में बाली, गले में कंठी तथा कमर में करधनी, दिन-दिन उसके चित्त को नचाये मारती थीं। जब कभी वह सज धजकर चाँदनी में कोठे पर जाती और वसन्त-वायु उसके आँचल से मोतियों की लपट लाकर मेरे बरामदे में भर देती; उस समय किसी मतवाली माधुरी या तीव्र मदिरा के नशे से मेरा मस्तिष्क घूम जाता और मैं चट-पट अपना प्रेम-चीत्कार फूलदार रंगीन चिट्ठी में भरकर जूही के हाथ ऊपर भिजवाता, या बाज़ार से दौड़कर कटकी गहने या विलायती चूड़ी ख़रीद लाता। लेकिन जो हो, अब भी कभी-कभी उसके प्रफुल्ल बदन पर उस आलोक की छटा पूर्व जन्म की सुख-स्मृतिवत् चली आती थी और आँखें उसी जीवन्त सुन्दर झिकमिक का नाच दिखाती थीं। जब अन्तर प्रसन्न था तब, बाहरी चेष्टा पर प्रतिबिम्ब क्यों न पड़े।

योंही साल-दो-साल मुरादाबाद में कट गये। एक दिन मोहन के यहाँ नाच देखने गया। वहीं किन्नरी से आँख मिली; मिली क्या, लीन हो गई। नवीन यौवन, कोकिल-कण्ठ, चतुर चंचल चेष्टा तथा मायावी चकमक—अब चित्त को चलाने के लिए और क्या चाहिये। किन्नरी सचमुच किन्नरी ही थी। नाचनेवाली नहीं नचानेवाली थी। पहली वार देखकर उसे इस लोक की सुन्दरी समझना दुस्तर था—एक लपट-सी लगती—कोई नशा-सा चढ़ जाता। यारों ने मुझे और भी चढ़ा दिया। आँखें मिलती-मिलती मिल गईं। हृदय को भी साथ-साथ घसीट ले गईं।

फिर क्या था—इतने दिनों की धर्म-शिक्षा, शत वत्सर की पूज्या

लक्ष्मी, बाप-दादों की कुल-प्रतिष्ठा, पत्नी से पवित्र प्रेम—एक-एक करके ये सब उस प्रदीप्त वासना-कुण्ड में भस्म होने लगे। अग्नि और भी बढ़ती गई। किन्नरी की चिकनी दृष्टि, चिकनी बातें घी बरसाती रहीं। घर-बार सब जल उठा। मैं भी निरन्तर जलने लगा; लेकिन ज्यों-ज्यों जलता गया, जलने की इच्छा जलाती रही।

पाँच महीने कट गये। नशा उतरा नहीं। बनारसी साड़ी, पारसी जैकेट, मोती का हार, कटकी काम—सब कुछ लाकर उस मायाकरी के अलक-रञ्जित चरणों पर रक्खा। और किरण? हेमन्त की मालती बनी थी; जिसके घर एक फूल नहीं—एक पल्लव नहीं।

घर की वधू क्या करती? जो अनन्त सूत्र से बँधा था, वही हाथों हाथ पराये के हाथ बिक गया। किन्तु ये तो दोनों दिन चकमकी खिलौने थे, इन्हें शरीर बदलते क्या देर लगे? दिन-भर बहाना की माला गूँथ-गूँथकर किरण के गले में और रात्रि को मोती की माला उस नाचनेवाली या नचानेवाली के गले में सशङ्क, निर्लज्ज डाल देता। यही मेरा कर्तव्य, धर्म, नियम हो उठा। एक दिन सारी बातें खुल गईं। किरण, पछाड़ खाकर ज़मीन पर जा पड़ी। उसकी आँखों में आँसू न थे, मेरी आँखों में दया न थी।

४

बरसात की रात थी। रिमझिम-रिमझिम बूँदों की झड़ी लगी हुई थी। चाँदनी मेघों से आँख-मुदौल खेल रही थी। बिजली, लोल कपाट से बार-बार झाँकती थी। वह किसे चंचल देखती थी, और बादल किस मसोस से रह-रहकर चिल्लाते थे, इन्हें सोचने का मुझे अवसर ही न था। मैं तो किन्नरी के दरवाज़े से हताश लौटा था, आँखों के ऊपर न चाँदनी

थी, न बदली। त्रिशंकु ने स्वर्ग जाते-जाते बीच ही से टँगकर किस दुःख को उठाया; और मैं तो अपने स्वर्ग के दरवाज़े पर सर रखकर निराश लौटा था, मेरी वेदना क्यों न बड़ी हो? हाय! एक अँगूठी भी रहती तो उसे दिखाकर उसके चरणों से चन्दन चाटता।

घर पर आते ही जूही को पुकार उठा—"जूही! जूही!! किरण के पास कुछ भी बचा-वचा हो, तो फौरन जाकर माँग लाओ।" ऊपर से कोई आवाज़ नहीं आई, केवल सर के ऊपर से एक काला बादल, कालान्त चीत्कार से चिल्ला उठा। मेरा मस्तिष्क घूम गया। मैं तत्क्षण कोठे पर दौड़ा।

बस सन्दूक-झाँपे, जो कुछ मिला सब तोड़ डाला; लेकिन मिला कुछ भी नहीं। अलमारी में केवल मकड़े का जाला था। शृङ्गार-बक्स में एक छिपकली बैठी थी। उसी दम किरण पर झपटा।

पास जाते ही सहम गया। वह एक तकिये के सहारे निःसहाय, निस्पन्द लेटी हुई थी। चाँदनी ने, खिड़की से आकर उसे गोद में ले रक्खा था। और वायु उस शान्त शरीर पर जल भिगोया पँखा झल रही थी। मुख पर एक अपरूप छटा थी। कौन कहे, कहीं जीवन की शेष रश्मि क्षण-भर वहीं अटकी हो। आँखों में एक नवीन ज्योति थी। शायद प्राण शरीर से निकलकर किसी आसरे से वहीं बैठ रहा था। मैं फिर पुकार उठा—"किरण, तुम्हारे पास कोई और गहना भी बच गया है?"

"हाँ"—क्षीण कण्ठ की काकली थी।

"कहाँ है—अभी देखने दो।"

उसने धीरे-से घूँघट सरकाकर कहा—"वही कानों का कङ्गना।"

सर तकिये से ढल पड़ा। आँखें भी छिप गईं। वह जीवान्त रेखा कहाँ उड़ गई। क्या इतने ही के लिये अब-तक ठहरी थी ?

मेरी आँखें मुख पर जा पड़ीं—वही कङ्गन थे, वैसे ही कानों को घेरकर बैठे थे। मेरी स्मृति तड़िद्वेग से चमक उठी। दुष्यन्त ने अँगूठी को पहचान लिया था—भूली शकुन्तला, तत्क्षण याद आ गयी थी। लेकिन दुष्यन्त सौभाग्यशाली थे, चक्रवर्ती राजा थे; अपनी प्राणप्रिया को आकाश-पाताल छान कर ढूँढ़ निकाला। मेरी किरण तो इस भूतल पर नहीं थी, कि किसी तरह प्राण देकर भी पता पाता। परलोक से ढूँढ़ निकालूँ ऐसी शक्ति इस दीन-हीन मानव में कहाँ ?

सारी बातें सूझ गईं। चढ़ा नशा उतर पड़ा, आँखों-पर-की पट्टी खुल गई; लेकिन हाय ! खुली भी तो उसी समय जब जीवन में केवल अंधकार ही अंधकार रह गया।

वीर बाला

१

किसी राजपूत-बाला का चित्र नहीं—किसी देव-कन्या की बातें नहीं। एक यवन-रमणी थी, शाही महल की मूर्त्तिमती माया थी—दारा के हृदय की रानी थी। विविध विलासों की गोद में पली थी; अनन्त चन्द्रिका की किरणों में खिली थी, अमृत के छींटों से सींची हुई लता थी; पारिजात-पादप पर चढ़ी हुई कोमल लतिका थी। उसने कभी किसी के आँखों का विस्फारण नहीं देखा—किसी मस्त मस्तक के उरोज को नहीं देखा। दारा के सर की कलँगी उसके पैरों की धूलि झाड़ती—शत-शत स्निग्ध दृष्टि उसकी पदांगुली की अँगूठियाँ बनी रहतीं और उसका सौन्दर्य्य! सौन्दर्य्य क्या था, बिजली की लपट थी—चमक कर चोट-सी लगती, देखनेवालों की आँखें पल्लव में जा छिपतीं, तथापि एक बार देखकर सौ बार देखने की इच्छा होती। जो हो, ऐसे सौन्दर्य्य को हम सौन्दर्य्य नहीं मानते। यह फूलों की दो घड़ियाँ चमक है—पहली

रात का क्षणिक पुलक है। ऐसे हिलोरे हैं, जिन्हें उठते भी देर नहीं, मिटते भी देर नहीं।

यह तो बाहरी चाक-चमक है। संसार का राज्य—माया का मन्दिर है। राज-कन्या इसी दुनियाँ में रहती थी, तथापि इससे कहीं दूर थी। इन्हीं रँगरलियों में रहकर भी इस रंग में रँग नहीं गई थी। झुकती ज़बान और गर्दन पर चढ़ कर भी नहीं फ़िसली थी। चातुरी माया दिन-दिन गले मिलने से बाज़ नही आती, तथापि उसके प्राणों की सहचरी बने, ऐसी क्षमता नही थी। विलास शत-शत रंगीन रस-भरे प्याले पिला-कर भी उसके चित्त को हिला नहीं सकता था। संसार शरीर पर थपकियाँ दे-देकर खड़ा रहता था—लाख फुसलाता, लाख चिल्लाता, लाख सर पटकता, लेकिन कपाट खुलते नहीं कि भीतर जा सके। सचमुच उसमें जो-कुछ सौन्दर्य्य था, वह भीतर ही था। वह ऐसा सौन्दर्य्य था, जिसके सामने त्रैलोक्य-सुन्दर भी लुटे पड़ते हैं—वह सौन्दर्य्य, जिसकी किरणों को लेकर स्वर्ग की चाँदनी है। वह सौम्य प्रकाश था, जिसे हम इन आँखों से नहीं देख सकते, वह असीम संगीत, जिसे हम इन कानों से नही सुन सकते। एक सत्य सुन्दर हृदय—एक तरुण विमुक्त जीवन! कमला अपनी लाख मायाविनी डाली दिखाकर भी फुसला नहीं सकती थी; काम अपने शत-शत पुष्प-बाण या अग्निबाण की वर्षा से भी वेध नहीं सकते थे। वह हँसती, खेलती, अठिलाती, बलखाती—सभी आँखों में प्राण भरकर इस भंगी को देखते तथा हाथों-हाथ बिक जाते। लेकिन किसी ने कभी देख नही पाया कि इस हास-विलास, रस-रास के आड-म्बर के भीतर कौस्तुभ-मणि की ज्योतिषी कौन-सी ज्योति छिपी थी? लोक अपनी माया की चमक के लिये शरीर पर, रोम-रोम पर खड़ा पुकार रहा था, स्वर्ग अपनी तेज तरुण ज्योति लिये, हृदय में, रोम-रोम में, शान्त

निर्विघ्न बैठा था। लेकिन दुनियाँ के लोग इस जगमगाती दुनियाँ ही को देखते हैं। दुनियाँ में अतीत क्या है—इसे देखने की इच्छा नहीं करते। मूर्ति के चकमकी चाम-चूम को देखने के लिए न-जाने कितने आदमी मन्दिर की चौखट पर सिर टकराते हैं, लेकिन उस चकाचौंध के भीतर कोई ज्योति छिपी है या नहीं, यह देखने की भला किसे पड़ी है? फूले-फूले फूलों के भीतर बसन्त को कौन ढूँढ़ता है?

२

चाँदनी के दिन चल बसे। सर पर बदली उनह आयी। दारा बिचारा सहोदर के हाथ से पटका खा, घर-बार, सुख-विलास छोड़ कर बन में—काल के मुँह में—भग गया। औरङ्गज़ेब ने दिल्ली को अपनी मुट्ठी में किया—बुड्ढे बाप पर अपनी दिल की लगी बुझायी। फिर भाई-बन्धुओं के अरुण-तरुण रक्त से अपने हाथों में मेंहदी लगायी। इतना ही नहीं—प्यास ऐसी थी कि शाहज़ादियों के विलास मधुर अन्तरक्त पर भी होंठ लपके। एक दिन दारा की दारा पर भी चितवन फिरी। चितवन ही नही फिरी—चित्त भी फिर गया।

उसने तत्क्षण बाँदी के हाथ एक पत्र लिखकर भेजा—"प्रिये! मैं तुम्हारी काली-काली खुशबूदार जुल्फ़ों पर मर रहा हूँ।" राजकुमारी क्षण-भर चुप रही। फिर बड़े लाड़ से पाले फूलों से गूँथे चञ्चल चिकने बालों को चुपचाप काट डाला और हिना के इत्र से उन्हें भिगोकर शाहंशाह के निकट भेज दिया।

औरङ्गज़ेब ने फिर लिख भेजा—"प्रिये! मैं तुम्हारी इन नर्गिसनुमा आँखों का शैदा हो रहा हूँ।" जिस समय बाँदी चिट्ठी लेकर आई, उस समय वह शायद आँखों में सुर्मा लगा रही थी। झट धीरे से सुकुमार

सुर्मीली आँखों को निकाल कर रँगीन फूलदार लिफ़ाफ़े में भरकर बाँदी के हाथ भेजवा दिया।

औरङ्गज़ेब की आग भमक उठी। फिर लिख भेजा—"प्रिये! मैं तुम्हारे चाँद-से मुँह पर आशिक हूँ।" बाँदी ने चिट्ठी पढ़कर सुना दी। राजकुमारी ने चूँ तक नहीं किया। किसी तरह मायावी गुलाबी गालों को काट-कूटकर भेजवा ही दिया। जो कुछ देने योग्य था, सब दे दिया। प्राणों को भी दे दिया, मगर हृदय नहीं—सत्य नहीं। औरङ्गजेब भी हृदय को माँग नहीं सका। हृदय तो वह किसी और को दे चुकी थी।

शाहंशाह ने एक बार निर्जीव लोचनों को देखा, एक बार लद-फद रक्त-मांस के पिण्ड को देखा। कुछ उसी दृष्टि से देखा, जिस दृष्टि से अपने पिता की आँखों से खून टपकते देखा था, बड़े भाई के मुण्ड को भूमि पर लुढ़कते देखा था। उसे ग्लानि हुई या नहीं, सो मैं नहीं कह सकता। हाँ, पर एक बार शायद तमाशा देखने को भीतर दौड़ पड़ा। उस समय शाहज़ादी खून से सराबोर पृथ्वी पर गिर चुकी थी। जो हो, भूमि पर गिरी तो गिरी—अपने धर्म्म या पातिव्रत्य से नहीं गिरी, हमारी-तुम्हारी आँखों से, दिल से, नहीं गिरी। हा नराधम नरपति! इस वीर हृदय पर ध्वजा उड़ाना बाँये हाथ का खेल नहीं था। यहाँ तुम्हारे सर की कलङ्गी खिसक पड़ी। इसे भी क्या इस खोखले हिन्दुस्तान का जीतना समझा था?—विलासी दारा को मार भगाना समझा था? यदि तुम यहाँ जीतते, तभी हम तुम्हें विजयी मानते।

३

वह उठ गयी, लेकिन नाम नहीं उठा—कीर्ति नहीं मिटी। प्यारे पाठक! वह अनन्त जीवन था, भला मिटता क्योंकर? इसी देश से न

जाने कितने उठ गये। अब ऐसे वीर-हृदय मिलते नहीं, और जो कहीं हैं भी, तो भूले-भटके। सूर्य्यवंशी, यदुवंशी और न-जाने कितने वंशी बनने की अभिलाषा बहुतों को है, किन्तु यह ध्यान किसी को नहीं कि वे क्या थे, और हम कैसे हैं?—वे क्या कर गये और हम क्या करते हैं? हमने माना कि जननी-जठर में सोये-ही-सोये ब्रह्मज्ञान सीख लेना या रण-कौशल की दीक्षा ले लेना अब सम्भव नहीं। अब तो कोई इसे मरते-दम भी दिखा दे, तो बहुत समझिये। उन पूर्व-पुरुषों की सन्तान बनकर मटकने की चाल अच्छी लगे, आप उनके नाम को लेकर अपना नाम भले ही लम्बा-चौड़ा कर लें—उसे कहने में बड़ी शान हो, सुनने वालों पर बड़ा असर हो। आप उनके जन्म-दिन के उपलक्ष्य में गौहर या बाँदी को भले ही नचा लीजिये, बारूद के खिलौने बनाकर शत-शत बार गोलियाँ पीट लें, आप उनकी कीर्ति-लता को अमृत की छींटें दे-देकर भले ही हरी-भरी रखें, उसे देश-देशान्तरों में भेजकर अपने बाग़ का मूल्य खूब बढ़ा लें। किन्तु इससे क्या आपकी कुछ करनी देखी गयी? वे बातें भी देखने में आयीं, जिन्हें देखने के लिए आपकी मातृ-भूमि की आँखें कब से तरस रही हैं? विजयादशमी में राम की गद्दी बड़ी धूमधाम से दिखाना कुछ कठिन नहीं; लेकिन इस जीवन-रङ्ग पर भी तो आप मुझे वैसा एक भी दिखा दें। उनकी सन्तान कहलाने योग्य भी तो किसी को बतला दें। घुँघरू पहिनकर मुरली बजाने से कोई देवकी का पुत्र नहीं बनता—कुक्कुट और बगुले पर गोली मारने से आप गाण्डीवधारी की सन्तान होने योग्य नहीं।

अब किसी के मन में क्षण-भर भी इन भावों का प्रादुर्भाव होना, भारतवर्ष में सब से विस्मयी प्रलय-काण्ड है। क्यों न हो; सभी जातियों ने अपनी-अपनी गर्दन ऊँची की है; लेकिन इतनी नहीं। सभी की कलँगी

सिर से खसी है, लेकिन ऐसी नहीं। दामन झाड़कर फिर खड़ा हो उठना कुछ बुरा नहीं, लेकिन पड़े-पड़े धूलि को गींजना और उस पर खिलखिलाकर हँसना करुणा भी दिखलाता है, और उपहास भी। लोटना ही है तो गोकुल की गलियों में बाल-गोपाल के मुख से उगली हुई मिट्टी पर लोटिये। धूल ही पसन्द है, तो उस धूलि के लिये गली-गली धूलि फाँकिये, जिसको पाकर पत्थर में भी जान पड़ गई थी। किन्तु किसी के दरवाज़े पर फेंके हुए कस्तूरी-कूड़े पर भी लोट-लोट कर दाता की जय मनाना या उसके होंठों पर हँसी ढूँढ़ना कोई अपरूप सुन्दर दृश्य नहीं हो सकता।

पं० ज्वालादत्त शर्मा

जन्मकाल रचनाकाल

१९४५ वि० १९१४ ई०

विधाव

१

राधाचरण की अकाल-मृत्यु से उसके चचा-चची को बहुत शोक हुआ। किन्तु अभागिनी पार्वती के लिये तो यह संसार ही अन्धकारमय हो गया। उसके लिये तो संसार में आशा, उत्साह और सुख का सोलहो-आने नाश हो गया। उसने इस घोर दुःख को, इस अनभ्र वज्रपात को दिल का खून करके, किसी तरह सहन किया। वह न रोई, न चिल्लाई। उसने इस असह्य दुःख को मन की पूरी ताक़त से चुपचाप सहन किया। शोक के भारी बोझ से पार्वती का सुकोमल मन निस्सन्देह चूर-चूर हो गया। किन्तु विधि के इस विपरीत विधान में किसी का क्या वश था!

राधाचरण के चचा, रामप्रसाद औसत दर्जे के आदमी थे। राधा-चरण के पिता, गुरुप्रसाद का देहान्त, जब उसकी अवस्था पाँच वर्ष की थी, तभी हो गया था। सुनीति माता भी, पति की मृत्यु के एक वर्ष बाद ही, स्वर्ग-लोक-गामिनी हो गई थी। इसलिये बालक राधाचरण का पालन-

पोषण चचा रामप्रसाद और उनकी पत्नी हरदेवी ने ही किया था। उनके पास कुछ पैतृक मिलकियत थी, जिसकी आमदनी से घर का ख़र्च चलता था। रहने का पक्का मकान था। पर इस पैतृक मिलकियत और रहने के मकान में—जायदाद के क्षय-रोग—क़र्ज़ के कीटाणुओं ने प्रवेश कर लिया था। रामप्रसाद ने अपनी कन्या चमेली के विवाह में शहर के मूर्ख और निठल्ले आदमियों के मुँह से चिकनी-चुपड़ी बातें सुनने के लिये बहुत रुपया बरबाद किया था। विवाह के बाद, कोई एक सप्ताह तक, पकवान की सुगन्धि के साथ-साथ रामप्रसाद की इस मूर्खतापूर्ण उदारता की बू भी महल्ले में सर्वत्र और शहर में यत्र-तत्र, फैल रही थी। ख़स्ता कचौरी, मोतीचूर के लड्डू, गोल बालूशाही, कुरकरी इमरती और मसालेदार तरकारियों के साथ-साथ चमकते हुए 'इन्दु-सम-उज्ज्वल' रूपराज की दक्षिणा की बात जहाँ-तहाँ होती थी। किन्तु रामप्रसाद के यश की उस स्निग्ध चाँदनी में, उसके विमल यश की सफ़ेद चादर में, कोई कलंक न हो, कोई धब्बा न हो, सो बात नहीं। दुष्ट समालोचक, जिन्होंने ज्यौनार में कई दिनों पहले से अल्पाहार करते रहने के कारण, बुरी तरह ख़स्ता कचौरी और मेवा-मिली मुलायम मिठाइयों का ध्वंस किया था, अपने दुष्ट-पर प्रकृतिदत्त स्वभाव से, मजबूर होकर बाल-की-खाल निकालने और रामप्रसाद की दूध की गंगा में विष मिलाने लगे। कोई कहता था—'कचौरियों में मोयन कम डाला गया', और कोई बताता था कि 'शाक में नोन ज़्यादा हो गया था।' कोई लड्डुओं की बूँदी को ठोस, तो कोई बेसन की बरफ़ी को सख्त क़रार देता था। मतलब यह, कि रामप्रसाद की मूर्खता का श्राद्ध करनेवाले नर-पुङ्गवों की भी कमी न थी। किन्तु घरों की मालकिनें जिन्होंने अपने बच्चों से रुपये छीनकर बटुओं में भर लिये थे, और इस तरह एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया

था, रामप्रसाद की प्रशंसा अपनी प्रलयङ्करी बुद्धि की सहायता से शत-शत मुख से कर रही थीं। इस प्रशंसा-रूप बीमारी का दौरा भी एक महीने से अधिक न रहा। हलवाइयों के हिसाब के साफ़ होते ही लोगों के बेकार, अतएव ख़ाली दिमाग़ भी इस ख़ब्त से खाली हो गये। छः मास के बाद, रामप्रसाद के उसकाने पर भी किसी को लड्डुओं की बूँदियों में तरावट न मालूम होती थी—कोई विषय का उत्थान न करता था। इससे रामप्रसाद के श्लाघा सुनने की अभिलाषा पर तुषार-पात हो जाया करता था, किन्तु उसी आशालता को पल्लवित करनेवाला सूदख़ोर छज्जूमल महाजन 'पड़ोस' का हक़, क़रीब-क़रीब रोज़ निभा देता था।

जिस साल रामप्रसाद की लड़की चमेली का विवाह हुआ था, उसी साल राधाचरण बी० ए० में तीसरे नम्बर पर पास हुआ था। राधाचरण को स्कूल से ही, उसकी योग्यता के कारण, छात्र-वृत्ति मिली थी। पर बी० ए० की फ़ीस और किताबों के लिये चचा रामप्रसाद ने १५०) उसे ज़रूर दिये थे। उसी साल 'ग़रीब नवाज़' लाला छज्जूमल ने यथा-नियम अगले-पिछले जोड़कर रामप्रसाद से पाँच हज़ार रुपयों की दस्तावेज़ लिखाकर उसकी 'इज़्ज़त' बचाई थी। कोई तीन हज़ार रुपये उसने लड़की के विवाह में स्वाहा किये थे। किन्तु कर्ज़ का प्रसंग उठते ही रामप्रसाद भतीजे की पढ़ाई का उल्लेख करते थे। उनके हिसाब से यदि राधाचरण न पढ़ता, तो उन्हें ऋणी न बनना पड़ता। छोटी-छोटी बातों पर रामप्रसाद राधाचरण से कहते—"अभी तूने मेरी क्या सेवा की है? एक साल से पचास रुपये महीना कमाने लगा है। मुझे देख, तेरी पढ़ाई के कारण ही तबाह हो गया। इतना देना हो गया।"

सुशील राधाचरण अपने मूर्ख चचा की बात का उत्तर न देता था। नीची गर्दन करके वह सब-कुछ सुन लेता था।

राधाचरण की मृत्यु से चचा और चची को बेशक बहुत दुःख हुआ, पर उस दुःख की तीव्र आग में जलते हुए भी रामप्रसाद ने राधाचरण के कारण कर्ज़दारी का ज़िक्र करने की प्रवृत्ति को बड़े यत्न से सुरक्षित रक्खा।

२

शोक की प्रबल लहरों में बही जाने वाली रामप्रसाद-दम्पत्ति ने अपने धेवते का सहारा पाकर बहुत कुछ शान्ति-लाभ किया। भाद्रपद की वर्षा के बाद जिस तरह सूर्य्य और अधिक असह्य हो उठता है, उसी तरह शोक-सागर में स्नान करके रामप्रसाद-दम्पत्ति का कठोर हृदय और सख्त हो गया। अब वे बात-बात में कहते थे—"राधे हमें मार गया। वह हमारा भतीजा नहीं, शत्रु था। हमें बरबाद करने आया था।"

पार्वती शोक-महानदी की जिस प्रबल लहर में बही जा रही थी, उसमें तिनके का भी सहारा नहीं था। वह थी, और अनन्त शोक की लहरी थी। उसके भाद्रपद के तरुण सूर्य की प्रखर धूप उत्तापहीन थी—प्रकाश-हीन थी। शरत्काल के लुभावने चन्द्रमा की चिकनी चाँदनी उसके लिये सिंह के सूर्य की धूप से भी कहीं अधिक प्रखर थी। उसके मन में शोक की प्रचण्ड अग्नि धू-धू जल रही थी। बाहर रामप्रसाद-दम्पति का कठोर व्यवहार उस अबला को बेदम किये देता था। शोक की अनन्त ज्वाला में, अनन्त विरह के प्रचण्ड अनल में, निराशा के घने अन्धकार में, उपेक्षा के दुर्गन्धिपूर्ण संसार में—सब कहीं—उसे परलोक-गत पति का पूत और पवित्र मुख-पद्म दिखाई देता था, मानों वह उससे मौन भाषा में कहता था—"प्रिये पार्वती, धैर्य्य धारण करो, त्रिताप-दग्ध संसार में जब तक हो, जैसे बने, काल-यापन कर दो। स्वर्ग में मैं

तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मैं तुम्हें अवश्य मिलूँगा; क्योंकि तुम मेरी हो, और मैं तुम्हारा हूँ।"

पार्वती का छलनी की तरह छिदा हुआ हृदय शान्त हो जाता था। रामप्रसाद-दम्पति का कठोर व्यवहार उसके लिये सुकोमल हो जाता था। संसार भी उसकी दृष्टि में उतनी घृणा का पात्र नहीं रहता था; उस पर से उसकी विरक्ति की मात्रा कम हो जाती थी। संसार के अन्तरिक्ष में ही, इसी संसार के आकाश में ही, उसके परलोकवासी पति के प्रभापूर्ण मुख का प्रतिबिम्ब मध्याकाश में न सही, हृदयकाश में ही सही—दिखाई पड़ता था। इसलिये संसार उसके लिये उतना हेय नहीं रहता था; कुछ काम की चीज़ हो जाता था।

सास के कुलिशसम कठोर वाक्यों और उससे भी बढ़कर पुरुष-तर पार्थिव व्यवहारों को वह अनायास सह लेती थी। मृत्यु-शय्या पर पड़े पति के ज्योतिर्हीन नेत्रों का कातर भाव उसे कभी न भूलता था। उसके आख़िरी शब्द—'प्रिये पार्वती'—आज भी उसके कानों में गूँज रहे थे। उस कातर भाव की शब्द-हीन भाषा का मर्म भी उसने ठीक-ठीक समझ लिया था। चचा-चची का कठोर स्वभाव और पार्वती के पौसाल की शोचनीय अवस्था ही उस कातर भाव का प्रधान उपादान थी।

पार्वती हिन्दी-मिडिल-पास थी। राधाचरण ने बड़े आग्रह से उसे अँगरेज़ी भी पढ़ाई थी। उसका विचार था, कि वह उससे प्रवेशिका-परीक्षा दिलायेगा; किन्तु उसकी अकाल-मृत्यु ने, बहुत-सी अन्य बातों के साथ-साथ इस विचार को भी कार्य में परिणत न होने दिया।

पति की मृत्यु के बाद अभागिनी पार्वती को पुस्तक छूने का मौक़ा ही न मिलता था। घर में उसकी कोई सत्ता ही न थी। सास राधाचरण की मृत्यु का कारण उसे ही समझती थी। पार्वती अन्न पीसती है, चौका-

बरतन साफ़ करती है, भोजन बनाती है; किन्तु फिर भी सास-ससुर की सहानुभूति का पात्र नहीं बनती। फिर भी उनके मुँह से कभी मीठी बात नहीं सुनती। सुनती है, कर्जदारी का कारण, अपने दुर्भाग्य की गाथा, और कभी-कभी गूढ़ प्रेम के परदे में पति की निन्दा।

पार्वती को कुटिलता-पूर्ण संसार में सहानुभूति का चिह्न कहीं दिखाई न देता था। उसके एक चचेरा भाई था; वह कहीं चपरासी था, पर था विवाहित। इसलिये ग़रीबी का मारा सन्तान की बहुतायत से माला-माल था। अत्यन्त गर्मी पड़ने के बाद वर्षा होती है। बहुत तप चुकने पर धाराधाम जल की अनन्त धाराओं से प्लावित हो जाता है। पार्वती ने भी निराशा के घोर अन्धकार में, सास-ससुर के कठोर व्यवहाररूप नरक में, उपेक्षा के समुद्र में, शोक के महासागर में ध्रुव तारे का दर्शन किया, उसे देखकर दिग्भ्रष्टा पार्वती ने कर्त्तव्य-पथ का निश्चय कर लिया। सामने खड़ी आलमारी में भरी हुई, पुस्तकें उसे मानों अपनी-अपनी भाषा में सान्त्वना देने लगीं। वे कहने लगीं—"पार्वती, तू लिखी-पढ़ी है, हम तेरी साथिन हैं। दुःख में शोक में, संताप में सदा-सर्वदा—हम तेरी साथिन हैं। हमें घृणा करनी नहीं आती, उपेक्षा करनी नहीं आती। हमसे भले कोई दिक़ हो जाय, हम किसी से दिक़ नहीं होतीं।" पुस्तकों की विभिन्न, पर मौन, भाषा को उसने साफ़-साफ़ समझा। उसके भग्न हृदय में शांति की अस्फुट किरण का उदय हुआ। आलमारी की चुनी हुई किताबों में उसने साक्षात् अभयदा सरस्वती के दर्शन किये। बहुत समय के बाद मानों माँ-सरस्वती के इशारे से ही उसने आलमारी में-से एक पुस्तक निकाली। पुस्तक थी, सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार स्माइल्स साहब की 'आत्मावलम्बन'। चटाई पर बैठकर पार्वती उसे पढ़ने लगी।

पुस्तक के अभी दो-ही चार पृष्ठ पढ़ें होंगे, कि रामप्रसाद की स्त्री वहाँ आ पहुँचीं। पार्वती को पुस्तक पढ़ते देखकर शरीर में आग लग गई। उसने अपने अभ्यस्त अनेक कुवाक्यों का विष उगलकर अन्त में कहा—"पुस्तकें पढ़कर ही तू राधे को चट कर गई। तू नार नहीं, नागन है। भगवान्! भगवान्! मेरे घर में ऐसी डौयन कहाँ से आ गई! वह था—तवाह कर गया; तू है—तवाह करने की फ़िक्र में है।"

हिरन के बच्चे पर शेरनी को गुर्राता देखकर जिस तरह उसका प्रणयी शेर भी गरजने लगता है, उसी तरह रामप्रसाद भी ग़रीब पार्वती पर टूट पड़ा। उसने भी स्वस्ति-वाचन के बाद कहा—"ठीक तो कहती हैं, यह नार नहीं नागन है। कहीं को मुँह काला भी तो नहीं करती। मैं ऐसी नागन को पालना नहीं चाहता। उसे खा गई। अब मुझे खायगी क्या?"

इधर रामप्रसाद बक रहा था, उधर पार्वती के हृदय में अनेक तरंगें उठ रही थीं। उन्हीं तरङ्गों में उसने अपने पति रामचरण के दर्शन किये। इस समय उसकी आँख में कातरता के साथ-साथ दुःख भी था, विषाद भी था और अभागिनी पार्वती के लिए थी—गहरी सहानुभूति। स्माइल्स साहब की आत्मा भी अबला पार्वती को पुस्तक के रूप में ख़ूब बल प्रदान कर रही थी। पार्वती ने पुस्तक को बन्द कर दिया। पुस्तक के आवरण-पृष्ठ पर सोने के अक्षरों में छपे 'आत्मावलम्बन' के मनोहर शब्द पार्वती के अश्रुपूर्ण नेत्रों को अपनी ओर खींचने लगे।

३

दूसरे दिन प्रातःकाल पार्वती ने बड़ी शान्ति से अपनी सास को समझा दिया कि वह कुछ दिनों के लिए अपने भाई के पास जाना चाहती है। आप उसे एक चिट्ठी लिखवा दीजिए।

सास को मनचाही बात हाथ लग गई। उसने उसी समय स्त्री-जन-सुलभ नमक-मिर्च लगाकर अपने पति रामप्रसाद से कह दिया। उन्होंने पहले तो 'हाँ' 'हूँ' की। फिर धर्म्म और स्वभाव की साथिनी स्त्री के कहने-सुनने पर सुखदयाल को एक चिट्ठी लिख दी।

चार दिन बाद बहू चली जायगी—इसलिए बहू के साथ अधिक कठोर व्यवहार न करना चाहिये, यह सोच कर रामप्रसाद-दम्पति का व्यवहार पार्वती के साथ अपेक्षाकृत अच्छा हो गया है। घर के कामों के साथ अब उसे गालियों का बोझा वहन नहीं करना पड़ता। पर क़र्ज़दारी के कारण का ज़िक्र यथा-नियम प्रति दिन एक-दो बार हो जाता है।

राधाचरण को मरे अभी पूरा एक वर्ष भी नहीं हुआ था। इस थोड़े समय में ही घर की हर-एक चीज़ पार्वती के लिए बिलकुल बदल गई थी। घर के आदमियों के साथ घर के दरो-दीवार भी उसे काटने दौड़ते थे। मूल्य समाप्त न होने के कारण अभी तक उसके नाम कुछ समाचार-पत्र आते थे। पार्वती समय मिलने पर उन्हें पढ़ लेती थी। आज के 'हितकारी' में उसने 'आवश्यकता' के स्तम्भ को बहुत ग़ौर से पढ़ा।

तीसरे दिन जवाब आ गया कि शनैश्चर की रात को सुखदयाल बहन को लेने के लिए आवेगा। बृहस्पतिवार को पत्र मिला था। पार्वती को सिर्फ़ दो रोज़ का मिहमान समझ कर, सास और ससुर का कठोर हृदय और ढीला पड़ गया। पार्वती की सेवा और उसके कभी न डिगने-वाले शील में उन्हें अब बहुत कुछ भलाई दिखाई देने लगी। विच्छेद के विचार ने निस्संदेह उनकी मानसिक कलुषता को बहुत कुछ दूर कर दिया।

काल भगवान् किसी की उपेक्षा नहीं करते। सूर्य के रथ का धूरा कभी नहीं टूटता। काल भगवान् के प्रधान सहचर सूर्यदेव सुखी-दुःखी—

सभी—को पीछे छोड़ते हुए रथ बढ़ाये चले ही जाते हैं। शनैश्चर की रात को सुखदयाल—दैन्य और दारिद्रय की मूर्त्ति सुखदयाल—आ गया। बहन को गले लगाकर वह बहुत रोया। दूसरे दिन प्रातःकाल की ट्रेन से वह पार्वती को लेकर घर को रवाना हो गया।

पार्वती ने चलते समय सिर्फ़ अपने पति की पुस्तकों का एक ट्रङ्क अपने साथ लिया। बाक़ी न कोई ज़ेवर और न दो धोतियों को छोड़कर कोई कपड़ा। भरा हुआ घर, जो उसके लिये पहले ही ख़ाली हो चुका था, उसने भी खाली कर दिया। चलते समय सास ने ऊपरी मन से जल्द आने के लिये कहा और स्त्री-जन-सुलभ अश्रुवर्षण का परिहास भी दिखाया।

पार्वती ने निष्कपट मन से जिस समय सास के चरण छुए, उस समय गरम-गरम आँसुओं की कुछ बूँदों ने भी हरदेवी के चरण छूने में उसके साथ प्रतियोगिता की!

४

पार्वती के आने से सुखदयाल की ग़रीबी का—पर पैतृक, और इसीलिये पक्का—घर स्वर्ग बन गया। उसके बालक, जो निर्धनता के कारण शिक्षा न पा सकते थे, बुवा पार्वती से पढ़ने लगे। सुखदयाल की बड़ी लड़की शान्ति उससे हिन्दी-शिक्षा के साथ-साथ सिलाई का काम भी सीखने लगी। थोड़े ही दिनों में पार्वती और शान्ति को सुई के प्रताप से कुछ कम दो रुपये रोज़ की आमदनी होने लगी। पार्वती के कहने पर सुखदयाल एक अच्छी गाय ख़रीद लाया। अब उसके घर में सब कुछ था। विद्या थी, धन था और गोरस था, सुखदयाल की स्त्री चमेली पार्वती को अपनी समृद्धि का मूल कारण समझती थी। वह उसे

साक्षात् देवी समझती थी। प्रातःकाल उठकर उसके चरण छूती थी। घर का हर काम उसकी आज्ञा लेकर करती थी।

एक वर्ष बीत गया। पार्वती हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल में हिन्दी पढ़ाती है। इसी वर्ष उसने प्रवेशिका परीक्षा पास कर ली है। ५०) मासिक वेतन मिलता है। अब सुखदयाल के बालक, जो एक वर्ष पहले लावारिस और आवारा घूमते-फिरते थे, साफ़ कपड़े पहनकर भले बालकों की तरह बग़ल में पुस्तकें दबाये स्कूल जाते हैं। लड़की शान्ति भी पार्वती के साथ स्कूल में काम करती है। देवि-स्वरूपिणी बहन पार्वती की बदौलत भाई सुखदयाल ने भी चपरासगिरी के कर्कश हाथों से छुटकारा पाकर सौदागरी की दूकान खोल ली है।

सुखदयाल का घर भी अच्छा ख़ासा बालिका-विद्यालय था। महल्ले-भर की छोटी-बड़ी अनेक लड़कियाँ स्कूल से इतर समय में पढ़ने और सुई का काम सीखने आती थीं। विद्या-दान का द्वार सदा उन्मुक्त रहता था। पार्वती के परोपकार-आदि सद्‌गुणों की प्रशंसा मुहल्ले से बढ़कर शहर-भर में फैल गई थी।

* * * *

चार वर्ष और बीत गये। पार्वती ने प्राइवेट तौर पर पहली कक्षा में बी० ए० पास किया। रायपुर के कलेक्टर की पत्नी ने अपने हाथ से पार्वती की सफ़ेद साड़ी पर प्रतिष्ठा-सूचक मेडल पहनाया। हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल की प्रधान शिक्षयित्री-(लेडी-प्रिन्सिपल) के पद पर (जिसकी शोभा, उपयुक्त हिन्दू-पण्डिता के न मिलने कारण, अब तक क्रिश्चियन लेडियाँ बढ़ाती रहीं) पण्डिता पार्वती को आसीन किया गया। शहर-भर में पार्वती का यशोगान होने लगा। वेतन भी एकदम २५०) हो गया।

५

रविवार का दिन था। स्कूल के बड़े कमरे में प्रबन्ध-कारिणी समिति के सभ्यों की अन्तरङ्ग सभा हो रही थी। मेम्बर सभी स्त्रियाँ थीं। राय रामकिशोर बहादुर की पत्नी, जो स्कूल की आनरेरी सेक्रेटरी थीं, प्रबन्ध-सम्बन्धी अनेक विषय पेश कर रही थीं। रायबहादुर की पत्नी ने कहा—"अब मैं आज की बैठक का आखिरी विषय अर्थात् स्कूल के चपरासी के काम के लिये आई हुई दरख़ास्तें पेश करती हूँ। मेरी सम्मति में जिन लोगों की दरख़ास्तें हैं, उन्हें बिना देखे नौकर रखना ठीक न होगा। चपरासी बूढ़ा तो होगा ही, पर साथ-ही-साथ चिड़चिड़ा या ज़ियादह कमज़ोर भी न होना चाहिये, और यह ऐसी बात है, जो बिना देखे ठीक नहीं हो सकती। अब मैं इस विषय में आपकी या बाईजी की (मतलब था, प्रिन्सिपल पार्वती से) जैसी आज्ञा हो वैसा करूँ?"

उपस्थित अन्य तीन महिलाओं ने एक स्वर से कहा—"इस विषय में बाईजी की आज्ञानुसार ही काम होना चाहिये; क्योंकि बाईजी की आज्ञायें सहन करने और दरबानी के लिये ही चपरासी की नियुक्ति होगी।"

पार्वती ने अपने शान्त, पर प्रभा-पूर्ण, मुख-कमल को खिलाते हुए कहा—"मैं रायबहादुर की पत्नी से सहमत हूँ। आदमी को देखकर ही रखना अच्छा होगा। मनुष्य के चेहरे से उसके गुण-दोषों का बहुत पता लग जाता है। उस दिन 'रैशनल थॉट' में मिस्टर अरण्डल का, आपने सेक्रेटरी महोदया, इसी विषय पर एक लेख पढ़ा था?"

रायबहादुर की पत्नी ने कहा—"पढ़ा तो था, पर समझा था कम। आजकल आपका पूरा समय और शक्ति 'विधवा-आश्रम' की स्थापना में लग रहे हैं। इस तरह आप देश की बड़ी भारी सेवा कर रही हैं। आपका कुछ भी समय ख़ाली होता, तो मैं आप से अँग्रेज़ी-साहित्य का

थोड़ा-बहुत अध्ययन करके अपनी इस कमी को ज़रूर पूरा करती। पर मेरे मूर्ख रह जाने से देश की विधवाओं की दुःख-भरी शोचनीय अवस्था को सुधार देने वाले 'विधवा-आश्रम' की स्थापना कहीं बढ़कर आवश्यक और एकान्त कर्तव्य है।"

पार्वती ने मुस्कराते हुए कहा—"धन्यवाद! आपकी सहायता और ईश्वर की कृपा से ही यह काम पूरा हो सकेगा। आप सुनकर प्रसन्न होंगी कि हमारे प्रजा-प्रिय छोटे लाट महोदय ने हिमालय-पार्श्व के उस बड़े भू-खण्ड को विधवा-आश्रम के लिये देने की कृपा की है। चन्दा भी कुछ कम एक लाख हो गया है। ईश्वर की कृपा हुई, तो अब यह कार्य्य शीघ्र ही पूर्ण हो जायगा।"

रायबहादुर की पत्नी ने बड़े हर्ष के साथ कहा—"अब काम के पूरा होने में कुछ सन्देह नहीं। जिस दिन आपने आश्रम के लिये अपना जीवन देने का महा-प्रण किया था, हमें क्या, देश के सभी हितैषियों को, उसी दिन काम के पूरा होने का पक्का भरोसा हो गया था।"

पार्वती ने बड़ी सरलता से कहा—"बहन, धन्यवाद! हाँ, तुम्हारी अङ्गरेज़ी-साहित्य पढ़ने की बात रही जाती है। उसके विषय में मेरा निवेदन है कि आप रायबहादुर साहब से पढ़ें। स्त्रियों के लिये पति से बढ़कर शिक्षक और कोई नहीं। लड़कियों को माता-पिता या अन्य कोई शिक्षक पढ़ा सकता है। पर स्त्रियों का, या साहित्य की भाषा में प्रौढ़ाओं का, परम गुरु और शिक्षक पति ही है। आशा है, आप मुझे इस वक्तव्य के लिये क्षमा करेंगी।"

रायबहादुर की पत्नी ने सौजन्य दिखाते हुए लेडी-प्रिन्सिपल को धन्यवाद दिया और साथ ही सभा का कार्य्य भी समाप्त कर दिया।

६

कङ्गाल भारत की विभूति का कल्पित स्वप्न देखकर आज भी अनेक विदेशी चौंक उठते हैं। किन्तु जिन लोगों ने भारत के गाँव देखे हैं, एक-वस्त्र धारी कृश-काय अस्थि-चर्मावशिष्ट भारत-गौरव किसानों को देखा है, वे भारत की विभूति को खूब समझते हैं।

गर्ल्स-स्कूल में आठ रुपये की चपरास के लिए इतने आदमी आवेंगे किसी को ख़याल भी न था। अनेक बूढ़े आदमी पाँत बाँधे बैठे थे। रायबहादुर की पत्नी और सेकेण्ड मिस्ट्रेस सुशीला देवी ने उस भीड़ में से चार आदमियों को चुन लिया। इन्हीं में से एक को बड़ी बाईजी चुनेंगी। हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल में परदे और सदाचार का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसीलिए किसी नौकर की नियुक्ति के विषय में बहुत सावधानता से काम लेना पड़ता है। स्कूल-भर में चपरासी का काम ही बूढ़े मर्द के सुपुर्द था; बाक़ी सब कामों पर स्त्रियाँ ही नियुक्त थीं।

दस बजते-बजते लेडी-प्रिन्सिपल की गाड़ी स्कूल के बरामदे में पहुँच गई। विभिन्न कक्षाओं की विभिन्न पंक्तियों में खड़ी बालिकाओं ने बड़ी श्रद्धा से प्रधानाध्यापिका को प्रणाम किया। गाड़ी से उतरकर वे सीधी ऑफ़िस में पहुँचीं। रायबहादुर की पत्नी वहाँ पहले ही से उपस्थित थीं। प्रिन्सिपल के पहुँचने पर दासी ने बारी-बारी से उन चारों आदमियों को बुलाया।

पहले आदमी को देखते ही पार्वती के विस्मय का ठिकाना न रहा। वह बूढ़ा आदमी और कोई न था—अभागा रामप्रसाद था। उसे देखकर प्रण्डिता पार्वती के भावुक हृदय में क्षणभर के लिए लज्जा का उदय हुआ। किन्तु उसने तत्काल ही अपने को सँभाल लिया।

सौ मील की दूरी पर आठ रुपये की नौकरी के लिए वह क्यों आया है? मालूम होता है, उसकी मिलकियत और मकान चाटुकार पड़ोसी

सूदखोर की विशाल तोंद में ज़रूर समा गया। रामप्रसाद के मलिन और चिन्तित मुख को देखकर [illegible] पार्वती के मन का अन्तस्थल तक हिल गया। उसने दूसरी तरफ़ को मुँह करके अनमने भाव से सन्देह-निवारण के लिए पूछा—"आपका नाम?"

"रामप्रसाद पाण्डे।"

"मकान?"

"बिलासपुर।"

"इतनी दूर नौकरी के लिए क्यों आए?"

"माँ, पेट की खातिर!"

"घर पर खेती-बारी न थी?"

"माँ, सब कुछ था; खेती क्या, ज़मीदारी भी थी।"

"वह क्या हुई?"

"क़र्ज़ में बिक गई।"

"क़र्ज़ क्यों लिया था?"

"माँ, दुःख की बातें हैं; उन्हें भूल जाना अच्छा है।"

"फिर भी सुनाइये तो?"

"भतीजे की पढ़ाई के लिए।"

"और क्या?"

"और कुछ नहीं—"

"लड़की की शादी में फ़जूलखर्ची नहीं की थी?"

बूढ़े का चेहरा उतर गया। उसने पार्वती का चेहरा कभी न देखा था, और अब तो विद्या, मान और अधिकार की दीप्ति ने उसे बिल्कुल बदल दिया था। बूढ़ा मन-ही-मन बाईजी को देवी समझने लगा। रायबहादुर की पत्नी भी इस प्रश्नोत्तरी को एकाग्र मन से सुन रही थीं।

"माँ, तुम देवी हो। सचमुच लड़की की शादी में ही बरबाद हुआ हूँ।"

"तो भतीजे के पढ़ाई में कुछ-न-कुछ रुपया कर्ज़ लेना पड़ा होगा?"

"माँ, सिर्फ डेढ़ सौ रुपये!"—कहते-कहते बूढ़े के कोटर-लीन नेत्रों में आँसू भर आये।

"अच्छा, आप बाहर बैठिये।"

बाक़ी तीन आदमियों में से एक आदमी चुन लिया गया। बूढ़ा रामप्रसाद उसी समय लेडी-प्रिंसिपल के बँगले पर पहुँचाया गया।

आठ रुपये की नौकरी के लिये आए हुए रामप्रसाद को बँगले के नौकरों ने जब मालिक की तरह ठहराया गया, तब उसे बहुत आश्चर्य हुआ।

शाम को भोजनोपरान्त पार्वती ने कहा—"आप मुझे पहचानते हैं?"

"माँ, आप स्कूल की बड़ी बाई हैं।"

"मैं आप के भतीजे की अभागिनी स्त्री हूँ।"

बूढ़े की निद्रा टूट गई। उसे मूर्छा आने लगी, पार्वती की भतीजी शान्ति ने सँभाल लिया।

पार्वती ने बहुत चाहा कि रामप्रसाद यहीं रहे। पर वह राज़ी न हुआ। आत्म-ग्लानि की तीव्र अग्नि से वह अन्दर-ही-अन्दर जल रहा था। चलते समय पार्वती ने कभी-कभी दर्शन देने का वचन ले लिया। फिर एक-एक हज़ार के दो नोटों को लिफ़ाफ़े में बन्द करके ससुर के हाथ में दिया और बड़ी नम्रता से कहा—"यह चिट्ठी माँ जी को दे दीजियेगा, और अब की बार उन्हें ज़रूर साथ लाइयेगा।"

दर्शन

१

मैं उन दिनों कलक्टरी में पेशकार था। विमला की मृत्यु से पहले तो मुझे बहुत दुःख हुआ। घर खाली मालूम होता था। वह अपने कानों तक फैले हुए नेत्रों द्वारा घर के कोने-कोने और आले-आले से टकटकी बाँधे हुए मुझे देखती मालूम होती थी। उस समय भी उसके अधरों पर परितृप्ति की हँसी और चेहरे पर नाम को भी विकार न उत्पन्न हुआ था। तीन-चार दिनों की साधारण बीमारी से ही उसने हँसते-हँसते इस लोक से पयान कर दिया। उसकी मृत्यु के तीन-चार हफ़्ते बाद तक मेरी तबीयत बड़ी उचाट रही। मन सुस्त रहा। उसके कोमल व्यवहारों का स्मरण करके मेरा कठोर हृदय पिघला जाता था।

उसके सामने ही मैं उच्छृङ्खल हो गया था। दवा के तौर पर शराब पीने लगा था। किसी-किसी रात को घर से अनुपस्थित भी रहता था। विमला मेरी दशा पर बहुत कुढ़ती थी। वह कातर होकर कभी-कभी

इशारे से मुझे समझाया करती थी। किन्तु अहलमदी की आमदनी से जिस पाप-बीज को मैं अपने हृदय-क्षेत्र में बो चुका था, उसका मूलोच्छेद विमला की मृदु और मधुर शिकायत से थोड़े ही हो सकता था! यही कारण था कि उसकी मृत्यु का मुझे उतना दुःख नहीं हुआ, जितना होना चाहिये था, या हो सकता था। वह मेरे हृदय की देवी बनने योग्य थी। किन्तु मेरे कुटिल हृदय के और भी हिस्सेदार थे। उसमें विमला के लिये स्थान था, पर वह उसकी एकमात्र अधिकारिणी न थी। इसलिये उसकी मृत्यु के बाद हिन्दुओं के सम्मिलित परिवार की तरह बचे हुए वारिसों ने ही उसके स्थान की प्राप्ति कर ली।

विमला के सामने मद्य-पान की मात्रा बहुत कम थी। किसी-किसी दिन अनध्याय भी हो जाता था। विमला के पास पहुँचकर मैं महल्ले के ज़ौकीराम या उल्फ़तराय की शक्ति से बाहर हो जाता था। फिर मुक़दमेवाला आया है, कोई बुलाता है,—आदि बहाने से मुझे बाहर न निकाल सकते थे। उस दिन मद्य-पान रूप महापाठ का अनध्याय हो जाता था। किन्तु ग्रेड अर्थात् दरजे की उन्नति और विमला की मृत्यु ने मुझे अब मद्य-पान के साथ उन धूर्तों का क्रीतदास बना दिया। शाम को सात बजे के बाद मेरा स्थान छोटा-सा पानालय बन जाता था। अब मेरे स्वेच्छाचारों में बाधा डालनेवाला कोई न था।

सौभाग्य से मेरे कोई सन्तति न थी। मैंने दूसरा विवाह भी न किया।

२

उन दिनों मुझे ६०) मासिक मिलते थे। दूसरे दर्जे के डिप्टी साहब के यहाँ पेशकार था। डिप्टी साहब को मिलते थे, कुछ ऊपर तीनसौ और मुझे—ऊपर की आमदनी मिलाकर कोई ढाई सौ पड़ जाते थे। पर

पाप के धन में स्थैर्य्य कहाँ? बड़ी आसानी से मिला हुआ धन उससे अधिक आसानी से पानी की तरह ख़र्च हो जाता था। अब मेरे यहाँ देशी शराब की डाटें खुलने की बजाय विलायती मद्य की बोतलों के 'काग' खुलते थे।

बुराई के पास बुराई आती है, और आश्चर्य्य यह है कि बिना बुलाये आती है। हमारी मण्डली में भी दो-तीन-गुण्डों का प्रवेश हो गया था। वे भले-मानस गुण्डे थे। दिन में ऑफ़िसों में मेरी तरह रोबदाब के साथ अपना-अपना काम करते थे, समाज में पढ़े-लिखे और धनोपार्जन के ख़याल से बड़े आदमी समझे जाते थे, पर रात को ताण्डव-नृत्य में सम्मिलित होते थे।

हमारी मण्डली के अन्यतय सदस्य स्टेशन-मास्टर बाबू थे। उन्हें हम लोग मास्टर बाबू कहते थे। उस दिन उनके यहाँ दावत थी। जब कोई नया शिकार फ़ँसता था। तब मास्टर बाबू हम लोगों को भी बुलाते थे।

छत पर एक छोटा-सा कमरा था। हम सब मिलकर तीन थे। मद्यपान के साथ उस अभागी के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, जिसे मास्टर बाबू ने आज ही अपने जाल में फ़ँसाया था।

दरवाज़ा कुला। स्टेशन के यमदूत एक स्त्री को अन्दर लाये। स्त्री की अवस्था २२ वर्ष से अधिक न थी। उसके लावण्यपूर्ण किन्तु कुम्हलाये चेहरे पर भीति के चिन्ह स्पष्ट प्रकट हो रहे थे। चकित हिरनी की तरह अपने लम्बे-लम्बे नेत्रों से उसने चारों ओर देखा। किसी गृहस्थ के मकान पर पहुँचाने का धोखा देकर वह वहाँ लाई गई थी। कमरे की विलासपूर्ण सामग्री और शराब की आधी से अधिक ख़ाली बोतलें देखकर उसे अपने भाग्य के निर्णय का तत्काल बोध हो गया। मैं उसे देख रहा

था। उसके चेहरे से भीति के चिन्ह एक-साथ दूर हो गये। यमदूत उसे अन्दर पहुँचाकर यथा-विधि चले गये। मास्टर बाबू ने उसे कुर्सी पर बैठने के लिये कहा; किन्तु वह शरीर-मात्र से ही वहाँ स्थित थी। उसकी आत्मा मानों किसी ऐसे स्थान में विचरण कर रही थी कि जहाँ भय नहीं, शोक नहीं और दुःख नहीं। उसके चेहरे पर विचार-सम्बन्धी दृढ़ता झलक रही थी।

मास्टर बाबू ने नशे की झोंक में कहा—"देखो, हमने आपका मन बहलाने के लिये कैसा अच्छा प्रबन्ध किया है। आप कुछ खाइये। थोड़ी-सी शराब लीजिये। दिन-भर की थकावट और सुस्ती दूर होकर आपके शरीर में नये जीवन का संचार होगा। प्रातःकाल की ट्रेन से मैं आपको देहरे भेज दूँगा। वहाँ आप अपने पति से—निस्सन्देह भाग्यवान् पति से—मिल जायँगी।"

रमणी स्थिर थी। उसने कुछ न कहा। वह स्थिर दृष्टि से न-मालूम मन में क्या स्थिर कर रही थी।

ऐं! रमणी के हाथ से फेंकी हुई शराब की बोतल से मास्टर बाबू का सिर फट गया। शराब के हल्के सुर्ख रंग के साथ मास्टर का गाढ़ा रक्त मिलकर उसके शरीर पर गिरने लगा। ग्लास के आघात से मेरे माथे पर भी गहरी चोट आई। किन्तु मुझ में फिर भी शक्ति थी। मैं उसे पकड़ सकता था, रोक सकता था; पर मैंने वैसा नहीं किया। इस-लिए नहीं कि मैं डर गया था; उसके रोषपूर्ण नेत्रों से मुझे डर मालूम होने लगा था—नहीं। मैंने उसके नेत्रों में, उसके प्रभावपूर्ण कमनीय चेहरे में, विमला का प्रत्यक्ष दर्शन किया। शराब के नशे के कारण, भावुकता के कारण, या मेरी मानसिक अवस्था के कारण, मुझे उसके रूप में विमला का सोलहो-आने दर्शन हुआ। यदि वह विमला होती

तो मुझे इस मण्डली पर कितना रोष होता ?—नीति के इस तत्व को समझ कर मुझे उस पर दया ही आई; क्रोध न आया। रक्त-पात ठीक ही हुआ। कृत-कर्म्म का प्रायश्चित्त उचित ही हुआ। रमणी धीरता-पूर्वक किवाड़ खोल कर चली गई। चलते समय उसने मेरी ओर देखा। मैं काँप उठा। उसके नेत्रों में गज़ब का आतङ्क था। वैसा आतङ्क सभी साध्वी स्त्रियों के नेत्रों में होता है; किन्तु पाठक, आप उस आतङ्क को नहीं जानते। पापी ही उसे अच्छी तरह जानते हैं। वह दृष्टि पुलिस से बढ़कर हमारे लिए भय का कारण होती है। हमारा तीसरा साथी मुफ़्त की मद्य के अधिक पीजाने के कारण कुर्सी पर पहिले से ही चित हो गया था। पाँच मिनट के भीतर ही उस छोटे-से कमरे में जो रक्त-पात हो गया था, उसकी उसे कुछ भी खबर न थी।

३

स्टेशन-मास्टर के ज़ख्म को मैं रोज़ देखता था। रक्त-सम्बन्धी विकार के कारण उनका ज़ख्म भीषण होता जाता था। पीव पड़ जाने के कारण मास्टर बाबू रात-दिन तड़पता था। उसकी विकल अवस्था को देखकर मेरा दिल हिल गया। मैंने भी तो उससे कम पाप-संग्रह नहीं किया। अब मेरे सिवा उसके पास कोई नहीं आता था। खाने-पीनेवाले मित्र मुझे भी वहाँ जाने से रोकते थे और, मौज में रहने की सलाह देते थे। मेरे-ज्ञान चक्षु कुछ-कुछ खुल गये थे। मेरे बिगड़े समय में भी यह लोग इसी तरह भाग जायेंगे। मुझे निराशा हुई। खाने-पीनेवाले लोग, काले मुँह भ्रमरों की तरह, एक फूल को छोड़कर दूसरे फूल की तलाश में लग जाते हैं। मेरी वृत्ति बदल गई। मुझे सभी कामों में—भले और बुरे दोनों से—विराग हो गया। मन बुझ गया। मद्य की क्षणिक उत्तेजना से तो मुझे बड़ी घिन हो गई। मास्टर बाबू की यातनापूर्ण लम्बी

बीमारी, रमणी का रोषपूर्ण कटाक्ष और स्थिर-भाव—आदि अनेक प्रासंगिक बातों ने मेरे मन को एक दम कुछ-का-कुछ कर दिया।

उस दिन शरत्-पूर्णिमा थी। हम लोग मास्टर बाबू की शव-क्रिया करके नदी में स्नान कर रहे थे। ठण्डे जल में बार-बार ग़ोते लगाने पर भी मेरे मन की जलन न बुझती थी। मास्टर बाबू की विधवा स्त्री का आर्तनाद सुनकर मेरा कलेजा निकल पड़ता था। मास्टर बाबू की फ़िज़ूल-खर्ची ने उसके पास कुछ न छोड़ा था। किन्तु वह अपनी निराश्रयावस्था के कारण दुःखी न थी—कातर थी पति-वियोग के कारण। पारिपार्श्विक अवस्था और मन के परिवर्त्तित भावों के कारण मेरा श्मशान-वैराग्य सच्चे वैराग्य में परिणत हो रहा था। मैं सोच रहा था कि मैं पापी हूँ; मैं भी अनेक रोगों के बीजों को शरीर में पाल रहा हूँ। इन बातों से मेरा मन उतना उचाट न होता था, जितना कि अपने लक्ष्य-हीन जीवन को देखकर। भाद्रपद की मेघावृत, अतएव अन्धकारपूर्ण रजनी में चपला की चंचल रेखा की तरह मेरे तमसावृत मन में भी आशा-देवी का एक बार—पर क्षण-भर के लिये—उदय हुआ। मेरे हृदय की तन्त्री में आशा का मधुर राग बज उठा। अभी समय है; कृत कर्मों का बहुत-कुछ प्रायश्चित हो सकता है; मैले-से-मैला कपड़ा यत्न-पूर्वक धोने से साफ़ हो सकता है; विगत जीवन के गहरे ज़ख्म भी यत्न-पूर्वक चिकित्सा करने से अच्छे हो सकते हैं। और लोग स्नान करके चल भी दिये; मैं खड़ा-खड़ा इन्हीं बातों को सोच रहा था। चन्द्रदेव भी मेरे मानसिक अभ्युदय के उत्थान पर मुस्करा रहे थे। नदी की लहरें भी उठकर मेरे निश्चय का अनुमोदन करती थीं। वायुदेव भी पीपल के मुलायम पत्तों की मारफ़त मानों मुझसे कह रहे थे—शुभस्य शीघ्रम्।

४

१२ वर्षों से मैं गृह-त्यागी हूँ। गुरु की कृपा से मुझे अब देववाणी संस्कृत का अच्छा अभ्यास हो गया है। विचार-सागर से लेकर वेदान्त-दर्शन तक वेदान्त के सभी प्रसिद्ध और प्रकरण-ग्रन्थ मैंने गुरु-मुख से पढ़े हैं। उपनिषद् और गीता का भी मैंने मनोयोग-पूर्वक अध्ययन किया है। बारह वर्ष पहले के जीवन से मेरा वर्तमान जीवन कितना विभिन्न और उच्च है। अब उसमें आसक्ति नहीं है; काम-द्वेष नहीं है; आनन्द की धारा, कल-कल-नादिनी नदी की तरह, निर्बाध रूप-से बही जा रही है। अनेक विद्यार्थियों को मैं वेदान्त पढ़ाता हूँ। अनेक, व्याकरण और तर्क भी मुझसे पढ़ते हैं। मेरे पास कपिल, कणाद और व्यास सदा ही वर्तमान रहते हैं। आत्मानुभव और समदर्शिता की तलछट-विहीन मद्य से मेरा मन सदा ही मस्त रहता है। कैसी शान्ति है! निवृत्ति-ज़न्य कैसा आनन्द है!

भारत के सभी प्रान्तों में मैं घूम चुका हूँ। अनेक दुर्व्यसनियों के व्यसन छुड़ाने में मैं कृतकार्य हो चुका हूँ। जिस शहर में १२ वर्ष तक मैं सरकारी कर्म्मचारी रहा था, वहाँ दो बार आया हूँ। किन्तु वहाँ मुझे कोई न पहचान सका। मेरे उपदेशों से वहाँ के अनेक निवासियों ने शान्ति-लाभ किया है। मेरे बढ़े हुये बाल और भरे हुए शरीर के कारण वे मुझे न पहचान सके। शास्त्रीय अध्ययन और आत्म-चिन्ता के तेज ने भी मेरे विकृत मुख को बहुत-कुछ गम्भीर और उज्ज्वल कर दिया है। मैं सब को वेदान्त का चरम उपदेश नहीं करता। सभी को मैं ब्रह्मजीव की एकता की शिक्षा नहीं देता। मैं साधारण मनुष्यों के मल-विक्षेप-युक्त चित्तों की मलिनता, उन्हीं के आचरित धार्म्मिक कृत्यों द्वारा, दूर करने की चेष्टा करता हूँ। इसलिये मेरे पास सभी जाति और सभी

विचार के मनुष्य आते हैं। उनसे मुझे और मुझसे उन्हें विचार सम्बन्धी लाभ पहुँचता है।

दस वर्षों तक मैंने यथाशक्ति मनुष्यों का उपकार करके अपने विगत जीवन में किये गये अपकार का प्रायश्चित किया है। पिछले साल से मैंने अखाड़े के पास एकान्त स्थान में कुटी बना ली है। फिर भी यहाँ लगातार कुछ विचारशील सत्सङ्गी मेरे पास पहुँच जाते हैं। उनके आने से मुझे भी खूब हर्ष होता है। जङ्गल में रहता हुआ मनुष्य भी अन्ततः समाज का ही पशु है। गृहस्थ-विद्वानों से मेरा बहुत उपकार हुआ है। वे मेरे गुरु हैं। किन्तु घरेलू झंझटों में फँसे रहने के कारण उनकी साधनावस्था विशेष अच्छी नहीं होती। इसलिये वे लोग मुझसे साधन-सम्बन्धी कोई साधारण बात सुनकर मुझ पर अनुरक्त हो जाते हैं।

उस दिन प्रोफ़ेसर राजकिशोर एम० ए० आये थे। वेदान्त के अच्छे ज्ञाता थे। अँग्रेज़ी में वेदान्त-ग्रन्थ पढ़कर उनके तत्व को इतनी अच्छी तरह बहुत कम आदमियों ने समझा होगा। मुझसे बातचीत करके वे बड़े प्रसन्न हुए। जल-वायु-परिवर्त्तन के लिए वे इधर आये हुए थे। 'जब तक पहाड़ पर रहेंगे, मेरे पास आयेंगे,' यह कहकर वे उस दिन चले गये।

दूसरे दिन वे अपनी धर्मपत्नी को भी साथ लाये। वे भी खूब पण्डिता हैं। प्रोफ़ेसर की पत्नी कहाने योग्य हैं। किन्तु उन्हें देखकर मुझे मालूम हो गया कि चित्त का संयम करने के लिए अभी और भी कड़े साधन की आवश्यकता है। उसमें राग नहीं है, उसमें द्वेष नहीं है— लोभ-आदि निचले दर्जे के शत्रु भी नहीं हैं; किन्तु पूर्व-स्मृति से उत्पन्न हुई थोड़ी-ही भीति अभी अक अवशिष्ट है।

प्रोफ़ेसर की पत्नी ने चलते समय विनीत भाव से कहा—"स्वामिन्, आप के दर्शन से हमारी पर्वत-यात्रा साङ्ग हो गई।"

मैंने माथे पर से जटायें हटाकर गिलास की गहरी चोट का निशान दिखाते हुए उत्तर दिया—"माता, इस कुबुद्धि सन्तान को पहचानती हो? रोषमयी माता के एक बार दर्शन से जिस अधम सन्तान का इतना उपकार हुआ है, अब् प्रसन्न-वंदना जननी के दर्शन से भविष्यत् में कितना कल्याण होगा—उसकी इयत्ता नहीं?"

मुझे पहचानकर पति-पत्नी चकित हो गये। मुझमें उनकी श्रद्धा कम नहीं हुई। वे दोनों आज-कल मुझसे वेदान्त पढ़ रहे हैं। उन्हीं के विशेष अनुरोध से मैंने अपने तुच्छ जीवन की साधारण, पर उपदेशप्रद, घटनायें लिपिवद्ध की हैं। पाठक क्षमा करें।

श्री चतुरसेन शास्त्री

जन्मकाल	रचनाकाल
१९४८ वि०	१९१४ ई०

खूनी

उसका नाम मत पूछिये। आज दस वर्ष से उस नाम को हृदय से और उस सूरत को आँखों से दूर करने को पागल हुआ फिरता हूँ। पर वह नाम और सूरत सदा मेरे साथ है। मैं डरता हूँ, वह निडर है; मैं रोता हूँ, वह हँसता है; मैं मर जाऊँगा, वह अमर है।

मेरी-उसकी कभी की जान-पहिचान न थी। दिल्ली में हमारी गुप्त सभा थी, सब दल के आदमी आये थे, वह भी आया था। मेरा उसकी ओर कुछ ध्यान न था, वह पास ही खड़ा एक कुत्ते-पिल्ले से किलोल कर रहा था। हमारे दल के नायक ने मेरे पास आकर सहज-गम्भीर स्वर में धीरे-से कहा—"इस युवक को अच्छी तरह पहचान लो, इससे तुम्हारा काम पड़ेगा।"

नायक चले गये और मैं युवक की तरफ़ झुका। मैंने समझा, शायद नायक हम दोनों को कोई एक काम सुपुर्द करेगा।

मैंने युवक से हँसकर कहा—"कैसा प्यारा जानवर है!" युवक ने

कच्चे दूध के समान स्वच्छ आँखें मेरे मुख पर डाल कर कहा—"काश ! मैं इसका सहोदर भाई होता !" मैं ठठाकर हँस पड़ा। वह मुस्कराकर रह गया। कुछ बातें हुईं। उसी दिन वह मेरा मित्र बन गया !

दिन-पर-दिन व्यतीत हुए। अछूते प्यार की धाराएँ दोनों हृदयों में उमँडकर एक-धार हो गईं, सरल अकपट व्यवहार पर दोनों मुग्ध हो गए। वह मुझे अपने गाँव में ले गया; किसी तरह न माना। गाँव के एक किनारे स्वच्छ अट्टालिका थी। वह गाँव के ज़मींदार का बेटा था—इकलौता बेटा था, हृदय और सूरत का एक-सा। उसकी माँ ने दो दिन में ही मुझे 'बेटा' कहना शुरू किया। अपने होश के दिनों में मैंने वहाँ सात दिन माता का स्नेह पाया। फिर चला आया। फिर गया और आया। अब तो बिना उसके मन न लगता था। दोनों के प्राण दोनों में अटक रहे थे। एक दिन उन्मत्त प्रेम के आवेश में उसने कहा था—"किसी अघट घटना से जो हम दोनों में से एक स्त्री बन जाय तो मैं तो तुम से व्याह ही करलूँ।"

नायक से कई बार पूछा—"क्यों तुमने मुझे उससे मित्रता करने को कहा था ?" वह सदा यही कहते—"समय पर जानोगे।" गुप्त सभा की भयङ्कर गम्भीरता सब लोग नहीं जान सकते। नायक मूर्त्तिमान भयङ्कर गम्भीर थे।

उस दिन भोजन के बाद उसका पत्र मिला। वह मेरी पॉकेट में अब भी धरा है। पर किसी को दिखाऊँगा नहीं। उसे देखकर दो साँस सुख से ले लेता हूँ, आँसू बहाकर हलका हो जाता हूँ। किसी पुराने रोगी की जैसे दवा खुराक बन जाती है, मेरी वेदना को भी वह चिट्ठी खूराक बन गई है।

चिट्ठी पढ़ भी न पाया था, नायक ने बुलाया। मैं सामने सरल-

स्वभाव खड़ा हो गया। बारहों-प्रधान हाज़िर थे। सन्नाटा भीषण सत्य की तसवीर खींच रहा था। एक-ही मिनट में मैं गम्भीर और दृढ़ हो गया। नायक की मर्म-भेदिनी दृष्टि मेरे नेत्रों में गड़ गई, जैसे तप्त लोहे के तीर आँख में घुस गए हों? मैं पलक मारना भूल गया, मानों नेत्रों में आग लग गई हो। पाँच मिनट बीत गए। नायक ने गम्भीर वाणी से कहा—"सावधान! क्या तुम तैयार हो?"

मैं सचमुच तैयार था। मैं चौंका नहीं। आखिर मैं उसी सभा का परीक्षार्थी सभ्य था। मैंने नियमानुसार सिर झुका दिया। गीता की रक्त-वर्ण रेशमी पोथी धीरे-से मेज़ पर रख दी गई। नियमपूर्वक मैंने दोनों हाथों से उठाकर सिर पर चढ़ा ली।

नायक ने मेरे हाथ से पुस्तक लेली। क्षण-भर सन्नाटा रहा। नायक ने एकाएक उसका नाम लिया और क्षण-भर में छः-नली पिस्तौल मेज़ पर रख दी।

वह छैः नामों का शब्द उस पिस्तौल की छओं गोलियों की तरह मस्तक में घुस गया। पर मैं कम्पित नहीं हुआ। प्रश्न करने और कारण पूछने का निषेध था। नियमपूर्वक मैंने पिस्तौल उठाकर छाती पर रखा और स्थान से हटा।

तत्क्षण मैंने यात्रा की। वह स्टेशन पर हाज़िर था। अपने पत्र और मेरे प्रेम-पत्र पर इतना भरोसा उसे था; देखते ही लिपट गया। घर गये, चार दिन रहे। वह क्या करता है, क्या कहता है, मैं देख-सुन नहीं सकता था। शरीर सुन् हो गया था, आत्मा दृढ़ थी। हृदय धड़क रहा था, पर विचार स्थिर थे।

चौथे दिन प्रातःकाल जलपान करके हम स्टेशन चले। ताँगा नहीं लिया, जङ्गल में घूमने जाने का विचार था। काव्यों की बढ़-बढ़कर

आलोचना होती चलती थी। उस मस्ती में वह मेरे मन की उद्विग्नता भी न देख सका। धूप और खिली। पसीने बह चले। मैंने कहा—"चलो कहीं छाँह में बैठें।" घना कुञ्ज सामने था, वहीं गये। बैठते ही जेब से दो अमरूद निकाल कर उसने कहा—"सिर्फ़ दो ही पके थे। घर के बग़ीचे के हैं। यहीं बैठकर खाने के लिए लाया हूँ। एक तुम्हारा, एक मेरा।"

मैंने चुपचाप अमरूद लिया और खाया। एकाएक मैं उठ खड़ा हुआ। वह आधा अमरूद खा चुका था, उसका ध्यान उसी के स्वाद में था। मैंने धीरे-से पिस्तौल निकाली, घोड़ा चढ़ाया और अकम्पित स्वर में उसका नाम लेकर कहा,—"अमरूद फेंक दो और भगवान का नाम लो, मैं तुम्हें गोली मारता हूँ।"

उसे विश्वास न हुआ। उसने कहा—"बहुत ठीक, पर इसे खा तो लेने दो!" मेरा धैर्य छूट रहा था। मैंने दबे कण्ठ से कहा—"अच्छा, खा लो।" खाकर वह खड़ा हो गया, सीधा तनकर। फिर उसने कहा—"अच्छा मारो गोली!" मैंने कहा, "हँसी मत समझो, मैं तुम्हें गोली ही मारता हूँ, भगवान का नाम लो।" उसने हँसी में ही भगवान का नाम लिया और फिर वह नक़ली गम्भीरता से खड़ा हो गया। मैंने एक हाथ से अपनी छाती दबाकर कहा—"ईश्वर की सौगन्ध! हँसी मत समझो, मैं तुम्हें गोली मारता हूँ!"

मेरी आँखों से वही कच्चे दूध के समान स्वच्छ आँखें मिलाकर कहा—"मारो।"

एक क्षण-भर भी बिलम्ब करने से मैं कर्तव्य-विमुख हो जाता। पल-पल में साहस डूब रहा था। दनादन दो शब्द गूँज उठे। वह कटे वृक्ष की तरह गिर पड़ा। दोनों गोलियाँ छाती को पार कर गईं।

मैं भागा नहीं। भय से इधर-उधर मैंने देखा भी नहीं। रोया भी नहीं। मैंने उसे गोद में उठाया। मुँह की धूल पोंछी, रक्त साफ़ किया। आँखों में इतनी ही देर में कुछ-का-कुछ हो गया था। देर तक लिये बैठा रहा; जैसे माँ सोते बच्चे को—जागने के भय से—लिये निश्चल बैठी रहती है!

मैं उठा। ईंधन चुना, चिता बनाई और जलाई। अन्त तक बैठा रहा।

* * * *

बारहों प्रधान हाज़िर थे। उसी स्थान पर जाकर मैं खड़ा हुआ। नायक ने नीरव हाथ बढ़ाकर पिस्तौल माँगी। पिस्तौल दे दी। कार्य-सिद्धि का सङ्केत सम्पूर्ण हुआ। नायक ने खड़े होकर वैसे ही गम्भीर स्वर में कहा—"तेरहवें प्रधान की कुर्सी हम तुम्हें देते हैं।"

मैंने कहा—"तेरहवें प्रधान की हैसियत से मैं पूछता हूँ कि उसका अपराध मुझे बताया जाय।"

नायक ने नम्रतापूर्वक जबाब दिया—"वह हमारे हत्या-सम्बन्धी षड्यन्त्रों का विरोधी था, हमें उस पर सरकारी मुख़बिर होने का सन्देह था!" मैं कुछ कहने योग्य न रहा।

नायक ने वैसे ही गम्भीरता से कहा—"नवीन प्रधान की हैसियत से तुम यथेच्छ एक पुरस्कार माँग सकते हो।"

अब मैं रो उठा। मैंने कहा—"मुझे मेरे वचन फेर दो, मुझे मेरी प्रतिज्ञाओं से मुक्त करो, मैं उसी के समुदाय का हूँ। तुम लोगों में नङ्गी छाती पर तलवार के घाव खाने की मर्दानगी न हो, तो तुम अपने को देश-भक्त कहने में संकोच करो। तुम्हारी इन कायर हत्याओं को मैं

घृणा करता हूँ। मैं हत्यारों का साथी, सलाही और मित्र नहीं रह सकता, तुम तेरहवीं कुर्सी जला दो।"

नायक को क्रोध न आया। बारहों प्रधान पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे रहे। नायक ने उसी गम्भीर स्वर में कहा—"तुम्हारे इन शब्दों की सजा मौत है, पर नियमानुसार तुम्हें क्षमा पुरस्कार में दी जा सकती है।"

मैं उठकर चला गया।

दश वर्ष व्यतीत हो गये। देश-भर में घूमा, कहीं ठहरा नहीं; भूख-प्यास, विश्राम और शान्ति की इच्छा ही मर गई दीखती है। बस, अब वही पत्र मेरे नेत्र और हृदय की रोशनी है। मेरा वारण्ट निकला था। मन में आया, फाँसी पर जा चढ़ूँ; फिर सोचा, मरते ही उस सजन को भूल जाऊँगा, मरने में अब क्या स्वाद है? जीना चाहता हूँ। किसी तरह सदा जीते रहने की लालसा मन में बसी है, जीते-जी ही मैं उसे देख और याद कर सकता हूँ!

जीजाजी

कनागत बीत रहे थे। अँधेरी रात बादलों से घिर रही थी। रोगिणी ने अर्द्ध-तन्द्रावस्था में पुकारा—"जीजाजी !"

रोगिणी के पिता खाट के पास ही बैठे थे। उन्होंने भरे हुए कण्ठ से दिलासा देते हुये कहा—"बिटिया ! ऐसी अधीर मत हो, ज़रा धीरज धरो। अभी तो गाड़ी का समय है। तार तो ठीक समय पर पहुँच ही गया होगा; वह क्या रुकनेवाले हैं।"

रोगिणी ने मानों कुछ सुना ही नहीं। उसने वैसे ही अधीर और आर्त्तस्वर में पुकारा—"जीजाजी !"

बूढ़ा चुपचाप रोने लगा। द्वार पर शब्द हुआ। अमृतकला दौड़ी हुई आई, और उसने चिल्लाकर कहा—"जीजाजी आ गये !"

रोगिणी ने आँख खोली। उसकी अवस्था सर्वथा आशा-हीन थी। छाती का फोड़ा इधर छाती के पार था, उधर कमर के। सात महीने से करवट भी नहीं ले सकती। दोनों पैर मारे गये थे। एक हाथ रह

गया था—दूसरे में हिलने की शक्ति नहीं थी। दस्तों की गिनती न थी। खाट काट दी गई थी। सिर्फ एक सुभीता था, वह सिर को यथेच्छ हिला सकती थी। आँख खोलकर उसने द्वार की ओर सिर फेरा।

एक श्याम-वर्ण के युवक ने घर में प्रवेश किया। उसके एक हाथ में फलों का रूमाल था, और दूसरे में चमड़े का बेग। दोनों वस्तुओं को वह नीचे न रख सका, वज्राहत की तरह मुमूर्षु स्त्री के मुख को देखने लगा।

एकाएक उसी उन्मत्त और विकल स्वर में रोगिणी चिल्ला उठी—"जीजाजी!"

बन्दूक की गोली की तरह यह क्रन्दन युवक के मस्तक में घुस गया। उसने देखा, रोगिणी के नेत्रों में सदा की लज्जा या संकोच नहीं है। उसकी आँखों से आँसू टपक पड़े। उसने अवरुद्ध कण्ठ से सास की ओर देखकर कहा—"क्या पहिचानती नहीं हैं?" बूढ़ा फूट कर रो पड़ा, और बुढ़िया पछाड़ खा कर खाट पर झुक गई। उसने कहा—"मेरी बच्ची! ज़रा देख तो, ये तेरे पूज्य पतिदेव हैं।"

वैसे ही स्वर में रोगिणी ने फिर नाद किया—"जीजाजी!" इसके बाद उसका सारा शरीर थर-थर काँपने लगा, और दाँत कटकटाने लगे।

युवक ने घबराकर कहा—"दवा, दवा, दवा लाओ—यह क्या हो रहा है!" कुछ ही क्षण में रोगिणी सचेत सावधान हो गई। युवक खाट के किनारे बैठकर रोने लगा। धीरे-से, किन्तु बड़े कष्ट से, अपना सूखा लकड़ी-सा हाथ युवक के कन्धे पर रखकर उसने कहा—"रोओ मत जीजाजी।"

इस स्वर में वह उन्माद न था, वह विकलता भी न थी। एक ठण्डा—बहुत ही ठण्डा—धैर्य था। बूढ़ा और बुढ़िया वहाँ खड़े न रह सके। युवक ने देखा, रोगिणी की पथराई हुई आँखें चिर बिदा माँग

रही हैं। आँखें चार होते ही उनमें अश्रु-धारा बह चली। युवक के मुँह से शब्द नहीं निकला—वह अनन्त रुदन रो रहा था।

फिर वही हाहाकार गूँज उठा—"जीजाजी!" घर का वातावरण कम्पायमान हो गया। युवक ने अधीर होकर कहा—"इस तरह मत पुकारो प्यारी! मैं तो तुम्हारा लुटा हुआ दास हूँ। क्या तुम मुझे पहचानती भी नहीं हो?"

रोगिणी ने क्षीण स्वर में कहा—"बड़ी मुश्किल से पहचाना है; अब भुलावा मत दो जीजाजी!" इतना कहकर उसने अपनी बर्फ़ के समान ठण्डी और सफ़ेद उँगलियों से युवक का हाथ छू लिया।

उसके हाथ को आदर से अपने हाथ में लेकर युवक ने विकृत स्वर में कहा—"तो क्या धर्म से हम दोनों पति-पत्नी नहीं हैं?"

रोगिणी पर पति की रोती हुई करुणा-पूर्ण बात का कुछ भी असर नहीं पड़ा। न वह रोई, न काँपी। उसने स्थिर स्वर में कहा—"ना"

"ना?"—यह युवक ने चकित होकर पूछा।

उस बार रोगिणी रो उठी। शीघ्र ही उसकी हिचकियाँ बँध गईं। कुछ देर बाद उसने कहा—"हम लोगों का ब्याह कब हुआ था? वह एक भूल थी, जो अब सुधर रही है। तुमने अमृतकला की जगह मेरा हाथ पकड़ लिया जीजाजी। अब मैं अपने घर जाती हूँ। तुम्हारी जोड़ी सलामत रहे।"

युवक ने अन्त को अधीर होकर दोनों हाथों से उसका मुँह बन्द कर दिया, और पागल की तरह कहा "ना ना बस करो। यह नहीं सुना जाता। कदापि नहीं। इसके सुनने में भी पाप है।"

रोगिणी ने मुँह पर से हाथ हटाकर कहा—"इतनी शक्ति नहीं है कि तुम्हारे इतने ज़ोर-जुल्म सहूँ। अच्छा, तुम्हें क्या ब्याह की बात याद है?"

युवक ने 'हाय' करके कहा—"वह दिन तो बिना याद किये ही याद रहता है—कैसा उत्साह और जीवन का वह दिन था ?"

"फिर ? वह सुख, उत्साह और जीवन कहाँ गया ?"

"यही, मेरे सामने ही पड़ा है।"

युवक मुँह ढाँपकर रोने लगा।

रोगिणी ने गद्गद स्वर में कहा—"यही भूल थी। तुमने भूल से पराई वस्तु ले ली थी; सो तृप्त होकर उसे कैसे भोग सकते थे, जीजाजी ? मैं सिर्फ़ एक दफ़े तीन दिन के लिये तुम्हारे घर गई थी। हम लोगों ने परस्पर एक दूसरे को न देखा, न छुआ। हम दोनों पवित्र हैं।"

"मेरा-तुम्हारा इतना ही भोग था।"

"वही तो जीजाजी ! सो हमने भोग लिया। अब असली अधिकारी को भोगने दो।"

"असली अधिकारी कौन ?"

"अमृतकला।"

"ना, यह नहीं होने का।"

"यह अवश्य होने का है। करो, बहस करो, मुझ मरती हुई से करो बहस।" इतना कहने पर वह एकदम बदहवास हो गई। उसकी आँखें पथरा गईं।

युवक चुपचाप दोनों हाथों से मुँह ढाँपकर रोने लगा। पीछे से किसी के हाथ का स्पर्श पाकर जो फिरकर देखा, तो बुढ़िया सास खड़ी थी। उसने कहा—"आज एक सप्ताह से इसने 'जीजाजी' की धुन बाँध रक्खी है। इसी की बात रहे बेटा ! अमृतकला को ही पैर धोने दो।" युवक ने देखा, बुढ़िया के पीछे बूढ़े ससुर भी करुणादृष्टि से यही विनय कर रहे हैं।

युवक ने हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहा—"ना माँ! मुझसे यह पाप न होगा।"

बूढ़े ने अपनी दाढ़ी हाथ में ले और आगे बढ़कर युवक के आगे झुककर कहा—"मेरी सफेदी की ओर तो देखो! मुझे अकेला मत छोड़ो— बिटिया की ही बात रक्खो।"

युवक ने बड़े ही दुख के साथ कहा—"ना, ना, मुझसे यह न होगा।"

रोगिणी ने धीमे और उखड़े हुए स्वर में कहा—"तो जाने दो, मैं भी नहीं मरूँगी। इसी यन्त्रणा में पड़ी-पड़ी सदा सड़ती रहूँगी। और, जो कहीं बिना इच्छा के ही मेरा दम निकल गया, तो भी मेरी आत्मा यहीं मड़राती रहेगी। हम सब में से कोई भी सुखी नहीं रहेगा जीजाजी!

उसके सूखे और पीले मुख पर आँसू ढुलकने लगे। पहिले हिचकियाँ आई, पीछे हुचकी आने लगी, और उन्हीं हुचकियों के साथ उसकी पसलियाँ चलने लगीं। आँखें बाहर निकल आईं। चेहरे पर मुर्दनी छा गई। अमृतकला 'हाय जीजी! हाय जीजी' चिल्ला उठी।

तीनों विमूढ़ हो गये। युवक ने देखा, बूढ़ा और बुढ़िया, दोनों टूटे दिल से उसकी ओर देख रहे हैं। उसने लज्जा से मुँह ढाँपकर कहा— "यह जो कहेगी, वही करूँगा—पर, हाय! ईश्वर!" कहता हुआ युवक धरती पर बैठ गया।

रोगिणी ने धीरे-धीरे आँखें खोल कर जल माँगा। फिर उसने कहा— "कहाँ है अमृत, उसे मेरे पास लाओ।"

घर-भर छान डाला गया। अमृतकला गई कहाँ? वह छत पर बूँदों से भीगती हुई, पड़ी, मुँह छिपाए सिसक-सिसक कर रो रही थी। बाप को देखते ही वह धाड़ मारकर रो उठी।

वृद्ध ने बड़े दुलार से उसे गोद में उठा लिया, और रोगिणी के पास लाया। वह रो रही थी, सिकुड़ रही थी, और मरी-सी जाती थी। सब ने देखा, इतने ही समय में वह बालिका पीली पड़ गई है। कमरे में घुसते ही उसने कहा—"ना, ना, जीजी ! मैं मर जाऊँगी, ना ना-ना।"

यों कहकर अपने को छुड़ाकर वह भाग जाने के लिए छटपटाने और हाथ-पैर मारने लगी।

माँ ने कहा—"बेटी, जीजी की ओर तो देख। फिर वह कहाँ देखने को मिलेगी ? कब कुछ कहने आवेगी ?"

रोगिणी ने सतेज स्वर में—"बहन ! इधर आ।" इतना कहकर बालिका का हाथ पकड़ लिया। एक नवीन बल उसके शरीर में जैसे आ गया।-बालिका ने रोते-रोते बदहवास होकर कहा—"मैं नहीं, मैं नहीं, जीजी !"

रोगिणी ने उधर न देखकर युवक से कहा—"यहाँ आओ जीजा-जी !" पत्थर की मूर्ति की तरह युवक वहीं खड़ा रहा। उसके सारे शरीर से पसीना बह चला। एक बार उसने कातर दृष्टि से स्त्री की ओर देखा। उस समय रोगिणी की दृष्टि निस्पन्द धारा में असंख्य अनुनय-विनय बरसा रही थी। वह कैसी विनय थी, जो उठती जवानी की सब काम-नाओं के अन्तिम छोर से प्रारम्भ होती थी। वह कैसा कटाक्ष था, जिसमें निराशा के सूखे बादलों के बीच केवल एक अनुनय की कालिमा थी। युवक न देख सका। वह वध-स्थान पर बकरे की तरह रोगिणी के पास जा खड़ा हुआ। रोगिणी चन्द्रकला ने झट अमृतकला का हाथ उसके हाथ में देकर कहा—"तुम दोनों आदमी सुख से रहना।"

इसके बाद वह थकावट से शिथिल हो गई; किन्तु क्षण-भर के बाद ही उसके मुख पर मुसकराहट आई। उसने उत्साह से पुकारा "जीजाजी !"

इस बार इस ध्वनि में न वह उन्माद था, न हाहाकार ! उस मध्य-रात्रि में वह मानों बिहाग रागिनी का एक स्वर था। पर यह स्त्री-हृदय का अन्तिम उकास था। उस हर्ष के उद्वेग में एकाएक उसके हृदय का स्पन्दन बन्द हो गया। मुसकराने को जो दाँत निकले थे, वे निकले ही रह गए। मस्तानी रागिनी का जो स्वर था, वह बीच ही में टूट गया। पक्षी उड़ गया, पींजरा पड़ा रह गया।

पं० बदरीनाथ भट्ट

रचनाकाल
लगभग, १९१४ ई०

जन्म १९४८ वि०　　मृत्यु १९९१ वि०

मुंसिफ़ साहब की मरम्मत

अपने गाँव में मिसुरजी की पूरी धाक है। वे जिसकी जानको आ जाते हैं उसका कचूमर ही निकाल देते हैं। उन्होंने मुसलमानों द्वारा बाजपेयियों की लड़की उड़वा दी; तिवारीजी के यहाँ चोरी करा दी; ठाकुर बेड़नी सिंह की फ़सल रातों-रात कटवा कर गायब कर दी, और अनगिनती किसानों को मरने से पहले ही नरक-यातनायें भुगतवा दी। यों कहने के लिये उनके यहाँ खेती होती है, परन्तु सच पूछा जाय तो होते उनके यहाँ बहुत से काम हैं। अभी हाल ही में उन्होंने अपनी विधवा बहिन की दस वर्ष की लड़की पंजाबियों के हाथ बेची है। दूर-दूर के कसाई उनके यहाँ गाय-बैल मोल लेने आते हैं। और भी ऐसे ही अनेक शुभकर्म, जिन्हें पुराने आदमी सदा से करते आये हैं, मिसुरजी अब तक करते रहते हैं जिससे सनातनधर्म की जड़ न उखड़ जाय इस देश से।

मिसुरजी का काम वकीलों से दिन-रात पड़ता रहता था। इसलिये मिसुरजी ने सोचा कि अपने पुत्र बाराहीदीन को वकील बनावें, जिससे और कुछ नहीं तो फ़ीस की ही बचत हो, क्योंकि मुक़दमेबाज़ी की तो 'जब तक स्वासा तब तक आशा' थी ही, बस, उन्होंने पुत्र को पढ़ाने के लिये आगरे भेज दिया और भेजते समय ललकार कर कह दिया कि 'धरम-करम से रहियो ख़बरदार किसी के हाथ का खाया तो।' पुत्र रेंगता-रेंगता एफ़० ए० तक आया, पर कम्बख़्त बिगड़ गया, क्योंकि उसके हृदय में दुखियों के प्रति दया और देश के प्रति प्रेम का घुन न जाने कैसे और कब लग गया! परन्तु जब तक वह कालेज में रहता तभी तक देश-भक्ति की बातें करता था, घर जाते ही पिता के डर से भीगी बिल्ली बन जाता था। जब एफ़० ए० की परीक्षा देने को हुआ तभी उसके विवाह की साइत निकली। जब उसने पिता से हाथ जोड़ कर कहा कि पढ़ने में हर्ज होगा तो पिताने गर्ज-तर्जकर उत्तर दिया, "पास नहीं होगा तो फिर परीक्षा दे लेना; परीक्षा तो हर साल होती है। क्या विवाह भी हर साल होता है? छः हजार रुपयों को नहीं देखता है?" पुत्र चुप हो रहा।

विवाह एक जमींदार की लड़की से निश्चय हुआ था जिनके एक भाई भूपाल-इन्फ़ैण्ट्री नाम की पल्टन में जमादार थे। विवाह के लिये लड़की को देखने की आवश्यकता नहीं समझी गई थी, केवल छः हजार रुपये ठहरौनी के तय कर लिये गये थे। अस्तु, लड़का मन-ही-मन कुढ़ा किया, मर मिसुरजी ने इसकी कुछ भी परवा न करके विवाह का सरंजाम कर डाला। यथा समय विवाह हुआ, परन्तु बिदा के समय टंटा खड़ा हो गया। वरिच्छा में ३००) ले चुके थे, फलदान में १०००); बाकी रक़म भेंटों में ले ली थी। इसके अतिरिक्त, एक घोड़ा लिया, एक बाइसिकिल,

एक घड़ी—फिर भी मन न भरा, और मिसुरजी ने नादिरशाही हुक्म भेजा कि 'बेला' का ५००) शीघ्र भेजो। कन्या-पक्षवालों को यह बात बहुत बुरी लगी, परन्तु उन्होंने गरमी न दिखाकर नरमी से ही मिसुरजी को समझाना चाहा। पर मिसुरजी ने ज़मींदारी या भूपाल इन्फ़ैण्ट्री की परवा न करके कह दिया कि रुपया लाते हो तो लाओ, वरना हम लड़की को ले ही न जायँगे। हमारे यहाँ तो सनातन से जो होता आया है वही होगा। न मानो तो धर रखो अपनी लड़की को।

मिसुरजी की आग ने कन्या-पक्षवालों के लौह-हृदयको कुछ पिघला दिया और वे २५०) देनेपर राज़ी हो गये, पर मिसुरजी ने एक न मानी। परिणाम यह हुआ कि इक्के में बैठी हुई, क्रन्दन करती हुई, सनातनधर्म के मर्म और ब्राह्मण-स्वभाव-सुलभ हृदय-हीनता से अपरिचित, निरपराधिनी नवबधू को मिसुरजी ने टांग पकड़ कर नीचे घसीट सड़क में डाल दिया और बरात को लौटा ले गये। लड़का अपमान और क्षोभ से जला जा रहा है, इसकी उन्होंने तनिक भी परवाह न की। जब वह कालेज जायगा तब सब सहपाठी उससे तरह-तरह के प्रश्न करेंगे, उस समय उस पर क्या बीतेगी, इसकी चिन्ता मिसुरजी को रत्ती-भर भी नहीं थी। जो घटना हुई वह लड़के को अनुचित लग रही थी, लेकिन इन बातों के अभ्यस्त दूसरे लोगों को उसमें उसी प्रकार साधारणता दीख रही थी जिस प्रकार कसाई को गाय की हत्या करने में कोई असाधारणता प्रतीत नहीं होती। जो कुछ उन्होंने किया, उसके लिये ब्राह्मण-समाज में मिसुरजी की बुराई किसी ने भी नहीं की। बुराई तो तब की जाती, जब वे ठहरौनी न लेते, या बिना झगड़ा-टंटा किये विवाह कर लाते। नवयुवक वर अपना मन मसोसकर रह गया, पर मन-ही-मन उसने निश्चय कर लिया कि अब दूसरा विवाह कभी न करूँगा और जैसे बनेगा वैसे इसी से प्रेम निबाहूँगा।

मिसुरजी ने गांव में आते ही दूसरी जगहों से आये-हुए संदेशों पर विचार करना आरम्भ कर दिया, पर ठहरौनी के कारण बाधा पड़ती गई। मिसुरजी की ब्रह्म-राक्षसता देखकर भी लोग अपनी कन्या इनके यहां देने को उत्सुक थे, इस बात को कुछ लोग अस्वाभाविक समझेंगे, पर उन्हें क्या मालूम कि जिस ब्राह्मण-समाज के विषय में यहां लिखा जा रहा है, उसकी क्या दशा है? यह बिल्कुल सच्चा चित्र है, कल्पना-मूलक नहीं। अस्तु, जब एक जगह तय हुई तब लड़का चुप न रहा और उसने साफ़ कह दिया कि लीडरशिपकी परीक्षा में एक महीना शेष है; उसके हो जाने पर देखा जायगा। लड़के में साहस कुछ बढ़ गया देखकर मिसुरजी पहले तो कुपित हुए, फिर लोगों के समझाने-बुझाने से पिचक गये; पर लड़के से बोल-चाल कम कर दी।

लीडरशिपकी परीक्षा समाप्त होते ही फिर यह चर्चा धूम से छिड़ गई। साइत देखी जाने लगी। अगले सहालग में एक तिथि निश्चित हुई। कुछ दिनों में लीडरशिपका परिणाम निकल गया। लड़का पास हो गया। मिसुरजी फूलकर कुप्पा हो गये और झटपट दावात-क़लम लेकर कन्या-पक्ष के लोगों को लड़के के पास होने की सूचना देते हुये लिख दिया कि 'अब एक हजार अधिक देना होगा।'

लड़के ने सोचा कि सहनशीलता की सीमा होती है। पूज्यपन के ढोंग में छिपी हुई नृशंसता, अधर्म और अन्याय की सीमा होना चाहिये। आज साहस-हीन नवयुवक ही धर्म के नाम पर अधर्म और सत्य के स्थान पर ढोंग की जड़ जमा रहे हैं। अब समय आ गया है कि मैं पिताजी से खुल खेलूँ। यही सब सोचकर उसने मिसुरजी से साफ़ कह दिया कि दूसरे विवाह का वे स्वप्न भी न देखें, यदि उनकी इच्छा हो तो पहली बहू को ही बुला लें।

इस बात को सुनते ही मिसुरजी आपे से बाहर हो गये और लड़के को मारने दौड़े। लोगों ने बचाया। गालियों का बाज़ार गर्म करते हुये मिसुरजी भीतर पहुँचे और अपनी स्त्री को रुई की भांति धुन डाला। यह सब लीला देखकर लड़का घर से भाग गया और अपने एक मित्रके यहां, घर से दो सौ मील दूर, जा बैठा। मित्र से उसने सब हाल कहा। मित्र भी नये एल-एल० बी० थे। उनकी सलाह से लड़का अपनी ससुराल के पास ही एक नगर में वकालत करने लगा। काम प्रारम्भ करने के लिये ससुरालवालों ने उसे धन से सहायता दी और लड़की भी उसके साथ कर दी।

बाराहीदीन के हृदय में दया थी, दीन-दुखियों के लिये समवेदना थी; अतएव कुछ ही दिनों में उसका काम चल निकला। वह 'पूज्य पिताजी' को सप्ताह में एक बार पत्र डाल दिया करता था पर 'पूज्य पिताजी' उस पत्र को लेकर गांव की चौपार पर आ बैठा करते और अपने ही लड़के को चिल्ला-चिल्लाकर मा-बहन की गालियां सुनाया करते थे। उसके लिये अधर्मी, विधर्मी, ईसाई, आर्या, किरानी आदि विशेषणों का प्रयोग करना तो कोई बात ही नहीं थी। दो वर्ष बाद अन्त में एक पत्र उन्हें ऐसा मिला जिसने उन्हें पूरा सिड़ी बना दिया, आधे तो वे पहले-ही-से थे। पत्र में लिखा था—'आपके यहां पौत्र का जन्म हुआ है।'

'लड़का ससुरा बिगड़ गया है' इसलिये मिसुरजी ने सोचा कि झट-पट उससे ऊपरी मेल कर के पौत्र को हथिया लेना चाहिये, वरना सम्भव है वह वरिच्छा, लगन आदि के विषय में ठगा जाय। अब मिसुरजी दिन-रात इसी संकल्प-विकल्प में रहने लगे, और जन्म-भर पुत्र का मुख न देखने की उनकी प्रतिज्ञा ढीली पड़ने लगी। अन्त में एक दिन उन्होंने गांव के लोगों से कहा, "मैं तो साले लड़के का और उसके लड़के का

क्या, उसके बाप-दादे का भी मुँह कभी न देखता, पर तुम सब लोग कहते हो तो चला जाऊँगा !" यों कहकर तमाखू की फंकी लगाते हुए वे घर को चले गये।

बाराहीदीन का वह मित्र अब मुंन्सिफ़ हो गया था। वह बाराहीदीन के बहुत आग्रह करने पर उसके यहां आया हुआ था। बाराहीदीन ने उसे मुंसिफ़ी मिलने के उपलक्ष्य में बड़ा भारी जलसा किया था। वह जलसा कल रात को था। दिन-भर मिलने-जुलनेवालों की धूमधाम रही। अतएव मुन्सिफ़ और बाराहीदीन दोनों ही रात को जल्दी सो रहे। जब वे बेहोश हो गये तब कोई दस बजे मिसुरजी वहां जा पहुँचे और गला फाड़-फाड़ कर सारे मोहल्ले को जगा दिया। पुत्र ने पिता के पैर छुये और जिस कमरे में मुंसिफ़ साहब सो रहे थे उसी में एक पलंग डलवा दिया और पानी-वानी रखवा दिया। ये भी दिन-भर के थके हुये थे, इसलिये इन्हें भी लेटते तड़ाक नींद आ गई। स्वप्न में इन्होंने देखा कि पौत्र विधाता-दीन बड़ा हो गया और एक डिप्टी कलक्टर बाजपेयीजी की लड़की से उसका विवाह ७०००) ठहरौनी लेकर हो रहा है। सब देन-लेन, नेग-जोग के पश्चात् जब बिदा का समय आया तब मूर्ख बाराहीदीन चुप है, यह नहीं कि हज़ार-दो-हज़ार रुपया मांगे। बस, आप चट चिल्ला उठे, "हमारा लड़का साला उल्लूका बच्चा है जो चुप-चाप बुत-सा खड़ा है। 'बेला' में हम दो हज़ार से कौड़ी कम न लेंगे।" मुन्सिफ़ साहब ने कुछ आहट-सी सुनकर करवट ली, तब तक मिसुरजी ने सुपने में देखा कि बाजपेयीजी कुछ लोगों को लेकर आ गये हैं और कह रहे हैं कि 'लड़की को न ले गये तो बचकर न जाओगे।' यह अपमानभरी ललकार भला मिसुरजी कब सह सकते थे, ऐसे-ऐसे न जानें कितने बाजपेयियों के मांझने वे ढीले कर चुके थे। चट कूदकर वे

मुन्सिफ़ साहब के पलंग पर जा पहुँचे और लगे घूँसों की मार से 'बाज
पेयीजी' के छक्के छुड़ाने। मुन्सिफ़ साहब दिन-रात 'ऐनो का फ्रूट-साल्ट'
आदि रेचक औषधियां खाकर भोजन को अंग न लगाने वाले पतले
दुबले कायस्थ लाला थे; दो-ही-चार कान्यकुब्जी हाथ खाकर बेहोश हो
गये। हल्ला-गुल्ला सुनकर लीडर साहब और नौकर-चाकर दौड़ पड़े।
मिसुरजी कड़क कर बोले, "आओ सालो, तुम भी आओ, तुम्हारा भी
बाजपेयी-पन निकालूँ।" यों कहकर उन्होंने उधर भी घूँसों और थप्पड़ों
की वर्षा प्रारम्भ करते हुए कहा, "दो हज़ार रखवा लूँगा, दो हज़ार!"
किसी ने बिजली की बत्ती खोल दी, प्रकाश जो हुआ तो मिसुरजी को
भी चेत हुआ। अपनी करनी पर उन्हें पश्चात्ताप हुआ या नहीं यह तो
नहीं मालूम, पर मुन्सिफ़ साहब से उन्होंने क्षमा-प्रार्थना करना उचित
न समझा, क्योंकि कहां वे ब्राह्मण-श्रेष्ठ मिश्र और कहाँ वह आधा
मुसलमान कायस्थ लाला! बाराहीदीन के हृदय पर क्या बीती, यह सोच
लेने की बात है, लिखने की नहीं।

श्री शिवपूजन सहाय

जन्मकाल रचनाकाल

१९५० वि० १९१४ ई०

कहानी का प्लॉट

मैं कहानी-लेखक नहीं हूँ। कहानी लिखने-योग्य प्रतिभा भी मुझ में नहीं है। कहानी-लेखक को स्वाभावतः कला-मर्मज्ञ होना चाहिये, और मैं साधारण कलाविद् भी नहीं हूँ। किन्तु कुशल कहानी-लेखकों के लिये एक 'प्लॉट' पा गया हूँ। आशा है, इस 'प्लॉट' पर वे अपनी भड़कीली इमारत खड़ी कर लेंगे।

* * * *

मेरे गाँव के पास एक छोटा-सा गाँव है। गाँव का नाम बड़ा गवारू है, सुनकर आप घिनायेंगे। वहाँ एक बूढ़े मुन्शीजी रहते थे—अब वह इस संसार में नहीं हैं। उनका नाम भी विचित्र ही था—"अनमिल आखर अर्थ न जापू"—इसलिये उसे साहित्यिकों के सामने बताने से हिचकता हूँ। ख़ैर, उनके एक पुत्री थी, जो अब तक मौजूद है। उसका नाम—जाने दीजिये, सुनकर क्या कीजियेगा? मैं बताऊँगा

भी नहीं ! हाँ, चूँकि उनके सम्बन्ध की बातें बताने में कुछ सहूलियत होगी, इसलिये उसका एक कल्पित नाम रख लेना ज़रूरी है। मान लीजिये, उसका नाम है 'भगजोगनी'। दिहात की घटना है, इसलिये दिहाती नाम ही अच्छा होगा। ख़ैर, पढ़िये—

मुन्शीजी के बड़े भाई पुलिस-दरोग़ा थे—उस ज़माने में, जबकि अँग्रेज़ी जाननेवालों की संख्या उतनी ही थी, जितनी आज धर्म-शास्त्रों के मर्म जाननेवालों की है। इसलिये उर्दू-दाँ लोग ही ऊँचे ओहदे पाते थे। दारोग़ाजी ने आठ-दस पैसे का करीमा-ख़ालिक़बारी पढ़कर जितना रुपया कमाया था, उतना आज कॉलेज और अदालत की लाइब्रेरियाँ चाटकर वकील होनेवाले भी नहीं कमाते।

लेकिन दारोग़ाजी ने जो-कुछ कमाया, अपनी ज़िन्दगी में ही फूँक-ताप डाला। उनके मरने के बाद सिर्फ़ उनकी एक घोड़ी बची थी, जो थी तो महज़ सात रुपये की, मगर कान काटती थी तुर्की घोड़ों की—कम्बख़्त बारूद की पुड़िया थी ! बड़े-बड़े अँग्रेज़-अफ़सर उस पर दाँत गड़ाये रह गये, मगर दारोग़ाजी ने सब को निबुआ-नोन चटा दिया। इसी घोड़ी की बदौलत उनकी तरक्क़ी रुकी रह गई, लेकिन आख़िरी दम तक वह अफ़सरों के घपले में न आये—न आये। हर तरह से क़ाबिल, मेहनती, ईमानदार, चालाक, दिलेर और मुस्तैद आदमी होते हुए भी वह दारोग़ा-के-दारोग़ा ही रह गये—सिर्फ़ घोड़ी की मुहब्बत से !

किन्तु घोड़ी ने भी उनकी इस मुहब्बत का अच्छा नतीजा दिखाया—उनके मरने के बाद ख़ूब धूम धाम से उनका श्राद्ध करा दिया। अगर कहीं घोड़ी को भी बेच खाये होते, तो उनके नाम पर एक ब्राह्मण भी न जीमता। एक गोरे अफ़सर के हाथ ख़ासी रक़म पर घोड़ी को ही बेचकर मुन्शीजी अपने बड़े भाई से उऋण हुए।

दारोग़ाजी के ज़माने में मुन्शीजी ने भी खूब घी के दिये जलाये थे। गाँजे में बढ़िया-से-बढ़िया इत्र मलकर पीते थे—चिलम कभी ठंडी नहीं होने पाती थी। एक जून बत्तीस बटेर और चौदह चपातियाँ उड़ा जाते थे। नथुनी उतारने में तो दारोग़ाजी के भी बड़े भैया थे—हर साल एक नया जल्सा हुआ ही करता था।

किन्तु, जब बहिया बह गई तब चारों ओर उजाड़ नज़र आने लगा। दारोग़ाजी के मरते ही सारी अमीरी घुस गई। चिलम के साथ-साथ चूल्हा-चक्की भी ठंडी हो गई। जो जीभ एक दिन बटेरों का शोरबा सुड़कती थी, वह अब सराह-सराहकर मटरका सत्तू सरपोटने लगी। चपातियाँ चाबनेवाले दाँत अब चन्द चने चबाकर दिन गुज़ारने लगे। लोग साफ़ कहने लग गये—थानेदारी की कमाई और फूस का तापना दोनों बराबर हैं।

हर साल नई नथुनी उतारने वाले मुन्शीजी को गाँव-जवार के लोग भी अपनी नज़रों से उतारने लगे। जो मुन्शी जी चुल्लू-के-चुल्लू इत्र लेकर अपनी पोशाकों में मला करते थे, उन्हीं को अब अपनी रूखी-सूखी देह में लगाने के लिये चुल्लू-भर कड़वा तेल मिलना भी मुहाल हो गया। शायद क़िस्मत की फटी चादर का कोई रफूगर नहीं है

लेकिन ज़रा क़िस्मत की दोहरी मार तो देखिये। दारोग़ाजी के ज़माने में मुन्शीजी के चार-पाँच लड़के हुए, पर सब-के-सब सुबह के चिराग़ हो गये। जब बेचारे की पाँचों उँगलियाँ घी में थीं, तब तो कोई खानेवाला न रहा, और जब दोनों टाँगें दरिद्रता के दलदल में आ फँसीं, और ऊपर से बुढ़ापा भी कन्धे दबाने लगा, तब कोढ़ में खाज की तरह एक लड़की पैदा हो गई! और तारीफ़ यह कि मुन्शीजी की बदक़िस्मती भी दारोग़ाजी की घोड़ी से कुछ कम स्थावर नहीं थी।

सच पूछिये तो इस तिलक-दहेज के ज़माने में लड़की पैदा करना ही बड़ी भारी मूर्खता है। किन्तु युग-धर्म की क्या दवा है? इस युग में अबला ही प्रबला हो रही हैं—पुरुष-दल को स्त्रीत्व खदेड़े जा रहा है। बेचारे मुन्शीजी का क्या दोष? जब घी और गरम मसाले उड़ाते थे, तब तो हमेशा लड़का ही पैदा करते रहे; मगर अब मटर के सत्तू पर बेचारे कहाँ से लड़का निकाल लायें! सचमुच अमीरी की क़ब्र पर पनपी हुई ग़रीबी बड़ी ज़हरीली होती है।

२

'भगजोगनी' चूँकि मुन्शीजी की ग़रीबी में पैदा हुई, और जन्मते ही माँ के दूध से वंचित होकर 'टूअर' कहलाने लगी, इसलिये अभागिन तो अज़हद थी—इसमें शक नहीं, पर सुन्दरता में वह अँधेरे घर का दीपक थी। आजतक वैसी सुघर लड़की किसी ने कभी कहीं देखी न थी।

अभाग्यवश मैंने उसे देखा था। जिस दिन पहले-पहल उसे देखा, वह क़रीब ११-१२ वर्ष की थी। पर एक ओर उसकी अनोखी सुघराई और दूसरी ओर उसकी दर्दनाक ग़रीबी देखकर—सच कहता हूँ—कलेजा काँप गया! यदि कोई भावुक कहानी-लेखक या सहृदय कवि उसे देख लेता, तो उसकी लेखनी से अनायास करुणा की धारा फूट-निकलती। किन्तु मेरी लेखनी में इतना ज़ोर नहीं है कि उसकी ग़रीबी के भयावने चित्र को मेरे हृदय-पट से उतारकर 'सरोज' के इस कोमल 'दल' पर रख सके। और, सच्ची घटना होने के कारण, केवल प्रभावशाली बनाने के लिये, मुझसे भड़कीली भाषा में लिखते भी नहीं बनता। भाषा में ग़रीबी को ठीक-ठीक चित्रित करने की शक्ति नहीं होती, भले ही वह राज-महलोंकी ऐश्वर्य-लीला और विलास-वैभव के वर्णन् करने में समर्थ हो।

आह ! बेचारी उस उम्र में भी कमर में सिर्फ़ एक पतला-सा चिथड़ा लपेटे हुए थी, जो मुश्किल-से उसकी लज्जा ढकने में समर्थ था। उसके सिर के बाल तेल बिना बुरी तरह बिखरकर बड़े डरावने हो गये थे। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में एक अजीब ढँग की करुण-कातर चितवन थी। दरिद्रता-राक्षसी ने सुन्दरता-सुकुमारी का गला टीप दिया था।

कहते हैं, प्रकृत सुन्दरता के लिये कृत्रिम शृङ्गार की ज़रूरत नहीं होती; क्योंकि जंगल में पेड़ की छाल और फूल-पत्तियों से सजकर शकुन्तला जैसी सुन्दरी मालूम होती थी, वैसी दुष्यन्त के राजमहल में सोलहो-सिङ्गार करके भी वह कभी न फबी। किन्तु, शकुन्तला तो चिन्ता और कष्ट के वायु-मण्डल में नहीं पली थी। उसके कानों में उदर-दैत्य का कर्कश हाहाकार कभी न गूँजा था। वह शान्ति और सन्तोष की गोद में पलकर सयानी हुई थी, और तभी उसके लिये महाकवि 'शैवाल-जाल-लिप्तकमलिनी'-वाली उपमा उपयुक्त हो सकी। पर 'भगजोगनी' तो ग़रीबी की चक्की में पिसी हुई थी, भला उसका सौन्दर्य कब खिल सकता था ! वह तो दाने-दाने को तरसती रहती थी—एक बित्ता कपड़े के लिये भी मुहताज थी। सिर में लगाने के लिये एक चुल्लू असली तेल भी सपना हो रहा था—महीने के एक दिन भी भर-पेट अन्न के लाले पड़े थे। भला हड्डियों के खँड़हर में सौन्दर्य-देवता कैसे टिके रहते ?

उफ् ! उस दिन मुन्शीजी जब रो-रोकर अपना दुखड़ा सुनाने लगे, तो कलेजा टूक-टूक हो गया। कहने लगे—"क्या कहूँ बाबू साहब, पिछले दिन जब याद आते हैं, तो ग़श आ जाता है। यह ग़रीबी की मार इस लड़की की वजह से और भी अखरती है। देखिये, इसके सिर के बाल, कैसे खुश्क और गोरखधन्धारी हो रहे हैं। घर में इसकी माँ होती, तो कम-से-कम इसका सिर तो जूँओं का अड्डा न होता। मेरी आँखों की

जोत अब ऐसी मन्द पड़ गई कि जूँएँ सुझती नहीं। और, तेल तो एक बूँद भी मयस्सर नहीं। अगर अपने घर में तेल होता, तो दूसरे के घर जाकर भी कंघी-चोटी करा लेती—सिर पर चिड़ियों का घोंसला तो न बनता। आप तो जानते हैं, यह छोटा-सा गाँव है, कभी साल-छमासे में किसी के घर बच्चा पैदा होता है, तो इसके रूखे-सूखे बालों के नसीब जागते हैं! गाँव के लड़के, अपने-अपने घर, भर-पेट खाकर, जो झोलियों में चबेना लेकर खाते हुए घर से निकलते हैं, तो यह उनकी बाट जोहती रहती है—उनके पीछे-पीछे लगी फिरती है; तो भी मुश्किल से दिन में एक-दो मुट्ठी चबेना मिल पाता है। खाने-पीने के समय किसी के घर पहुँच जाती है, तो इसकी डीठ लग जाने के भय से घरवालियाँ दुरदुराने लगती हैं। कहाँ तक अपनी मुसीबतों का बयान करूँ, भाई साहब, किसी की दी हुई मुट्ठी-भर भीख लेने के लिये इसके तन पर फटा आँचल भी तो नहीं है! इसकी छोटी अँगुलियों में ही जो-कुछ अँट जाता है, उसी से किसी तरह पेट की जलन बुझा लेती है! कभी-कभी एक-आध फंका चना-चबेना मेरे लिये भी लेती आती है; उस समय हृदय दो-टूक हो जाता है। किसी दिन, दिन-भर घर-घर घूम कर जब शाम को मेरे पास आकर धीमी आवाज़ से कहती है, कि बाबू जी, भूख लगी है—कुछ हो तो, खाने को दो, उस वक्त, आप से ईमानन् कहता हूँ, जी चाहता है कि गले-फाँसी लगा कर मर जाऊँ, या किसी कुएँ-तालाब में डूब मरूँ। मगर फिर सोचता हूँ, कि मेरे सिवा इसकी खोंज-खबर लेने वाला इस दुनिया में अब है-ही कौन! आज अगर इसकी माँ भी ज़िन्दा होती, तो कूट-पीस कर इसके लिये मुट्ठी-भर चून जुटाती—किसी क़दर इसकी परवरिश कर ही ले जाती; और अगर कहीं आज मेरे बड़े भाई साहब बरक़रार होते, तो गुलाब के फूल-सी ऐसी लड़की को हथेली का फूल बनाये रहते।

ज़रूर ही किसी 'रायबहादुर' के घर में इसकी शादी करते। मैं भी उनकी अन्धाधुन्ध कमाई पर ऐसी बेफ़िक्री से दिन गुज़ारता था कि आगे आने वाले इन बुरे दिनों की मुतलक़ खबर ही न थी। वह भी ऐसे ख़र्राच थे कि अपने कफ़न-काठी के लिए भी एक ख़रमुहरा न छोड़ गये—अपनी ज़िन्दगी में ही एक-एक चप्पा ज़मीन बेच खाई—गाँव-भर से ऐसी अदावत बढ़ाई कि आज मेरी इस दुर्गति पर भी कोई रहम करने वाला नहीं है, उल्टे सब लोग तानेज़नी के तीर बरसाते हैं। एक दिन वह था कि भाई साहब के पेशाब से चिराग़ जलता था, और एक दिन यह भी है कि मेरी हड्डियाँ मुफ़लिसी की आँच में मोमबत्तियों की तरह घुल-घुल कर जल रही हैं। इस लड़की के लिये आस-पास के सभी जवारी भाइयों के यहाँ मैंने पचासों फेरे लगाये, दाँत दिखाये, हाथ जोड़ कर विनती की, पैरों पड़ा—यहाँ तक बेहया होकर कह डाला कि बड़े-बड़े वकीलों, डिप्टियों और ज़मींदारों की चुनी-चुनाई लड़कियों में मेरी लड़की को खड़ी करके देख लीजिये कि सब से सुन्दर जँचती है या नहीं, अगर इसके जोड़ की एक भी लड़की कहीं निकल आये, तो इससे अपने लड़के की शादी मत कीजिये। किन्तु मेरे लाख गिड़गिड़ाने पर भी किसी भाई का दिल न पिघला। कोई यह कह कर टाल देता कि लड़के की माँ ऐसे घराने में शादी करने से इनकार करती है, जिसमें न सास है, न साला और न बरात की ख़ातिरदारी करने की हैसियत। कोई कहता कि ग़रीब-घर की लड़की चटोर और कंजूस होती है, हमारा ख़ान्दान बिगड़ जायगा। ज़्यादातर लोग यही कहते मिले कि हमारे लड़के को इतना तिलक-दहेज़ मिल रहा है, तो भी हम शादी नहीं कर रहे हैं, फिर बिना तिलक-दहेज़ के तो बात भी करना नहीं चाहते। इसी तरह, जितने मुँह उतनी ही बातें सुनने में आईं। दिनों का फेर ऐसा है कि जिसका मुँह न देखना चाहिये,

उसका भी पिछाड़ देखना पड़ा। महज़ मामूली हैसियतवालों को भी पाँच-सौ और एक हजार तिलक-दहेज फरमाते देख कर जी कुढ़ जाता है—गुस्सा चढ़ आता है। मगर गरीब ने तो ऐसा पङ्ख तोड़ दिया है कि तड़फड़ा भी नहीं सकता। साले हिन्दू-समाज के क़ायदे भी अजीब ढङ्ग के हैं। जो लोग मोल-भाव करके लड़के की बिक्री करते हैं, वे भले आदमी समझे जाते हैं, और कोई ग़रीब बेचारा उसी तरह मोल-भाव करके लड़की को बेचता है, तो वह कमीना कहा जाता है। मैं अगर आज इसे बेचना चाहता, तो इतनी काफी रक़म ऐंठ सकता था कि कम-से-कम मेरी ज़िन्दगी तो ज़रूर ही आराम से कट जाती। लेकिन जीते-जी हरगिज़ एक मक्खी भी न लूँगा। चाहे यह क्वाँरी रहे, या सयानी होकर मेरा नाम हँसाये। देखिये न, सयानी तो करीब-करीब हो ही गई है—सिर्फ़ पेट की मार से उकसने नहीं पाती, बढ़न्ती रुकी हुई है। अगर किसी खुशहाल घर में होती, तो अब तक फूट कर सयानी हो जाती—बदन भरने से ही खूबसूरती पर भी रोग़न चढ़ता है, और बेटी की बाढ़ बेटे से जल्दी होती भी है। अब अधिक क्या कहूँ बाबू साहब, अपनी ही करनी का नतीजा भोग रहा हूँ—मोतियाबिन्द, गठिया और दमा ने निकम्मा कर दिया है। अब मेरे पछतावे के आँसुओं में भी ईश्वर को पिघलाने का दम नहीं है। अगर सच पूछिये, तो इस वक्त सिर्फ़ एक ही उम्मीद पर जान अटकी हुई है—एक साहब ने बहुत कहने-सुनने से इसके साथ शादी करने का वादा किया है। देखना है कि गाँव के खोटे लोग उन्हें भी भड़काते हैं, या मेरी झाँझरी नैया को पार लगाने देते हैं। लड़के की उम्र कुछ कड़ी ज़रूर है—४१-४२ साल की; मगर अब इसके सिवा कोई चारा भी नहीं है। छाती पर पत्थर रख कर अपनी इस राजकोकिला को………"

इसके बाद मुन्शीजी का गला रुँध गया—बहुत बिलखकर रो उठे, और भगजोगनी को अपनी गोद में बैठाकर फूट-फूटकर रोने लग गयें। अनेक प्रयत्न करके भी मैं किसी प्रकार उनको आश्वासन न दे सका। जिसके पीछे हाथ धोकर वाम-विधाता पड़ जाता है, उसे तसल्ली देना ठट्ठा नहीं है।

मुन्शीजी की दास्तान सुनने के बाद मैंने अपने कई क्वाँरे मित्रों से अनुरोध किया कि उस अलौकिक रूपवती दरिद्र कन्या से विवाह करके एक निर्धन भाई का उद्धार और अपने जीवन को सफल करें। किन्तु सब ने मेरी बात अनसुनी कर दी। ऐसे-ऐसे लोगों ने भी आनाकानी की, जो [illegible] विषयों पर बड़े शान-गुमान से लेखनी चलाते हैं। यहाँ तक कि प्रौढ़ावस्था के रँडुये मित्र भी राज़ी न हुए। आखिर वहीं महाशय डोला काढ़कर भगजोगिनी को अपने घर ले गये और वहीं शादी की। कुल रस्में पूरी करके मुन्शीजी को चिन्ता के दलदल से उबारा। बेचारे की छाती से पत्थर का बोझ तो उतरा, मगर घर में कोई पानी देनेवाला भी न रह गया। बुढ़ापे की लकड़ी जाती रही, देह लच्च गई। साल पूरा होते-होते अचानक टन बोल गये। गाँववालों ने गले में घड़ा बाँधकर नदी में डुबा दिया।

× × × ×

भगजोगनी जीती है। आज वह पूर्ण युवती है। उसका शरीर भरा-पूरा और फूला-फला है। उसका सौन्दर्य उसके वर्तमान नवयुवक पति का स्वर्गीय धन है। उसका पहला पति इस संसार में नहीं है। दूसरा पति है—उसका सौतेला बेटा !

पं० चन्द्रधर शर्म्मा गुलेरी

रचनाकाल
१९१५ ई०

जन्म १९४० वि०

मृत्यु १९७८ वि०

विश्व श्रेष्ठतम कहानियों में इसका स्थान था।
[illegible]
[illegible]

उसने कहा था

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है, और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है, कि अमृतसर के बम्बूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए, इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट-सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह-चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरों को चींथकर अपने-ही को सताया हुआ बताते हैं, और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तङ्ग चक्करदार गलियों में, हर-एक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसाजी !' 'हटो भाईजी !' 'ठहरना भाई !' 'आने दो लाला जी !' हटो बाछा !'*—कहते हुए सफ़ेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों,

* बादशाह

गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जङ्गल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है, कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा जीणे जोगिए; हट जा करमा वालिए; हट जा पुत्ताँ प्यारिए; बच जा लम्बी वालिए। समष्टि में इनके अर्थ हैं, कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है?—बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था, कि दोनों सिक्ख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिये दही लेने आया था, और यह रसोई के लिये बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

"तेरे घर कहाँ हैं?"

"मगरे में;—और तेरे?"

"माँझे में;—यहाँ कहाँ रहती है!"

"अतरसिंह की बैठक में; वे मेरे मामा होते हैं।"

"मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरु बाज़ार में है।"

इतने में दूकानदार निबटा, और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा—"तेरी कुड़माई* हो गई?"

---

* मँगनी।

इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई, और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्ज़ीवाले के यहाँ, दूधवाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना-भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई ?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिये पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—"हाँ हो गई।"

"कब ?"

"कल; देखते नहीं, यह रेशम से कढ़ा हुआ 'सालू' *।"

लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ीवाले की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

२

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खान्दकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाना से दस-गुना जाड़ा और मेंह, और बरफ़ ऊपर से। पिंडलियों तक कींचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दिखता नहीं;—घण्टे-दो-घण्टे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज़ धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे, तो कोई लड़े। नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पचीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफ़ा या

* ओढ़नी।

कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है। न-मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिये। परसों 'रिलफ़' आजायगी, और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका* करेंगे, और पेट-भर खाकर सो रहेंगे। उसी फरंगी† मेम के बाग़ में—मखमल का-सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जरमनों को अकेला मारकर न लौटूँ, तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं, और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?" सूबेदार हज़ारसिंह ने मुसकराकर कहा—"लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफ़सर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ़ बढ़ गये तो क्या होगा?"

"सूबेदारजी, सच है" लहनासिंह बोला—"पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं, और खाई में

---

* बकरा मारना। † फ्रैंच।

दोनों तरफ़ से चम्बे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जांय, तो गरमी आजाय।"

"उदमी*, उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वज़ीरा, तुम चार जने बाल-टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाज़े का पहरा बदला दे।"—यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

वज़ीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—"मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!" इस पर सब खिलखिला पड़े, और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—"अपनी बाड़ी के खरबूज़ों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब-भर में नहीं मिलेगा।"

"हाँ देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा† ज़मीन यहाँ माँग लूँगा, और फलों के बूटे‡ लगाऊँगा।"

"लाड़ी होराँ× को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलानेवाली फरङ्गी मेम—"

"चुपकर। यहाँवालों को शरम नहीं।"

"देस-देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ, तो समझती है, कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिये लड़ेगा नहीं।"

---

* उद्यमी। † जमीनी की माप। ‡ पेड़। × स्त्री होरां=आदरवाचक।

"अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है ?"

"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ ! रात-भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुज़र करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है, मौत है, और 'निमोनिया' से मरनेवालों को मुरब्बे* नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

वज़ीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने-मारने की बात लगाई है ? मरें जर्मनी और तुरक ! हाँ भाइयो, कैसे—"

दिल्ली शहर तें पिशौर नुँ जांदिए,
कर लेणा लौंगां दा बपार मडिए;
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िए—
(ओय) लाणा चटाका कदुए नुँ।
कद्द बणया वे मजेदार गोरिये,
हुण लाणा चटाका कदुए नुं ॥ †

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का

---

* नई नहरों के पास वर्ग-भूमि।

† अरी दिल्ली शहर से पेशावर को जानेवाली, लौंगों का व्यापार कर ले और इज़ारबन्द का सौदा करले। जीभ चटचटाकर कद्दू खाना है। गोरी ! कद्दू मज़ेदार बना है। अब चटचटाकर उसे खाना है।

गीत गायेंगे, पर सारी खन्दक इस गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताज़े हो गये, मानों चार दिन से सोते और मौज़ ही करते रहे हों।

३

दो पहर रात गई है। अन्धेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधसिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट * ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुंह पर है और एक बोधसिंह के दुबले शरीर पर। बोधसिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है?"

"पानी पिला दो।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—"कहो कैसे हो?" पानी पीकर बोधा बोला—"कँपनी † छुट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।"

"अच्छा, मेरी जरसी पहन लो?"

"और तुम?"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।"

"ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिये—"

"हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे ही आई है। विलायत से मेंमे बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरू उनका भला करे।" यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो?"

---

* ओवरकोट † कँपकपी।

"और नहीं झूठ ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने ज़बरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और ज़ीन का कुरता भर पहन-कर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घण्टा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आई,—"सूबेदार हज़ारासिंह !"

"कौन लपटन साहब ? हुकुम हुज़ूर"—कहकर सूबेदार तनकर फौज़ी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़ियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैय्यार हो गये। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझ कर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—"लो तुम भी पियो"

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव

छिपाकर बोला—"लाओ, साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका! लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह क़ैदियों-से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हे बाल कटवाने का मौक़ा मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

"क्यों साहब हमलोग हिन्दुस्तान कब जायँगे?"

"लड़ाई ख़त्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मज़े यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लडाई के पीछे हम आप जगाधरी ज़िले में शिकार करने गये थे—'हाँ, हाँ'—वही जब आप खोते* पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था? "बेशक पाजी कहीं का'—सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफ़सर के साथ शिकार खेलने में मज़ा है! क्यों साहब, शिमले से तैय्यार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था कि रजमंट की मैस में लगायेंगे। 'हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—ऐसे बड़े-बड़े सींग! दो-दो फ़ुट के तो होंगे?"

"हाँ, लहनासिंह, दो फ़ुट चार इञ्च के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कहकर लहनासिंह

* गधे।

ख़न्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया।

"कौन ? वज़ीरासिंह ?"

"हाँ, क्यों लहना ? क्या, क़यामत आ गई ? ज़रा तो आँख लगने दी होती ?"

४

"होश में आओ। क़यामत आई और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।"

"क्या ?"

"लपटन साहब या तो मारे गये हैं या क़ैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की हैं। सौहरा * साफ़ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?"

"तो अब ?"

"अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होरां कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। ख़न्दक की बात झूठ है। चले जाओ, ख़न्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।"

"हुकुम तो यह है कि यहीं—"

---

* सुसरा (गाली)

"ऐसी तैसी हुकुम की ! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सब से बड़ा अफ़सर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।"

"आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ़ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आँख ! * मीन गौट्ट' कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफ़ाफ़े और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—"क्यों लपटन साहब ? मिज़ाज़ कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें

* हाय ! मेरे राम (जर्मन)

होती हैं और उनके दो फुट चार इञ्च के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्त्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ़ उर्दू कहाँ से सीख आये? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पाँच लफ़्ज़ भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानों जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—"चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चमका देने के लिये चार आँखें चाहिये। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के तावीज़ बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा * बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनीवाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़-पढ़ कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपया निकाल लो; सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूड़ दी थी। और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—"

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—"क्या है?"

---

* खटिया

लहनासिंह ने उसे यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और, औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफ़ा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधीं। घाव मांस में ही था! पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनिटों में वे—

अचानक आवाज़ आई 'वाह गुरुजी की फतह? वाह गुरुजी का खालसा!!' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फ़ायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौक़े पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—'अकाल सिक्खाँ दी फौज आई! वाह गुरुजी दी फतह! वाह गुरुजी दा खालसा! सत श्री अकालपुरुख!!!' और लड़ाई खतम हो गई। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मट्टी से पूर लिया और बाकी का साफ़ा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती। वज़ीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागज़ात पाकर वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर अन्दर आ पहुँची। फील्ड अस्पताल नज़दीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायेंगे, इसलिये मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है सवेरे देखा जायगा। बोधसिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—"तुम्हें बोधा की कसम है, और सूबेदारनीजी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम ?"

"मेरे लिये वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना, और जर्मन मुरदों के लिये भी तो गाडियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ ? वज़ीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिये तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो, तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उनने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पडी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा—"तैने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा ? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था ?"

"अब आप गाड़ीपर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना, और कह भी देना।"

गाडी के जाते ही लहना लेट गया।—"वज़ीरा पानी पिला दे, और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।"

५

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ़ हो जाती है। जन्म-भर की घटनायें एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ़ होते हैं; समय की धुन्ध बिल्कुल उन पर से हट जाती है।

* * * *

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्ज़ीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है, तेरी कुड़माई हो गई ? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा, तो उसने कहा—'हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू ?' सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ ?

"वज़ीरासिंह, पानी पिला दे।"

* * *

पचीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न-मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर ज़मीन के मुक़दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफ़सर की चिट्ठी मिली, कि फ़ौज लाम पर जाती है, फ़ौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हज़ारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधसिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ ही चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था, और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढे* में से निकल कर आया। बोला—'लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं, बुलाती हैं। जा मिल आ।' लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती है? कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाज़े पर जाकर 'मत्था टेकना!' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं।'

'तेरी कुड़माई हो गई—धत्—कल हो गई—देखते नहीं, रेशमी बूटोंवाला सालू—अमृतसर में—'

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

* ज़नाने।

'वज़ीरा, पानी पिला'—'उसने कहा था'।

*　*　*　*

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का ख़िताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमक-हलाली का मौक़ा आया है। पर सरकार ने हम तीमियों * की एक घँघरिया पल्टन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फ़ौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी। 'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे, और मुझे उठाकर दूकान के तख़्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी† में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वज़ीरासिंह, पानी पिला'—'उसने कहा था'।

*　*　*　*

लहना का सिर अपनी गोद में रक्खे वज़ीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—"कौन! कीरतसिंह?"

वज़ीरा ने कुछ समझकर कहा—"हाँ।"

---

* स्त्रियों † अन्दर का घर।

"भइया, मुझे और ऊँचा करले। अपने पट्ट * पर मेरा सिर
व्र ले।"

वज़ीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अव के हाड़ में यह
ाम खूब फलैगा। चचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना।
ातना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका
न्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

वज़ीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

* * * *

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रान्स और बेलजियम—
न वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स
मादार लहनासिंह।

* जाँघ। आषाढ़।
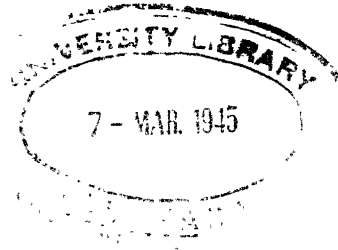
श्री प्रेमचन्द

रचनाकाल
१९१६ ई०

जन्म १९३७ वि०   मृत्यु १९९३ वि०

कफ़न

झोंपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए हैं और अन्दर बेटे की जवान बीवी बुधिया प्रसव-वेदना से पछाड़ खा रही थी। रह-रहकर उसके मुँह से-ऐसी दिल हिला देने वाली आवाज़ निकलती थी, कि दोनों कलेजा थाम लेते थे। जाड़ों की रात थी, प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई, सारा गाँव अन्धकार में लय हो गया था।

घीसू ने कहा—"मालूम होता है, बचेगी नहीं। सारा दिन दौड़ते हो गया, जा देख तो आ।"

माधव चिढ़ कर बोला—"मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती? देख कर क्या करूँ?"

"तू बड़ा बेदर्द है बे! साल भर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफ़ाई!"

"तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पाँव पटकना नहीं देखा जाता।"

चमारों का कुनबा था और सारे गाँव में बदनाम। घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम। माधव इतना काम-चोर था कि आध घण्टे काम करता तो घण्टे भर चिलम पीता। इसलिए उन्हें कहीं मज़दूरी नहीं मिलती थी। घर में मुट्ठी भर भी अनाज मौजूद हो, तो उनके लिए काम करने की क़सम थी। जब दो-चार फ़ाके हो जाते तो घीसू पेड़ पर चढ़कर लकड़ियाँ तोड़ लाता और माधव बाज़ार से बेच लाता। और जब तक वह पैसे रहते, दोनों इधर-उधर मारे-मारे फिरते। जब फ़ाके की नौबत आ जाती, तो फिर लकड़ियाँ तोड़ते या मज़दूरी तलाश करते। गाँव में काम की कमी न थी। किसानों का गाँव था, मेहनती आदमी के लिए पचास काम थे। मगर इन दोनों को लोग उसी वक्त बुलाते, जब दो आदमियों से एक का काम पाकर भी सन्तोष कर लेने के सिवा और कोई चारा न होता। अगर दोनों साधु होते, तो उन्हें सन्तोष और धैर्य के लिए संयम और नियम की बिल्कुल ज़रूरत न होती। यह तो इनकी प्रकृति थी। विचित्र जीवन था इनका! घर में मिट्टी के दो-चार बर्तनों के सिवा कोई सम्पत्ति नहीं। फटे चीथड़ों से अपनी नग्नता को ढाँके हुए जिए जाते थे। संसार की चिन्ताओं से मुक्त! क़र्ज़ से लदे हुए। गालियाँ भी खाते, मार भी खाते, मगर कोई भी ग़म नहीं। दीन इतने कि वसूली की बिल्कुल आशा न रहने पर भी लोग इन्हें कुछ न कुछ क़र्ज़ दे देते थे। मटर, आलू की फ़सल में दूसरों के खेतों से मटर या आलू उखाड़ लाते और भूनभान कर खा लेते या दस-पाँच ऊख उखाड़ लाते और रात को चूसते। घीसू ने इसी आकाशवृत्ति से साठ साल की उम्र काट दी और माधव भी सपूत बेटे की तरह बाप ही

के पद-चिन्हों पर चल रहा था, बल्कि उसका नाम और भी उजागर कर रहा था। इस वक्त भी दोनों अलाव के सामने बैठकर आलू भून रहे थे, जो कि किसी के खेत से खोद लाए थे। घीसू की स्त्री का तो बहुत दिन हुए देहान्त हो गया था। माधव का ब्याह पिछले साल हुआ था। जब से यह औरत आई थी, उसने इस खानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी। पिसाई करके या घास छील कर वह सेर भर आटे का इन्तज़ाम कर लेती थी और इन दोनों बे-ग़ैरतों का दोज़ख भरती रहती थी। जब से वह आई, यह दोनों और भी आलसी और आरामतलब हो गये थे। बल्कि कुछ अकड़ने भी लगे थे। कोई कार्य करने को बुलाता, तो निर्व्याज भाव दुगुनी मज़दूरी माँगते। वही औरत आज प्रसव-वेदना से मर रही थी और यह दोनों शायद इसी इन्तज़ार में थे कि वह मर जाय, तो आराम से सोयें।

घीसू ने आलू निकाल कर छीलते हुए कहा—"जाकर देख तो, क्या दशा है उसकी? चुड़ैल का फ़िसाद होगा, और क्या? यहाँ तो ओझा भी एक रुपया माँगता है!"

माधव को भय था कि वह कोठरी में गया, तो घीसू आलुओं का बड़ा भाग साफ़ कर देगा। बोला—"मुझे वहाँ जाते डर लगता है।"

"डर किस बात का है, मैं तो यहाँ हूँ ही!"

"तो तुम्हीं जाकर देखो न?"

"मेरी औरत जब मरी थी, तो मैं तीन दिन तक उसके पास से हिला तक नहीं, और फिर मुझसे लजायेगी कि नहीं? जिसका कभी मुँह नहीं देखा, आज उसका उघड़ा हुआ बदन देखूँ! उसे तन की सुध भी तो न होगी? मुझे देख लेगी तो खुलकर हाथ-पाँव भी न पटक सकेगी!"

"मैं सोचता हूँ, कोई बाल-बच्चा हो गया तो क्या होगा? सोंठ, गुड़, तेल, कुछ भी तो नहीं है घर में!"

"सब कुछ आ जायगा। भगवान दें तो! जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं, वे ही कल बुलाकर रुपये देंगे। मेरे नौ लड़के हुए, घर में कभी कुछ न था; मगर भगवान ने किसी न किसी तरह बेड़ा पार ही लगाया।"

जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी, और किसानों के मुक़ाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज़्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज़्यादा विचारवान् था और किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठक-बाज़ों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था। हाँ, उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाज़ों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहां उसकी मण्डली के और लोग गांव के सरग़ना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गांव उँगली उठाता था। फिर भी उसे यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम से कम उसे किसानों की-सी जां-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती। और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फ़ायदा तो नहीं उठाते!

दोनों आलू निकाल-निकाल कर जलते-जलते खाने लगे। कल से कुछ नहीं खाया था। इतना सब्र न था कि उन्हें ठण्डा हो जाने दें। कई बार दोनों की ज़बानें जल गईं। छिल जाने पर आलू का बाहरी हिस्सा तो बहुत ज़्यादा गर्म न मालूम होता; लेकिन दाँतों के तले पड़ते ही अन्दर का हिस्सा ज़बान, हलक़ और तालू को जला देता था

और उस अङ्गारे को मुँह में रखने से ज़्यादा ख़ैरियत इसी में थी कि वह अन्दर पहुँच जाय। वहाँ उसे ठण्डा करने के लिए काफ़ी सामान थे। इसलिए दोनों जल्द-जल्द निगल जाते। हलाँ कि इस कोशिश में उनकी आँखों से आँसू निकल आते।

घीसू को उस वक्त ठाकुर की बारात याद आई, जिसमें बीस साल पहले वह गया था। उस दावत में उसे जो तृप्ति मिली थी, वह उसके जीवन में एक याद रखने लायक़ बात थी, और आज भी उसकी याद ताज़ी थी! बोला—"वह भोज नहीं भूलता। तब से फिर उस तरह का खाना और भरपेट नहीं मिला। लड़की वालों ने सबको भरपेट पूड़ियाँ खिलाई थीं, सबको! छोटे-बड़े सबने पूड़ियाँ खाईं और असली घी की! चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, चटनी, मिठाई, अब क्या बताऊँ कि उस भोज में क्या स्वाद मिला। कोई रोक-टोक नहीं थी। जो चीज़ चाहो माँगो और जितना चाहो खाओ। लोगों ने ऐसा खाया, ऐसा खाया, किसी से पानी न पिया गया। मगर परोसनेवाले हैं कि पत्तल में गर्म-गर्म गोल-गोल सुवासित कचौड़ियाँ डाले देते हैं। मना करते हैं कि नहीं चाहिए, पत्तल पर हाथ से रोके हुए हैं, मगर वह हैं कि दिये जाते हैं। और जब सबने मुँह धो लिया, तो पान-इलायची भी मिली। मगर मुझे पान लेने की कहाँ सुध थी? खड़ा न हुआ जाता था। चटपट जाकर अपने कम्बल पर लेट गया। ऐसा दिल-दरियाव था वह ठाकुर!"

माधव ने इन पदार्थों का मन ही मन मज़ा लेते हुये कहा—हमें कोई ऐसा भोज नहीं खिलाता।"

"अब कोई क्या खिलाएगा? वह ज़माना दूसरा था। अब तो सबको किफ़ायत सूझती है। शादी ब्याह में मत खर्च करो, क्रिया-कर्म

में मत खर्च करो, पूछो, ग़रीबों का माल बटोर-बटोर कर कहाँ रखोगे! बटोरने में तो कमी नहीं है। हाँ, खर्च में किफ़ायत सूझती है।"

"तुमने एक बीस पूरियाँ खाई होंगी?"

"बीस से ज़्यादा खाई थीं!"

"मैं पचास खा जाता!"

"पचास से कम मैंने न खाई होंगी। अच्छा पट्ठा था। तू तो मेरा आधा भी नहीं है।"

आलू खाकर दोनों ने पानी पिया और वहीं अलाव के सामने अपनी धोतियाँ ओढ़कर पांव पेट में डाले सो रहे। जैसे दो बड़े-बड़े अजगर गेडुलियाँ मारे पड़े हों।

और बुधिया अभी तक कराह रही थी।

[२]

सबेरे माधव ने कोठरी में जाकर देखा, तो उसकी स्त्री ठण्डी हो गई थी। उसके मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। पथराई हुई आंखें ऊपर टँगी हुई थीं। सारी देह धूल से लथपथ हो रही थी। उसके पेट में बच्चा मर गया था।

माधव भागा हुआ घीसू के पास आया। फिर दोनों ज़ोर-ज़ोर से हाय-हाय करने और छाती पीटने लगे। पड़ोस वालों ने यह रोना-धोना सुना, तो दौड़े हुए आए और पुरानी मर्यादा के अनुसार इन अभागों को समझाने लगे।

मगर ज़्यादा रोने-पीटने का अवसर न था। कफ़न की और लकड़ी की फ़िक्र करनी थी। घर में तो पैसा इस तरह ग़ायब था, जैसे चील के घोंसले में मांस।

बाप-बेटे रोते हुए गाँव के ज़मींदार के पास गये। वह दोनों की सूरत से नफ़रत करते थे। कई बार इन्हें अपने हाथों पीट चुके थे—चोरी करने के लिये, वादे पर काम पर न आने के लिये। पूछा—"क्या है बे घिसुआ, रोता क्यों है? अब तो तू कहीं दिखाई भी नहीं देता। मालूम होता है, इस गाँव में रहना नहीं चाहता।"

घीसू ने ज़मीन पर सिर रख कर आँखों में आँसू भरे हुए कहा—"सरकार! बड़ी विपत्ति में हूँ। माधव की घरवाली रात को गुजर गई। रात भर तड़पती रही सरकार! हम दोनों उसके सिरहाने बैठे रहे। दवा-दारू जो कुछ हो सका, सब कुछ किया, मुदा वह हमें दगा दे गई। अब कोई एक रोटी देने वाला भी न रहा मालिक! तबाह हो गये। घर उजड़ गया। आपका गुलाम हूँ, अब आपके सिवा कौन उसकी मिट्टी पार लगायेगा। हमारे हाथ में तो जो कुछ था, वह सब तो दवा-दारू में उठ गया। सरकार ही की दया होगी तो उसकी मिट्टी उठेगी। आपके सिवा किसके द्वार पर जाऊँ?

ज़मींदार साहब दयालु थे। मगर घीसू पर दया करना काले कम्बल पर रङ्ग चढ़ाना था। जी में तो आया, कह दें, चल, दूर हो यहाँ से; यों तो बुलाने से भी नहीं आता, आज जब ग़रज़ पड़ी तो आकर खुशामद कर रहा है। हरामखोर कहीं का बदमाश! लेकिन यह क्रोध या दण्ड का अवसर न था। जी में कुढ़ते हुये दो रुपये निकाल कर फेंक दिये। मगर सान्त्वना का एक शब्द भी मुँह से न निकाला। उसकी तरफ़ ताका तक नहीं। जैसे सिर का बोझ उतारा हो।

जब ज़मींदार साहब ने दो रुपये दिए, तो गाँव के बनिये महाजनों को इनकार का साहस कैसे होता! घीसू ज़मींदार के नाम का ढिंढोरा भी पीटना जानता था। किसी ने दो आने दिए, किसी ने चार आने।

एक घण्टे में घीसू के पास पाँच रुपये की अच्छी रक़म जमा हो गई। कहीं से नाज मिल गया, कहीं से लकड़ी। और दोपहर को घीसू और माधव बाज़ार से कफ़न लाने चले। इधर लोग बाँसवाँस काटने लगे।

गाँव की नर्म दिल स्त्रियाँ आ-आकर लाश को देखती थीं, और उसकी बेकसी पर दो बूँद आँसू गिरा कर चली जाती थीं।

[३]

बाज़ार में पहुँच कर घीसू बोला—"लकड़ी तो उसे जलाने भर को मिल गई है, क्यों माधव !"

माधव बोला—"हाँ, लकड़ी तो बहुत है, अब कफ़न चाहिये।"

"तो चलो, कोई हलका-सा कफ़न ले लें।"

"हाँ, और क्या! लाश उठते-उठते रात हो जायगी। रात को कफ़न कौन देखता है?"

"कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढाँकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफ़न चाहिये।"

"कफ़न लाश के साथ जल ही तो जाता है।"

"और क्या रखा रहता है? यही पाँच रुपये पहले मिलते, तो कुछ दवा-दारू कर लेते।"

दोनों एक दूसरे के मन की बात ताड़ रहे थे। बाज़ार में इधर-उधर घूमते रहे। कभी इस बज़ाज़ की दूकान पर गये, कभी उसकी दूकान पर। तरह-तरह के कपड़े, रेशमी और सूती देखे, मगर कुछ जँचा नहीं। यहाँ तक कि शाम हो गई। तब दोनों न जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने आ पहुँचे और जैसे कि किसी पूर्व-निश्चत व्यवस्था से अन्दर चले गये। वहाँ ज़रा देर तक दोनों असमंजस में खड़े रहे।

फिर घीसू ने गद्दी के सामने जाकर कहा—"साहु जी, एक बोतल हमें भी देना।"

इसके बाद कुछ चिखौना आया, तली हुई मछलियाँ आईं और दोनों बरामदे में बैठकर शान्तिपूर्वक पीने लगे।

कई कुजियाँ ताबड़तोड़ पीने के बाद दोनों सरूर में आ गये।

घीसू बोला—"कफ़न लगाने से क्या मिलता? आखिर जल ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो न जाता।"

माधव आसमान की तरफ़ देखकर बोला, मानों देवताओं को अपनी निष्पापता का साक्षी बना रहा हो—"दुनिया का दस्तूर है, नहीं लोग बाँभनों को हजारों रुपये क्यों दे देते हैं। कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं!"

"बड़े आदमियों के पास धन है, फूँकें! हमारे पास फूँकने को क्या है?"

"लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे? लोग पूछेंगे नहीं, कफ़न कहाँ है?"

घीसू हँसा—"अबे कह देंगे कि रुपये कमर से खिसक गये। बहुत ढूँढ़ा, मिले नहीं। लोगों को विश्वास तो न आयेगा, लेकिन फिर वही रुपये देंगे।"

माधव भी हँसा—इस अनपेक्षित सौभाग्य पर। बोला—"बड़ी अच्छी थी बेचारी! मरी भी तो खूब खिला-पिला कर!"

आधी बोतल से ज़्यादा उड़ गई। घीसू ने दो सेर पूड़ियाँ मँगाईं। चटनी, अचार, कलेजियाँ। शराबखाने के सामने ही दूकान थी। माधव लपक कर दो पत्तलों में सारे सामान ले आया। पूरा डेढ़ रुपया खर्च हो गया। सिर्फ़ थोड़े से पैसे बच रहे।

दोनों इस वक्त इस शान से बैठे हुए पूड़ियाँ खा रहे थे जैसे जंगल में कोई शेर अपना शिकार उड़ा रहा हो। न जवाबदेही का खौफ़ था,

न बदनामी की फ़िक्र। इन भावनाओं को उन्होंने बहुत पहले ही जीत लिया था।

घीसू दार्शनिक भाव से बोला—"हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है, तो क्या उसे पुन्न न होगा ?"

माधव ने श्रद्धा से सिर झुकाकर तसदीक़ की—"ज़रूर से ज़रूर होगा। भगवान्, तुम अन्तर्यामी हो। उसे बैकुण्ठ ले जाना। हम दोनों हृदय से आशीर्वाद दे रहे हैं। आज जो भोजन मिला वह कभी उम्र भर न मिला था।"

एक क्षण के बाद माधव के मन में एक शंका जागी। बोला—"क्यों दादा, हम लोग भी तो एक न एक दिन वहाँ जायँगे ही।"

घीसू ने इस भोलेभाले सवाल का कुछ उत्तर न दिया। वह परलोक की बातें सोचकर इस आनन्द में बाधा न डालना चाहता था।

"जो वहाँ वह हम लोगों से पूछे कि तुमने हमें कफ़न क्यों नहीं दिया तो क्या कहोगे ?"

"कहेंगे तुम्हारा सिर !"

"पूछेगी तो ज़रूर !"

"तू कैसे जानता है कि उसे कफ़न न मिलेगा ? तू मुझे ऐसा गधा समझता है ? साठ साल क्या दुनिया में घास खोदता रहा हूँ ! उसको कफ़न मिलेगा और इससे बहुत अच्छा मिलेगा।"

माधव को विश्वास न आया। बोला—"कौन देगा ? रुपये तो तुमने चट कर दिये। वह तो मुझसे पूछेगी। उसकी माँग में तो सेंदुर मैंने डाला था।"

घीसू गर्म होकर बोला–"मैं कहता हूँ, उसे कफ़न मिलेगा, तू मानता क्यों नहीं ?"

"कौन देगा, बताते क्यों नहीं?"

"वही लोग देंगे, जिन्होंने कि अबकी दिया। हाँ, अबकी रुपये हमारे हाथ न आयेंगे।"

ज्यों-ज्यों अँधेरा बढ़ता था और सितारों की चमक तेज़ होती थी, मधुशाला की रौनक़ भी बढ़ती जाती थी। कोई गाता था, कोई डींग मारता था, कोई अपने संगी के गले लिपटा जाता था। कोई अपने दोस्त के मुँह में कुल्हड़ लगाये देता था।

वहाँ के वातावरण में सरूर था, हवा में नशा। कितने तो यहाँ आकर एक चुल्लू में मस्त हो जाते थे। शराब से ज़्यादा यहाँ की हवा उन पर नशा करती थी। जीवन की बाधाएँ यहाँ खींच लाती थीं और कुछ देर के लिए यह भूल जाते थे कि वे जीते हैं या मरते हैं! या न जीते हैं न मरते हैं।

और यह दोनों बाप-बेटे अब भी मज़े ले-लेकर चुसकियाँ ले रहे थे। सबकी निगाहें इनकी ओर जमी हुई थीं। दोनों कितने भाग्य के बली हैं। पूरी बोतल बीच में है।

भरपेट खाकर माधव ने बची हुई पूड़ियों का पत्तल उठा कर एक भिखारी को दे दिया, जो खड़ा इनकी ओर भूखी आँखों से देख रहा था। और 'देने' के गौरव, आनन्द और उल्लास का अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया।

घीसू ने कहा—"ले जा, खूब खा और आशीर्वाद दे! जिसकी कमाई है, वह तो मर गई। मगर तेरा आशीर्वाद उसे ज़रूर पहुँचेगा। रोयें-रोयें से आशीर्वाद दो, बड़ी गाढ़ी कमाई के पैसे हैं!"

माधव ने फिर आसमान की तरफ़ देख कर कहा—"वह बैकुण्ठ में जायगी दादा, बैकुण्ठ की रानी बनेगी।"

घीसू खड़ा हो गया और जैसे उल्लास की लहरों में तैरता हुआ बोला—"हाँ बेटा, बैकुण्ठ में जायगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं। मरते-मरते हमारी ज़िन्दगी की सब से बड़ी लालसा पूरी कर गई। वह न बैकुण्ठ में जायगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जायँगे, जो ग़रीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं, और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और मन्दिरों में जल चढ़ाते हैं?"

श्रद्धालुता का यह रंग तुरन्त ही बदल गया। अस्थिरता नशे की ख़ासियत है। दुःख और निराशा का दौरा हुआ।

माधव बोला—"मगर दादा, बेचारी ने ज़िन्दगी में बड़ा दुःख भोगा। कितना दुख झेल कर मरी।"

वह आँखों पर हाथ रख कर रोने लगा, चीखें मार-मार कर।

घीसू ने समझाया—"क्यों रोता है बेटा, ख़ुश हो कि वह माया-जाल से मुक्त हो गई! जंजाल से छूट गई। बड़ी भाग्यवान् थी, जो इतनी जल्द माया-मोह के बन्धन तोड़ दिये।"

और दोनों खड़े होकर गाने लगे—

'ठगनी क्यों नैना झमकावे! ठगिनी० !'

पियक्कड़ों की आँखें इनकी ओर लगी हुई थीं और यह दोनों अपने दिल में मस्त गाये जाते थे। फिर दोनों नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी। गिरे भी, मटके भी। भाव भी बताये, अभिनय भी किये। और आख़िर नशे से बदमस्त होकर वहीं गिर पड़े!

शतरंज के खिलाड़ी

वाजिदअलीशाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफ़ीम की पीनक ही के मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमें, इत्र-मिस्सी और उपटन का रोजगार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिये पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़क़ीरों को पैसे मिलते, तो वे

रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफ़ा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है, ये दलीलें ज़ोर के साथ पेश की जाती थीं (इस संप्रदाय के लोगों से दुनियाँ अब भी खाली नहीं है)। इसलिये अगर मिर्ज़ा सज्जादअली और मीर रौशनअली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी? दोनों के पास मौरूसी जागीरें थीं, जीविका की कोई चिंता न थीं; घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आखिर और करते ही क्या! प्रातःकाल दोनों मित्र नाश्ता करके बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और लड़ाई के दाँव-पेच होने लगते। फिर खबर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम। घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता—खाना तैयार है। यहाँ से जवाब मिलता—चलो, आते हैं; दस्तरख्वान बिछाओ। यहाँ तक कि बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था, और दोनों मित्र दोनों काम साथ-साथ करते थे। मिर्ज़ा सज्जादअली के घर में कोई बड़ा-बूढ़ा न था, इसलिये उन्हीं के दीवानखाने में बाज़ियाँ होती थीं; मगर यह बात न थी, मिर्ज़ा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से खुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, महल्लेवाले, घर के नौकर-चाकर तक नित्य द्वेष-पूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। खुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े। आदमी दीन, दुनियाँ, किसी के काम का नहीं रहता, न घर का न घाट का। बुरा रोग है। यहाँ तक कि मिर्ज़ा की बेगम साहबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोजकर पति को लताड़ती थीं। पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती ही रहती थीं, तब तक उधर बाजी बिछ जाती

थी। और रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिर्ज़ाजी भीतर आते थे। हाँ नौकरों पर वह अपना गुस्सा उतारती रहती थीं—क्या पान माँगे हैं? कह दो, आकर ले जायँ। खाने की भी फ़ुर्सत नहीं है? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खायँ, चाहे कुत्ते को खिलावें। पर रू-ब-रू वह भी कुछ न कह सकती थीं। उनको अपने पति से उतना मलाल न था। जितना मीरसाहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिर्ज़ाजी अपनी सफ़ाई देने के लिये सारा इल्ज़ाम मीरसाहब ही के सिर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंडी से कहा—"जाकर मिर्ज़ा साहब को बुला ला। किसी हकीम के यहाँ से दवा लावें। दौड़, जल्दी कर।" लौंडी गई, तो मिर्ज़ाजी ने कहा—"चल, अभी आते हैं। बेगम साहबा का मिजाज गरम था। इतनी ताव कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो, और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख हो गया। लौंडी से कहा—"जाकर कह, अभी चलिए, नहीं तो वह आप ही हकीम के यहाँ चली जायँगी।" मिर्ज़ाजी बड़ी दिलचस्प बाज़ी खेल रहे थे; दो ही किश्तों में मीरसाहब को मात हुई जाती थी। झुँझलाकर बोले—"क्या ऐसा दम लबों पर है? ज़रा सब्र नहीं होता?"

मीर—अरे तो जाकर सुन ही आइए न। औरतें नाज़ुक-मिज़ाज होती ही हैं।

मिर्ज़ा—जी हाँ, चला क्यों न जाऊँ! दो किश्तों में आपको मात होती है।

मीर—जनाब, इस भरोसे न रहिएगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें, और मात हो जाय। पर जाइए, सुन आइए। क्यों ख्वाहमख्वाह उनका दिल दुखाइएगा?

मिर्ज़ा—इसी बात पर मात ही करके जाऊँगा।

मीर—मैं खेलूँगा ही नहीं। आप जाकर सुन आइए।

मिर्ज़ा—अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ। सिर-दर्द खाक नहीं है; मुझे परेशान करने का बहाना है।

मीर—कुछ ही हो, उनकी खातिर तो करनी ही पड़ेगी।

मिर्ज़ा—अच्छा, एक चाल और चल लूँ।

मीर—हर्गिज़ नहीं, जब तक आप सुन न आवेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊँगा।

मिर्ज़ा साहब मजबूर होकर अंदर गए, तो बेगम साहब ने त्योरियाँ बदलकर, लेकिन कराहते हुए, कहा—तुम्हें निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है! चाहे कोई मर ही जाय, पर उठने का नाम नहीं लेते! नौज कोई तुम जैसा आदमी हो!

मिर्ज़ा—क्या कहूँ, मीर साहब मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ाकर आया हूँ।

बेगम—क्या जैसे वह खुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं? उनके भी तो बाल-बच्चे हैं; या सबका सफ़ाया कर डाला?

मिर्ज़ा—बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पड़ता है।

बेगम—दुतकार क्यों नहीं देते?

मिर्ज़ा—बराबर के आदमी हैं, उम्र में, दर्जे में, मुझसे दो अंगुल ऊँचे। मुलाहिज़ा करना ही पड़ता है।

बेगम—तो मैं ही दुतकारे देती हूँ। नाराज हो जाएँगे, हो जायँ। कौन किसी की रोटियाँ चला देता है। रानी रूठेंगी, अपना सुहाग

लेंगी। हिरिया, जा, बाहर से शतरंज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे, आप तशरीफ़ ले जाइए।

मिर्ज़ा—हाँ-हाँ, कहीं ऐसा ग़ज़ब भी न करना! ज़लील करना चाहती हो क्या!—ठहर हिरिया, कहाँ जाती है।

बेगम—जाने क्यों नहीं देते। मेरा ही खून पिए, जो उसे रोके। अच्छा, उसे रोका; मुझे रोको, तो जानूँ।

यह कहकर बेगम साहबा झल्लाई हुई दीवानखाने की तरफ़ चलीं। मिर्जा बेचारे का रंग उड़ गया। बीवी की मिन्नतें करने लगे—"खुदा के लिये, तुम्हें हज़रत हुसेन की क़सम। मेरी ही मैयत देखे, जो उधर जाय!" लेकिन बेगम ने एक न मानी। दीवानखाने के द्वार तक गईं; पर एकाएक परपुरुष के सामने जाते हुए पाँव बँध-से गए। भीतर झाँका। संयोग से कमरा खाली था। मीर साहब ने दो-एक मुहरे इधर-उधर कर दिए थे, और अपनी सफ़ाई जताने के लिये बाहर टहल रहे थे। फिर क्या था, बेगम ने अंदर पहुँचकर बाजी उलट दी; मुहरे कुछ तख्त के नीचे फेक दिए, कुछ बाहर; और किवाड़े अंदर से बंद करके कुंडी लगा दी। मीर साहब दरवाजे पर तो थे ही मुहरे बाहर फेके जाते देखे, चूड़ियों की झनक भी कान में पड़ी। फिर दरवाजा बंद हुआ, तो समझ गए, बेगम साहबा बिगड़ गईं। चुपके से घर की राह ली!

मिर्जा ने कहा—तुमने ग़ज़ब किया!

बेगम—अब मीर साहब इधर आए, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ खुदा से लगाते, तो क्या ग़रीब हो जाते! आप तो शतरंज खेलें, और मैं यहाँ चूल्हे-चक्की की फ़िक्र में सिर खपाऊँ! ले जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है?

मिर्ज़ा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीर साहब के

घर पहुँचे, और सारा वृत्तांत कहा। मीर साहब बोले—"मैंने तो जब हुज़ूर को बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फ़ौरन भागा। बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं। मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रक्खा है, यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। घर का इंतजाम करना उनका काम है; दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार?"

मिर्ज़ा—खैर, यह तो बताइये, अब कहाँ जमाव होगा?

मीर—इसका क्या ग़म। इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस यहीं जमे।

मिर्ज़ा—लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊँगा? जब घर पर बैठा रहता था, तब तो वह इतना बिगड़ती थीं; यहाँ बैठक होगी, तो शायद ज़िंदा न छोड़ेंगी।

मीर—अजी, बकने भी दीजिये; दो-चार रोज़ में आप ही ठीक हो जायँगी। हाँ, आप इतना कीजिये कि आज से ज़रा तन जाइये।

२

मीर साहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से उनका घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं। इसलिये वह उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करतीं; बल्कि कभी-कभी मीर साहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीर साहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यन्त विनयशील और गंभीर है; लेकिन जब दीवानख़ाने में बिसात बिछने लगी, और मीर साहब दिन-भर घर में रहने लगे तो उन्हें बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गई। दिन-भर दरवाजे पर झाँकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी काना-फूसी होने लगी। अब तक दिन-भर पड़े-

पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में चाहे कोई आवे, चाहे कोई जाय, उनसे कुछ मतलब न था। आठों पहर की धौंस हो गई। कभी पान लाने का हुक्म होता, कभी मिठाई का। और, हुक़्क़ा तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति नित्य जलता भी रहता था। वे बेगम साहबा से जा-जाकर कहते—"हुज़ूर, मियाँ की शतरंज तो हमारे जी का जंजाल हो गई! दिन-भर दौड़ते-दौड़ते पैरों में छाले पड़ गये। यह भी कोई खेल है कि सुबह को बैठे, तो शाम ही कर दी! घड़ी-आध-घड़ी दिल-बहलाव के लिये खेल लेना बहुत है। खैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं; हुज़ूर के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लावेंगे; मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलनेवाला कभी पनपता नहीं; घर पर कोई-न-कोई आफ़त ज़रूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले-के-महल्ले तबाह होते देखे गए हैं। सारे महल्ले में यही चर्चा होती रहती है। हुज़ूर का नमक खाते हैं, अपने आक़ा की बुराई सुन-सुनकर रंज होता है। मगर क्या करें।" इस पर बेगम साहबा कहती—"मैं तो खुद इसको पसंद नहीं करती। पर वह किसी की सुनते ही नहीं, तो क्या किया जाय।"

महल्ले में भी जो दो-चार पुराने ज़माने के लोग थे, वे आपस में भाँति-भाँति के अमंगल की कल्पनाएँ करने लगे—"अब खैरियत नहीं है। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का खुदा ही हाफ़िज़। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।"

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फ़रियाद सुननेवाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची चली आती थी, और वह वेश्याओं में, भाँड़ों में, और विला-सिता के अन्य अंगों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अँगरेज़-कंपनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती

थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेज़ीडेंट बार-बार चेतावनी देता था; पर यहाँ तो लोग विलासिता के नशे में चूर थे; किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी।

ख़ैर, मीर साहब के दीवानख़ाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गए। नए-नए नक़्शे हल किये जाते; नए-नए क़िले बनाए जाते; नित नई व्यूह-रचना होती; कभी-कभी खेलते-खेलते झौड़ हो जाती; तू-तू मैं-मैं तक की नौबत आ जाती। पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बाज़ी उठा दी जाती; मिर्ज़ाजी रूठकर अपने घर चले आते; मीर साहब अपने घर में जा बैठते। पर रात-भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शांत हो जाता था। प्रातःकाल दोनों मित्र दीवानख़ाने में आ पहुँचते थे।।

एक दिन दोनों मित्र बैठे शतरंज की दलदल में ग़ोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फ़ौज का अफ़सर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गए! यह क्या बला सिर पर आई! यह तलबी किस लिये हुई! अब ख़ैरियत नहीं नज़र आती! घर के दरवाजे बंद कर लिए। नौकरों से बोले—"कह दो, घर में नहीं है।"

सवार—घर में नहीं, तो कहाँ हैं?

नौकर—यह मैं नहीं जानता। क्या काम है?

सवार—काम तुझे क्या बतलाऊँ? हुजूर में तलबी है—शायद फ़ौज के लिये कुछ सिपाही माँगे गये हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी! मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा!

नौकर—अच्छा, तो जाइए, कह दिया जायगा।

सवार—कहने की बात नहीं है। मैं कल खुद आऊँगा। साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।

सवार चला गया। मीर साहब की आत्मा काँप उठी। मिर्ज़ाजी से बोले—कहिए जनाब, अब क्या होगा?

मिर्ज़ा—बड़ी मुसीबत है। कहीं मेरी भी तलबी न हो।

मीर—कम्बख्त कल फिर आने को कह गया है!

मिर्ज़ा—आफ़त है, और क्या! कहीं मोरचे पर जाना पड़ा, तो बेमौत मरे।

मीर—बस, यही एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नक्शा जमे। वहाँ किसे ख़बर होगी? हज़रत आकर आप लौट जायँगे।

मिर्ज़ा—वल्लाह, आपको खूब सूझी! इसके सिवा और कोई तदबीर नहीं है।

इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं—"तुमने खूब धता बताई।" उसने जवाब दिया—"ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली। अब भूलकर भी घर पर न रहेंगे।"

३

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुँह-अँधेरे घर से निकल खड़े होते। बग़ल में एक छोटी-सी दरी दबाए, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे गोमती-पार की एक पुरानी वीरान मसजिद में चले जाते, जिसे शायद नवाब आसिफ़उद्दौला ने बनवाया था। रास्ते में तम्बाकू, चिलम और मदरिया ले लेते, और मसजिद में पहुँच, दरी बिछा, हुक्का भरकर शतरंज खेलने बैठ जाते थे।

फिर उन्हें दीन-दुनिया की फ़िक्र न रहती थी। 'किश्त', 'शह' आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूख मालूम होती, तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दूकान पर जाकर खाना खा आते, और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। कभी-कभी तो उन्हें भोजन का भी ख़याल न रहता था।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को ले-लेकर देहातों में भाग रहे थे। पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी ज़रा भी फ़िक्र न थी। वे घर से आते, तो गलियों में होकर। डर था कि कहीं किसी बादशाही मुलाज़िम की निगाह न पड़ जाय, जो बेगार में पकड़ जायँ। हज़ारों रुपए सालाना की जागीर मुफ्त में ही हजम करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खँडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मिर्ज़ा की बाजी कुछ कमजोर थी। मीर साहब उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिए। यह गोरों की फौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिये आ रही थी।

मीर साहब बोले—अँगरेजी फ़ौज आ रही है; खुदा खैर करे।

मिर्ज़ा—आने दीजिए, किश्त बचाइए। लो यह किश्त !

मीर—ज़रा देखना चाहिए—यहीं आड़ में खड़े हो जायँ।

मिर्ज़ा—देख लीजिएगा, जल्दी क्या है, फिर किश्त !

मीर—तोपख़ाना भी है। कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। कैसे जवान हैं। लाल बंदरों के-से मुंह हैं। सूरत देखकर ख़ौफ़ मालूम होता है।

मिर्ज़ा—जनाब, हीले न कीजिए। ये चकमे किसी और को दीजिएगा—यह किश्त !

मीर—आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफ़त आई हुई है, और आपको किश्त की सूझी है ! कुछ इसकी भी खबर है कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे ?

मिर्ज़ा—जब घर चलने का वक्त आवेगा, तो देखी जायगी—यह किश्त ! बस, अब की शह में मात है।

फ़ौज निकल गई। दस बजे का समय था फिर बाजी बिछ गई।

मिर्ज़ा बोले—आज खाने की कैसी ठहरेगी ?

मीर–अजी, आज तो रोज़ा है। क्या आपको ज्यादा भूख मालूम होती है ?

मिर्ज़ा—जी नहीं। शहर में न-जाने क्या हो रहा है।

मीर—शहर में कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना खा-खाकर आराम से सो रहे होंगे। हुजूर नवाब साहब भी ऐशगाह में होंगे।

दोनों सज्जन फिर जो खेलने बैठे तो तीन बज गए। अब की मिर्ज़ाजी की बाजी कमजोर थी। चार का गजर बज ही रहा था कि फ़ौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली शाह पकड़ लिए गए थे, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिए जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मार-काट। एक बूँद भी खून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शांति से, इस तरह खून बहे बिना न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था, जिस पर बड़े-से-बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बंदी बना चला जाता था, और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनीतिक अधःपतन की चरम सीमा थी।

मिर्ज़ा ने कहा—हुजूर नवाब साहब को ज़ालिमों ने क़ैद कर लिया है।

मीर—होगा, यह लीजिए शह !

मिर्ज़ा—जनाब ज़रा ठहरिए। इस वक्त इधर तबीयत नहीं लगती। बेचारे नवाब साहब इस वक्त खून के आँसू रो रहे होंगे।

मीर—रोया ही चाहें, यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगा—यह किश्त !

मिर्ज़ा—किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है।

मीर—हाँ, सो तो है ही—यह लो, फिर किश्त ! बस, अब की किश्त में मात है, बच नहीं सकते।

मिर्ज़ा—खुदा की क़सम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपको दुःख नहीं होता। हाय, ग़रीब वाजिदअली शाह !

मीर—पहले अपने बादशाह को तो बचाइए, फिर नवाब साहब का मातम कीजिएगा। यह किश्त और मात। लाना हाथ !

बादशाह को लिए हुए सेना सामने से निकल गई। उनके जाते ही मिर्ज़ा ने फिर बाजी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा—"आइए, नवाब साहब के मातम में एक मरसिया कह डालें।" लेकिन मिर्ज़ाजी की राजभक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी, वह हार का बदला चुकाने के लिये अधीर हो रहे थे।

(४)

शाम हो गई। खँडहर में चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया। अबाबीलें आ-आकर अपने-अपने घोसलों में चिमटीं। पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे, मानो दो खून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों।

मिर्ज़ाजी तीन बाज़ियाँ लगातार हार चुके थे ; इस चौथी बाजी का रंग भी अच्छा न था। वह बार-बार जीतने का दृढ़ निश्चय करके सँभलकर खेलते थे; लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी ख़राब हो जाती थी। हर बार हार के प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी। उधर मीर साहब मारे उमंग के ग़ज़लें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गए हों। मिर्ज़ाजी सुन-सुनकर झुँझलाते और हार की झेंप मिटाने के लिये उनकी दाद देते थे। पर ज्यों-ज्यों बाज़ी कमज़ोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकलता जाता था। यहाँ तक कि वह बात-बात पर झुँझलाने लगे—"जनाब, आप चाल न बदला कीजिए। यह क्या कि एक चाल चले, और फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो एक बार चल लीजिए। यह आप मुहरे पर ही हाथ क्यों रखे रहते हैं ? मुहरे को छोड़ दीजिए। जब तक आपको चाल न सूझे, मुहरा छूइए ही नहीं। आप एक-एक चाल आध-आध घंटे में चलते हैं। इसकी सनद नहीं। जिसे एक चाल चलने में पाँच मिनट से ज्यादा लगे, उसकी मात समझी जाय। फिर आपने चाल बदली ! चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिए।"

मीर साहब का फ़रज़ी पिटता था। बोले—मैंने चाल चली ही कब थी ?

मिर्ज़ा—आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिए—उसी घर में।

मीर—उस घर में क्यों रक्खूँ ? हाथ से मुहरा छोड़ा कब था।

मिर्ज़ा—मुहरा आप क़यामत तक न छोड़ें, तो क्या चाल ही न होगी ? फ़रज़ी पिटते देखा, तो धाँधली करने लगे !

मीर—धाँधली आप करते हैं। हार-जीत तक़दीर से होती है; धाँधली करने से कोई नहीं जीतता।

मिर्ज़ा—तो इस बाज़ी में आपकी मात हो गई ?

मीर—मुझे क्यों मात होने लगी।

मिर्ज़ा—तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहाँ पहले रक्खा था।

मीर—वहाँ क्यों रक्खूँ ? नहीं रखता।

मिर्ज़ा—क्यों न रखिएगा ? आप को रखना होगा।

तकरार बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे। न यह दबता था न वह। अप्रासंगिक बातें होने लगीं। मिर्ज़ा बोले—किसी ने ख़ानदान में शतरंज खेली होती, तब तो इसके क़ायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किए, आप शतरंज क्या खेलिएगा। रियासत और ही चीज़ है। जागीर मिल जाने ही से कोई रईस नहीं हो जाता।

मीर—क्या ! घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे ! यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आते हैं।

मिर्ज़ा—अजी जाइए भी, ग़ाज़िउद्दीन हैदर के यहाँ बावर्ची का काम करते-करते उम्र गुज़र गई, आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं।

मीर—क्यों अपने बुजुर्गों के मुँह में कालिख लगाते हो—वे ही बावर्ची का काम करते होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख्वान पर खाना खाते चले आए हैं।

मिर्ज़ा—अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-बढ़कर बातें न कर।

मीर—ज़बान सँभालिए, वर्ना बुरा होगा। मैं ऐसी बातें सुनने का

आदी नहीं हूँ। यहाँ तो किसी ने आँखें दिखाईं कि उसकी आँखें निकालीं। है हौसला ?

मिर्ज़ा—आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइए, आज दो-दो हाथ हो जायँ, इधर या उधर।

मीर—तो यहाँ, तुमसे दबने वाला कौन है ?

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी ज़माना था; सभी तलवार, पेशकब्ज़, कटार वग़ैरह बाँधते थे। दोनों विलासी थे; पर कायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था। बादशाहत के लिये क्यों मरें ? पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों ने पैतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ें आईं। दोनों ज़ख्म खाकर गिरे, और दोनों ने वहीं तड़प-तड़पकर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिये जिनकी आँखों से बूँद आँसू न निकला, उन्हीं ने शतरंज के वज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिए।

अँधेरा हो चला था। बाज़ी बिछी हुई थी। दोनों बादशाह अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे मानो इन दोनों वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे।

चारों तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ था। खँडहर की टूटी हुई मेहराबें, गिरी हुई दीवारें और धूलि-धूसरित मीनारें इन लाशों को देखती और सिर धुनती थीं।

आत्माराम

बेंदों-ग्राम में महादेव सोनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान में प्रातः से संध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ खटखट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लोग इतने अभ्यस्त हो गए थे कि जब किसी कारण से वह बंद हो जाती, तो जान पड़ता था, कोई चीज़ ग़ायब हो गई है। वह नित्यप्रति एक बार प्रातः-काल अपने तोते का पिंजड़ा लिए कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले प्रकाश में उसका जर्जर शरीर, पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देखकर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्यों ही लोगों के कानों में आवाज़ आती—"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता" लोग समझ जाते कि भोर हो गया।

महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। उसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थीं, दर्जनों नाती-पोते थे; लेकिन उसके बोझ को हल्का करनेवाला कोई न था। लड़के कहते—"जब तक दादा जीते हैं, हम

जीवन का आनन्द भोग लें, फिर तो यह ढोल गले पड़ेगा ही।" बेचारे महादेव को कभी-कभी निराहार ही रहना पड़ता। भोजन के समय उसके घर में साम्यवाद का ऐसा गगनभेदी निर्घोष होता कि वह भूखा ही उठ आता, और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उसका व्यावसायिक जीवन और भी अशांतिकारक था। यद्यपि वह अपने काम में निपुण था, उसकी खटाई औरों से कहीं ज्यादा शुद्धिकारक और उसकी रासायनिक क्रियाएँ कहीं ज्यादा कष्टसाध्य थीं, तथापि उसे आए-दिन शक्की और धैर्य-शून्य प्राणियों के अपशब्द सुनने पड़ते थे। पर महादेव अविचलित गांभीर्य से सिर झुकाए सब कुछ सुना करता। ज्यों ही यह कलह शांत होती, वह अपने तोते की ओर देखकर पुकार उठता—"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।" इस मंत्र के जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शांति प्राप्त हो जाती थी।

२

एक दिन संयोगवश किसी लड़के ने पिंजड़े का द्वार खोल दिया। तोता उड़ गया। महादेव ने सिर उठाकर जो पिंजड़े की ओर देखा, तो उसका कलेजा सन्न-से हो गया। तोता कहाँ गया! उसने फिर पिंजड़े को देखा, तोता ग़ायब था। महादेव घबराकर उठा, और इधर-उधर खपरैलों पर निगाह दौड़ने लगा। उसे संसार में कोई वस्तु अगर प्यारी थी, तो वह यही तोता। लड़के-बालों, नाती-पोतों से उसका जी भर गया था। लड़कों की चुलबुल से उसके काम में विघ्न पड़ता था। बेटों से उसे प्रेम न था; इसलिये नहीं कि वे निकम्मे थे, बल्कि इसलिये कि उनके कारण वह अपने अपने आनंददायी कुल्हड़ों की नियमित संख्या से वंचित रह जाता था। पड़ोसियों से उसे चिढ़ थी, इसलिये कि वह उसकी अँगीठी

से आग निकाल ले जाते थे। इन समस्त विघ्न-बाधाओं से उसके लिये कोई पनाह थी, तो वह यही तोता। इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट न होता था। वह अब उस अवस्था में था, जब मनुष्य को शांति-भोग के सिवा और कोई इच्छा नहीं रहती।

तोता एक खपरैल पर बैठा था। महादेव ने पिंजड़ा उतार लिया, और उसे दिखाकर कहने लगा—"आ, आ, सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता।" लेकिन गाँव और घर के लड़के एकत्र होकर चिल्लाने और तालियाँ बजाने लगे। ऊपर से कौओं ने काँव-काँव की रट लगाई। तोता उड़ा, और गाँव से बाहर निकलकर एक पेड़ पर जा बैठा। महादेव खाली पिंजड़ा लिए उसके पीछे दौड़ा, सो दौड़ा। लोगों को उसकी द्रुत-गामिता पर अचंभा हो रहा था। मोह की इससे सुंदर, इससे सजीव, इससे भावमय कल्पना नहीं की जा सकती।

दोपहर हो गई थी। किसान लोग खेतों से चले आ रहे थे। उन्हें विनोद का अच्छा अवसर मिला। महादेव को चिढ़ाने में सभी को मज़ा आता था। किसी ने कंकड़ फेके, किसी ने तालियाँ बजाई; तोता फिर उड़ा, और वहाँ से दूर आम के बाग़ में एक पेड़ की फुनगी पर जा बैठा। महादेव फिर खाली पिंजड़ा लिए मेढक की भाँति उचकता चला। बाग़ में पहुँचा, तो पैर के तलुओं से आग निकल रही थी, सिर चक्कर खा रहा था। जब ज़रा सावधान हुआ, तो फिर पिंजड़ा उठाकर कहने लगा—"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता।" तोता फुनगी से उतरकर नीचे की एक डाल पर आ बैठा; किन्तु महादेव की ओर सशंक नेत्रों से ताक रहा था। महादेव ने समझा, डर रहा है। वह पिंजड़े को छोड़कर आप एक दूसरे पेड़ की आड़ में छिप गया। तोते ने चारो ओर ग़ौर से देखा, निश्शंक हो गया, उतरा और आकर पिंजड़े के ऊपर बैठ गया, महादेव

का हृदय उछलने लगा। "सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता" का मंत्र जपता हुआ धीरे-धीरे तोते के समीप आया, और लपका कि तोते को पकड़ ले, किन्तु तोता हाथ न आया, फिर पेड़ पर जा बैठा।

शाम तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर। कभी पिंजड़े पर आ बैठता, कभी पिंजड़े के द्वार पर बैठ अपने दाना-पानी की प्यालियों को देखता, और फिर उड़ जाता। बुड्ढा अगर मूर्तिमान् मोह था, तो तोता मूर्तिमती माया। यहाँ तक कि शाम हो गई। माया और मोह का यह संग्राम अंधकार में विलीन हो गया।

३

रात हो गई। चारों ओर निविड़ अंधकार छा गया। तोता न जाने पत्तों में कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़कर नहीं जा सकता, और न पिंजड़े ही में आ सकता है, फिर भी वह उस जगह से हिलने का नाम न लेता था। आज उसने दिन-भर कुछ नहीं खाया, रात के भोजन का समय भी निकल गया, पानी की एक बूँद भी उसके कंठ में न गई; लेकिन उसे न भूख थी, न प्यास। तोते के बिना उसे अपना जीवन निस्सार, शुष्क और सूना जान पड़ता था। वह दिन-रात काम करता था, इसलिये कि यह उसकी अंतःप्रेरणा थी, जीवन के और काम इसलिये करता था कि आदत थी। इन कामों में उसे अपनी सजीवता का लेश-मात्र भी ज्ञान न होता था। तोता ही वह वस्तु था, जो उस चेतना की याद दिलाता था। उसका हाथ से जाना जीव का देह-त्याग करना था।

महादेव दिन-भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा रह-रहकर झपकियाँ

ले लेता था; किंतु एक क्षण में फिर चौंककर आँखें खोल देता और उस विस्तृत अंधकार में उसकी आवाज़ सुनाई देती—"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता।"

आधी रात गुज़र गई थी। सहसा वह कोई आहट पाकर चौंका। देखा, एक दूसरे वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है, और कई आदमी बैठे हुए आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वे सब चिलम पी रहे थे। तमाखू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्च स्वर से बोला—"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता," और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला, किंतु जिस प्रकार बंदूक़ की आवाज़ सुनते ही हिरन भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे आते देख वे सब-के-सब उठकर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर। महादेव चिल्लाने लगा—"ठहरो-ठहरो!" एकाएक उसे ध्यान आ गया, ये सब चोर हैं। वह ज़ोर से चिल्ला उठा—"चोर-चोर, पकड़ो-पकड़ो!" चोरों ने पीछे फिरकर भी न देखा।

महादेव दीपक के पास गया, तो उसे एक कलसा रखा हुआ मिला। मोरचे से काला हो रहा था। महादेव का हृदय उछलने लगा। उसने कलसे में हाथ डाला, तो मोहरें थीं। उसने एक मोहर बाहर निकाली, और दीपक के उजाले में देखा; हाँ, मोहर थी। उसने तुरत कलसा उठा लिया, दीपक बुझा दिया, और पेड़ के नीचे छिपकर बैठ रहा। साह से चोर बन गया।

उसे फिर शंका हुई, ऐसा न हो, चोर लौट आवें, और मुझे अकेला देखकर मोहरें छीन लें। उसने कुछ मोहरें कमर में बाँधीं, फिर एक सूखी लकड़ी से ज़मीन की मिट्टी हटाकर कई गड्ढे बनाए, उन्हें मोहरों से भरकर मिट्टी से ढंक दिया।

४

महादेव के अंतर्नेत्रों के सामने अब एक दूसरा ही जगत् था, चिंताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जाने का भय था; पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफ़े की एक भारी दूकान खुल गई, निज संबंधियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्रित हो गईं। तब तीर्थ-यात्रा करने चले, और वहाँ से लौटकर बड़े समारोह से यज्ञ, ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक बाग़ भी लग गया और वहाँ वह नित्यप्रति कथा-पुराण सुनने लगा। साधु-संतों का आदर-सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया, कहीं चोर आ जायँ, तो मैं भागूँगा क्योंकर? उसने परीक्षा करने लिये कलसा उठाया, और दो सौ पग तक बेतहाशा भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था, उसके पैरों में पर लग गए हैं। चिंता शांत हो गई। इन्हीं कल्पनाओं में रात व्यतीत हो गई। उषा का आगमन हुआ, हवा जगी, चिड़ियाँ गाने लगीं। सहसा महादेव के कानों में आवाज़ आई—

"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।"

यह बोल सदैव महादेव की जिह्वा पर रहता था। दिन में सहस्रों ही बार ये शब्द उसके मुख से निकलते थे; पर उनका धार्मिक भाव कभी उसके अंतःकरण को स्पर्श न करता था। जैसे किसी बाजे से राग निकलता है, उसी प्रकार उसके मुँह से यह बोल निकलता था, निरर्थक और प्रभाव-शून्य। तब उसका हृदय-रूपी वृक्ष पत्र-पल्लव-विहीन था। यह निर्मल वायु उसे गुंजारित न कर सकती थी। पर अब उस वृक्ष में

कोपलें और शाखाएँ निकल आई थीं; इस वायु-प्रवाह से झूम उठा; गुंजित हो गया।

अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता परों को जोड़े हुए ऊँची डाली से उतरा, जैसे आकाश से कोई तारा टूटे, और आकर पिंजड़े में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित होकर दौड़ा, और पिंजड़े को उठाकर बोला—"आओ आत्माराम, तुमने कष्ट तो बहुत दिया; पर मेरा जीवन भी सफल कर दिया। अब तुम्हें चाँदी के पिंजड़े में रक्खूँगा और सोने से मढ़ दूँगा।" उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी। प्रभु, तुम कितने दयावान् हो! यह तुम्हारा असीम वात्सल्य है, नहीं तो मुझ-जैसा पापी, पतित प्राणी कब इस कृपा के योग्य था! इन पवित्र भावों से उसकी आत्मा विह्वल हो गई। वह अनुरक्त होकर कह उठा—

"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरण में चित्त लागा।"

उसने एक हाथ में पिंजड़ा लटकाया, बग़ल में कलसा दबाया और घर चला।

(५)

महादेव घर पहुँचा, तो अभी कुछ अँधेरा था। रास्ते में एक कुत्ते के सिवा और किसी से भेंट न हुई, और कुत्ते को मोहरों से विशेष प्रेम नहीं होता। उसने कलसे को एक नाँद में छिपा दिया, और उसे कोयले से अच्छी तरह ढंककर अपनी कोठरी में रख आया। जब दिन निकल आया, तो वह सीधे पुरोहितजी के घर पहुँचा। पुरोहितजी पूजा पर बैठे सोच रहे थे। कल ही मुक़दमे की पेशी है, और अभी तक हाथ में कौड़ी

भी नहीं—जजमानों में कोई साँस भी नहीं लेता। इतने में महादेव ने पालागन की। पंडितजी ने मुँह फेर लिया। यह अमंगलमूर्ति कहाँ से आ पहुँची, मालूम नहीं, दाना भी मयस्सर होगा या नहीं। रुष्ट होकर पूछा—"क्या है जी, क्या कहते हो? जानते नहीं, हम इस समय पूजा पर रहते हैं?" महादेव ने कहा—"महाराज, आज मेरे यहाँ सत्यनारायन की कथा है।"

पुरोहितजी विस्मित हो गए। कानों पर विश्वास न हुआ। महादेव के घर कथा का होना उतनी ही असाधारण घटना थी, जितनी अपने घर से किसी भिखारी के लिये भीख निकालना। पूछा—"आज क्या है?"

महादेव बोला—"कुछ नहीं, ऐसी ही इच्छा हुई कि आज भगवान् की कथा सुन लूँ।"

प्रभात ही से तैयारी होने लगी। बेंदो और अन्य निकटवर्ती गाँवों में सुपारी फिरी। कथा के उपरांत भोज का भी नेवता था। जो सुनता, आश्चर्य करता। यह आज रेत में दूब कैसे जमी!

संध्या-समय जब सब लोग जमा हो गए, पंडितजी अपने सिंहासन पर विराजमान हुए, तो महादेव खड़ा होकर उच्च स्वर से बोला—"भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट में कट गई। मैंने न-जाने कितने आदमियों को दगा दी, कितना खरे को खोटा किया, पर अब भगवान् ने मुझ पर दया की है, वह मेरे मुँह की कालिख को मिटाना चाहते हैं। मैं आप सभी भाइयों से ललकारकर कहता हूँ कि जिसका मेरे ज़िम्मे जो कुछ निकलता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खोटा कर दिया हो, वह आकर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले। अगर कोई यहाँ न आ सका हो, तो आप लोग उससे जाकर कह दीजिए, कल

से एक महीने तक जब जी चाहे आवे, और अपना हिसाब चुकता कर ले। गवाही-साखी का काम नहीं।"

सब लोग सन्नाटे में आ गए। कोई मार्मिक भाव से सिर हिलाकर बोला—"हम कहते न थे!" किसी ने अविश्वास से कहा—"क्या खाकर भरेगा, हज़ारों का टोटल हो जायगा!"

एक ठाकुर ने ठठोली की—"और जो लोग सुरधाम चले गये?"

महादेव ने उत्तर दिया—"उनके घरवाले तो होंगे।"

किंतु इस समय लोगों को वसूली की इतनी इच्छा न थी, जितनी यह जानने की कि इसे इतना धन मिल कहाँ से गया? किसी को महादेव के पास आने का साहस न हुआ। देहात के आदमी थे, गड़े मुर्दे उखाड़ना क्या जानें। फिर प्रायः लोगों को याद भी न था कि उन्हें महादेव से क्या पाना है, और ऐसे पवित्र अवसर पर भूल-चूक हो जाने का भय उनका मुँह बंद किए हुए था। सबसे बड़ी बात यह थी कि महादेव की साधुता ने उन्हें वशीभूत कर लिया था।

अचानक पुरोहितजी बोले—तुम्हें याद है, मैंने एक कंठा बनाने के लिये सोना दिया था, और तुमने कई माशे तौल में उड़ा दिए थे।

महादेव—हाँ याद है, आपका कितना नुक़सान हुआ होगा?

पुरोहित—पचास रुपये से कम न होगा।

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं, और पुरोहितज़ी के सामने रख दीं।

पुरोहित की लोलुपता पर टीकाएँ होने लगीं। यह बेईमानी है, बहुत हो, तो दो-चार रुपए का नुक़सान हुआ होगा। बेचारे से पचास रुपये ऐंठ लिए। नारायण का भी डर नहीं। बनने को तो पंडित, पर नीयत ऐसी ख़राब! राम-राम!!

लोगों को महादेव पर एक श्रद्धा-सी हो गई। एक घंटा बीत गया; पर उन सहस्रों मनुष्यों में से एक भी न खड़ा हुआ। तब महादेव ने फिर कहा—"मालूम होता है, आप लोग अपना-अपना हिसाब भूल गए हैं। इसलिये आज कथा होने दीजिए, मैं एक महीने तक आपकी राह देखूँगा। इसके पीछे तीर्थ-यात्रा करने चला जाऊँगा। आप सब भाइयों से मेरी विनती है कि आप मेरा उद्धार करें।"

एक महीने तक महादेव लेनदारों की राह देता रहा। रात को चोरों के भय से नींद न आती। अब वह कोई काम न करता। शराब का चसका भी छूटा। साधु-अभ्यागत जो द्वार पर आ जाते, उनका यथा-योग्य सत्कार करता। दूर-दूर उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया, और एक आदमी भी हिसाब लेने न आया। अब महादेव को ज्ञात हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना सद्व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि संसार बुरों के लिये बुरा है, और अच्छों के लिये अच्छा।

६

इस घटना को हुए ५० वर्ष बीत चुके हैं। आप बेदों जाइए, तो दूर ही से एक सुनहला कलस दिखाई देता है। यह ठाकुरद्वारे का कलस है। उससे मिला हुआ एक पक्का तालाब है, जिसमें खूब कमल खिले रहते हैं। उसकी मछलियाँ कोई नहीं पकड़ता। तालाब के किनारे एक विशाल समाधि है। यही आत्माराम का स्मृतिचिह्न है। उनके सम्बन्ध में विभिन्न किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कोई कहता है उसका रत्नजटित पिंजड़ा स्वर्ग को चला गया, कोई कहता है वह 'सत्त गुरु दत्त' कहता हुआ अन्तर्ध्यान हो गया। पर यथार्थ यह है कि उस पक्षी-रूपी चन्द्र को

किसी बिल्ली-रूपी राहु ने ग्रस लिया। लोग कहते हैं, आधी रात को अभी तक तालाब के किनारे आवाज़ आती है—

"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।"

महादेव के विषय में भी कितनी जनश्रुतियाँ हैं। उनमें सबसे मान्य यह है कि आत्माराम के समाधिस्थ होने के बाद वह कई संन्यासियों के साथ हिमालय चला गया, और वहाँ से लौटकर न आया। उसका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

राय कृष्णदास

जन्मकाल रचनाकाल

१९४९ वि० १९१७ ई०

गहूला

उत्तरी भारत के हूण अधिपति तोमारल के राज्य में मन्दसोर एक प्रधान प्रान्त था। हेमनाभ वहाँ का क्षत्रप था। वह साल में दो बार अधिपति की सेवा में कर देने उपस्थित होता। हूण साम्राज्य की राजधानी उस समय मथुरा थी।

हेमनाभ वहाँ एक महीना बिताकर घर लौटता। मन्दसोर में मथुरा जैसी चहल-पहल थोड़ी ही थी। फिर वहाँ के बाजार में देश-देशान्तर की चीज़ें आतीं—चीन के कौशेय, सिंहल के छपे कपड़े और मोती, फ़ारस के घोड़े, यवन-दासियाँ—जो चाहो एक ही स्थान पर ले लो। मथुरा उन दिनों की कलकत्ता, बम्बई समझिये। क्षत्रप अपने लिए, मित्रों के लिए और व्यवसाय के लिए हजारों माल लेते। उस समय के हजार का मोल आजकल के लाख के बराबर है।

राजधानी के सभी उच्चपदस्थ अधिकारियों से उसका खूब मेल-जोल था। कुछ पद के कारण नहीं, अपने स्वभाव के कारण भी। वह बड़ा ही मिलनसार था। अकसर अपने इन मित्रों के संग वह गोष्ठियों और यात्राओं के सुख लूटता। किन्तु कदम्ब और तमाल के झुरमुटों में जब शराब का बाज़ार गर्म हो उठता, तब न-जाने क्यों उसका हृदय उदास हो उठता। नशे से उत्तेजित मस्तिष्क उसके सामने उन कुञ्जों में कृष्ण-लीला के दृश्य उपस्थित करता और साथ ही उसकी नशीली मनोवृत्ति उसे थपेड़े लगाने लगती, कि आज उन्हीं कुञ्जों में ये हूण आनन्द कर रहे हैं, और तुम—चन्द्रवंश की सन्तान—भी उन्हीं के पीछे लगे-लगे मुर्दे की तरह यह दशा देख रहे हो!

फिर मन्दिरों की चहल-पहल; हीनयान, महायान-आदि अनेक सम्प्रदाय के बौद्ध और हिन्दू दोनों ही धर्मों के मन्दिरों में उसे भिन्न-भिन्न दृष्य दिखलाई पड़ते। जैन-मन्दिरों का वायु-मण्डल इन दोनों से भिन्न था। देवकुलों की चहल-पहल कुछ निराली ही थी। अजातशत्रु से लेकर उस समय तक के सम्राटों की प्रतिकृतियों को देख-देखकर उसके हृदय में विलक्षण-विलक्षण भाव जाग्रत होते।

मठों और विहारों में जाना भी वह न भूलता। और फिर एकान्त में बैठकर वह सद्धर्म से लेकर आज के महायान और उसके अवान्तर यानों तक क्रम-विकास पर विचार करता। भगवान् तथा धर्म का यह नया उग्र रूप उसे न जंचता। स्थविरों की करतूतों से उसे बौद्धधर्म के ह्रास का निश्चय था। फिर वह यह भी देखता कि किस प्रकार एक ओर इन उत्कट सिद्धान्तों को हिन्दू कौल अपना रहे हैं, दूसरी ओर सद्धर्म की सभी अच्छी बातें कट-छँटकर भागवत धर्म में विलीन हो रही हैं।

प्रवन्ध के झंझटों से साल में दो बार अलग होकर, इन सब बातों के निरीक्षण और समझने में उसे बड़ा आनन्द मिलता है। उसकी कुण्ठित वृत्तियाँ पुनः जीवित हो उठतीं और अपनी नगरी में लौटकर वह नये उत्साह से कार्य-भार वहन करता।

इन सब से बढ़कर उस राजधानी में एक और आकर्षण था—राजकुमारी गहूला विशेष आग्रह से हेमनाभ को राजधानी में रुकने के लिए कहती।

एकोनविंशति-वर्षीया राजकन्या अकसर उसे अपने उपवन में बुलाती और माधवी-निकुञ्ज में उसे अपने सामने बिठाकर मन्दसोर के बारे में अनेक बातें पूछती—"सुनती हूँ, वहाँ सौन्दर्य की खान है। क्षत्रप, तुम एक बार तो मुझे वहाँ की सुन्दरियों से मिलाओ, मैं उनसे मैत्री करूँगी;—राजकन्या जैसा बर्ताव न करूँगी। बोलो, मुझे कब वहाँ की यात्रा कराओगे ?"

"देवि, जब आपकी आज्ञा हो।"—प्रति बार हेमनाभ का यही उत्तर होता। और, राजकुमारी कभी कोई समय नियत न करती। साथ ही उससे उक्त बात कहना भी न भूलती। अकसर इसके साथ उलहना भी सम्मिलित होता—"उस बार तो खूब ले गये ! देखना है, इस बार ले चलते हो कि नहीं। क्या तुम्हें वहाँ की सुन्दरता पर इतना ममत्व है, कि संसार को उससे वंचित रखना चाहते हो ? मुझे तो इसी का अचरज है कि जब उस पर तुम्हें इतना मोह है, तब भी तुम क्वाँरे क्यों बने हो ?"

"भवति, मोह से क्या, प्रेम जो चाहिये।" इस उत्तर के संग उसके मुँह से एक ठण्डी साँस भी निकल पड़ती।

घड़ियों बातें होतीं। मोतिया और फरास के पेड़ मर्मर किया करते और राजकुमारी अपने एकटक धवल नयनों से हेमनाभ को सींचती हुई

उसकी बातें सुना करती। अपने हाथों स्फटिक-पात्र से द्राक्षासव ढालकर रत्न-चषक से उसे पिलाती और उसकी आँखों में राग दौड़ते देखती।

कभी उसे अपने मयूरों का नृत्य भी दिखलाती और पूछती कि कहीं ऐसे सुन्दर मयूर तुमने देखे हैं?

"श्रीमती, चाहे आप मेरा विश्वास करें वा नहीं, व्रज-जैसी सुन्दरता मैंने कहीं नहीं देखी; एक मयूरों पर ही क्या?"

"किन्तु एक बात तुम भूलते हो। एक मुझे छोड़कर?" राजकुमारी की बड़ी-बड़ी आँखें हेमनाभ का मन टटोलने लगतीं और बिना उसके मुँह से कुछ भी कहलाए हुए अभिलषित, साथ ही सच्चा उत्तर पाकर तब कल पातीं। इस बीच हेमनाभ सिर नीचा ही किये रहता। जब राजकुमारी के नेत्र हट जाते, तब एक ही निमेष में, आँख भर के, उसका मुँह देखकर वह राजकुमारी से आज्ञा लेता।

क्या-जाने क्यों, पीठ फेरते ही उसके मुँह से एक दीर्घ निश्वास निकल जाती। इसी के संग उसे किसी और के निश्वास की आहट मिलती।

जब बिदा का समय आता, गहूला उसे अपना लीला-कमल देती और सहेजती—"देखो, अपने कार्य में प्रमत्त न होना।" हेमनाभ उस कमल तथा आदेश को सिर चढ़ाकर बिदा होता। किन्तु, एकान्त पाते ही उस कमल को छाती से लगाता। सम्भवतः इसके साथ ही वह आदेश भी उसके हृदय पर अंकित हो जाता रहा हो।

उस लीला-कमल को वह फेंक न देता। एक सुगन्धित रेशमी टुकड़े में लपेटकर उसे सौवर्ण सूत्र से बाँधकर एक सुन्दर मञ्जूषा में रखता जाता। प्रत्येक पर स्वर्ण की एक मुद्रा भी बनवाकर ग्रथित कर देता। इन मुद्राओं पर पाने की तिथि और सम्वत् अंकित होते। अकसर उन्हें देखकर वह अतीत के स्वप्न देखता।

(२)

एक साल मन्दसोर में वर्षा न हुई। भयानक काल उपस्थित हुआ। उस समय रेल न थी कि अन्न कहीं बाहर जाता। पर वहाँ तो अन्न जाने का कोई प्रश्न ही न था। एक दाना भी तो न उपजा था। चारों ओर हाहाकार मच गया। लोग देश छोड़-छोड़कर भागने लगे। हेमनाभ ने पीड़ितों की सहायता के लिये कई सागर आदि बनवाना आरम्भ किया, पर यह सब ताड़ में तिल बराबर था।

राजस्व वसूल होने की कोई सम्भावना न थी। हेमनाभ के लाख सिर मारने पर भी कोई फल न हुआ। जब कर लेकर मथुरा में उपस्थित होने का समय बीत गया, तब उसने सब हाल सम्राट् तोमारल के पास लिख भेजा, और अपने प्रान्त को उस वर्ष के लिए कर-मुक्त करने की सम्मति दी; किन्तु हूण-शासन विचार-मूलक न था। उसका मूल-मन्त्र था, तलवार का ज़ोर, भयङ्कर रक्तपात, प्रलयङ्कर उत्पात, निर्दयता की पराकाष्ठा।

आदेश हुआ, तलवार से कर वसूल करो। जो गाँव भूखे मर रहे हों उन्हें जला दो। ऐसों के मरने में ही उन्हें और साम्राज्य, दोनों को सुख है। सहायता का काम बन्द कर दो, रिक्त राज्य-कोष को और रिक्त न करो। नगर में मुनादी करादो कि तीन दिन में लोग प्रान्त-भर के लिए कर चुका दें। नहीं तो तलवार के ज़ोर से कर वसूल करो। महीपति की आज्ञा शिरोधार्य न करनेवालों के रक्त से उत्तप्त मही को सींचो।

हेमनाभ काँप उठा। इससे जघन्य और क्या आज्ञा हो सकती थी? वह अपने पद और अपने-को कोसने लगा। किन्तु राजाज्ञा माननीय थी। क्या इसी दिन के लिए गहूला उसे प्रति वार अपने कार्य्य से प्रमत्त न होने के लिए चिताया करती? गहूला! राजकुमारी! तुम हूण-रमणी हो?

चाहे आज हम लोगों को इस बात का आश्चर्य्य हो कि एक आदमी का, जिसके किसी पूर्वज ने अपने बाहुबल से राज्य-स्थापना की हो, लोग क्योंकर मन्त्र-मुग्ध सर्प की भाँति—बीसवीं सदी के यन्त्रों की भाँति—बिना कुछ कहे-सुने, आदेश, चाहे वह कैसा-ही क्यों न हो, पालन कर सकते थे! लेकिन जिस ज़माने में बुद्धि की परतन्त्रता थी, और आज भी जहाँ बुद्धि की परतन्त्रता है; वहाँ के लोगों को अपनी इस हीनता का ज्ञान नहीं रहता। बुद्धि, तुझे परतन्त्र बनाने में जन्म ही से धर्म-शिक्षा का कितना हाथ है, इसका उत्तर तू ही दे?

हेमनाभ के लिए कोई मार्ग न था। उसने स्वयं राजनगर में जाकर सब बातें तै क्यों न कीं? सम्भव था कि वह मन्दसोर को इस कठोर आज्ञा से बचा लेता। वह अपने-को धिक्कारने लगा। अब आज्ञा परिवर्त्तन असम्भव था। भला हूण-राज्य के मुँह से जो बात निकल गई, वह बदली जा सकती है? सेना से भी वह आज्ञा-पालन-मात्र के लिए—विवेक और दयापूर्वक आज्ञा-पालन को नहीं कह सकता। क्योंकि हूणों ने अपना राज्य स्थिर रखने के लिए और अपनी नीति न बदली जाने के लिए, सेना-विभाग नीचे से ऊपर तक, अपनी ही जाति के हाथों में रखा था।

लाचार होकर उसने अपने प्रान्त के सेनापति, देहधारी नरक, खरूतुन को सम्राट् की आज्ञा सुना दी। फिर क्या था। मानों बहुत दिनों की बँधी नदी का बाँध तोड़ दिया गया हो। उस नर-राक्षस के आनन्द की सीमा न रही। गाँव-गाँव अश्वारोही हूणों के घोड़ों की टापों से, खाली घड़े की तरह, प्रतिध्वनित होने लगे। अनेक दीन जनों को कवलित करके क्रव्याद अपने दोनों अर्थों को सार्थ करने लगा। आकाशमण्डल चिरांइन महँक से भर उठा।

इधर मन्दसोर नगर में पटहा घोषणा होने लगी— "सुनो नागरिको

—मन्दसोर के आबाल-वृद्ध-वनिता नागरिको, परम भट्टारक परमेश्वर, सर्वशत्रुविजयी, सर्वसमर्थ, श्रीमान् महाराजाधिराज, दिगन्त व्यापमान कीर्ति-सितात पत्र-रवितेज-अहर्निशि प्रकाशित त्रैलोक्य हरि सदृश, श्री सेवित पादपद्म, अखण्ड चक्रवर्ती हूणेश्वर तोमारल देव का आदेश सुनो। इस घड़ी से तीन दिन के भीतर अपने प्रान्त की कर-मुद्रा, यदि राज-कोष में नहीं पहुँचा दोगे, तो शस्त्र-बल से सेनापतिजी राजस्व इकट्ठा करेंगे, और सदैव को तुम्हारा कलंकित नाम राजद्रोहियों में गिना जायगा। क्षत्रप हेमनाभ की आज्ञा से यह राज-आदेश घोषित किया जाता है।"

घोषणा से नगर में बड़ी अव्यवस्था फैल उठी। कितनों ही ने दुख सहकर मरने से एक बार ही तलवार से कट जाना अच्छा समझा। कितनों ने प्रतिष्ठा के विचार से विष खा लिया। कितने डर के मारे, मरने से दुःसह कष्ट भोगने लगे। कामुक अपने इन्द्रिय-सुख और कृपण अपने धन से विलग होने के शोच से विकल हुए जाते हैं। माता अपने पुत्रों के लिये और पत्नियाँ पतियों की चिन्ता से मरी जाती हैं। कुछ धूर्तों ने नगर से भागकर जान बचाने की सोची। पर हूण मूर्ख न थे। नगर चारों ओर से घिरा हुआ था।

तीन दिन बीतने पर हैं, पर कोष में कर का षष्ठांश भी नहीं पहुँचा। आज 'नव-पत्रिका' का उत्सव-दिन है। जहाँ नगर पर आनन्द की घटा छाई रहती, आज वहीं आपत्ति के काल-मेघ घिर आए हैं। ऐसे समय में कुछ ज़िन्दादिल लोगों ने विचार किया कि जब मरना ही है, तब उत्सव-भूमि में एकत्र होकर उसी का स्मरण करते-करते प्राण देंगे। अशोक-वनिका में भीड़ होने लगी। धीरे-धीरे बहुत-से लोग जुट गए। तीन दिन पूरे हुए। विपत्ति-मेघ जनता पर खड्ग की बिजली गिराने लगे।

स्वयं, खरूतुन ने वनिका घेर ली। ज्यों-ही वह शस्त्र-पात की आज्ञा देने को था, कि हेमनाभ घोड़ा फेंकता हुआ आ पहुँचा। उसने ज़ोर-से पुकार कर कहा—"सुनो खरूतुन, मैंने सेवक-धर्म का पालन कर दिया। अब नागरिक-धर्म का पालन करने आया हूँ। तुम सम्हल जाओ।"

सारी भीड़ और सेना एक बार निस्तब्ध हो गई। हेमनाभ ने भीड़ को उत्तेजित करने के लिए दो-ही-चार वाक्य कहे, किन्तु उनका असर मन्त्र-जैसा हुआ। उसका यही कहना था कि जब मृत्यु सन्मुख ही है, तब प्रेत-लोक क्यों जाते हो?—वीरगति से स्वर्ग-लाभ करो।

भीड़ में क्या-जाने कहाँ की शक्ति आई। हेमनाभ खरूतुन पर टूट पड़ा, और भीड़ सैनिकों से गुथ उठी। जिनके पास शस्त्र न थे, उन्हें भी सैनिकों से—हूण सैनिकों से—शस्त्र छीनने का बल आ गया।

खरूतुन मन्द पड़ता जाता था। किन्तु ज्यों-ही हेमनाभ उस पर अन्तिम वार करे, पीछे से एक हूण ने उछलकर उसकी गरदन उतार ली। फिर क्या होना था? जिस लकड़ी के सहारे उस समूह का जर्जरित गात खड़ा था, जब वही टूट गई, तब वह कैसे सम्हलता? थोड़ी देर में यज्ञ में मारे गये पशु की भाँति, जिसके मुँह से शब्द तक नहीं निकलने दिया जाता, वह भीड़ वहीं ढेर हो गई। कोई भी वनिका के बाहर न जाने पाया। रक्ता-शोक रक्त से तर हो उठे। हूणों की तलवारें, जो बरसों से प्यासी थीं, और मारे क्रोध के आप ही अपने को—जङ्ग लगाकर—खाये जाती थीं, आज निरीहों का रक्त आकण्ठ पान करके तृप्त हुईं। किसी बड़े भारी यज्ञ के लिए इतनी बलियाँ चढ़ गईं।

विशाल पट मण्डप में उपहार की सभी वस्तुएँ एकत्र हैं। सेनापति खरूतुन मन्दसोर से जो लूट का माल लाया है, उसे सजाकर रखवा रहा है। हूण-सम्राट् के आने की देर है। बड़े गर्व से वह अपनी भोंड़ी मूछों

को ओठों से चबाता हुआ, अपनी चौड़ी और चिपटी तलवार के सहारे खड़ा है।

भारतीय प्रथा से, बन्दी-गणों ने हूणेश के आगमन की सूचना दी। दर्शकों पर उसका विलक्षण प्रभाव पड़ा। भीषण विजय के घोष में भयानक हूण शरीर, सज्जित भद्रासन के सहारे टिक रहा। वह रुधिर-दिग्ध उपहारों को लोलुप दृष्टि से देखने लगा। खरूतुन ने अपनी नृशंसता की वर्णना बड़े आतङ्क से की, और हूण-सम्राट् ने अपना मुड़ा सिर हिलाकर उस कुकाण्ड का समर्थन किया। यह भयानक प्रसन्नता हूणों की विलास-वस्तु है—वे फिर आनन्द से चीत्कार कर उठे। इसी समय युवती राजकुमारी गहूला मन्द गति से उस मण्डप में पहुँची। पुनर्वार चीत्कार हुआ। यह उसका स्वागत था। संस्कृत-कवियों ने सम्भवतः उसे ही देखकर कहा है—"हूण-रमणी चिबुक प्रतिस्पर्धिनारगकम्।"

वही स्वाभाविक लाली उपहारों को देखकर हँसने में और भी बढ़ी जाती थी। उसने स्नेह दिखाते हुए पिता की बाँह पकड़ ली और बग़ल के मंच पर बैठ गई। उन वस्तुओं से भारतीय कला का एक उच्च आदर्श सुन्दर सोने के पुष्पों से सजी, चन्दन की एक मंजूषा, जिसमें रत्न भी लगे हुए थे, निकालकर खरूतुन गहूला के सामने ले गया। राजकन्या के लिए ऐसा ही सुन्दर उपहार उपयुक्त था। सम्राट् भी प्रसन्न हुए। गहूला ने सम्राट् पर कृतज्ञता की दृष्टि डाली, किन्तु खरूतुन उससे पुलकित हो उठा।

उपहार-वितरण अभी बाकी था। तोमारल और सामन्तगण उसी में लग गए। गहूला ने धीरे-धीरे वह मंजूषा खोली। देखा—कई सूखे हुए कमल स्वर्ण-मुद्रा-ग्रथित रेशमी कपड़े में लिपटे हैं। उसने मुद्राओं पर के लेख पढ़े। एक क्षण में अतीत के अनेक दृश्य उसके नेत्रों के आगे

घूम गये। वह पीली पड़ गई, मंच के सहारे टिक गई। उसके हूण-रक्त ने ही उसे मूर्छित होने से बचा दिया।

तोमारल ने अकारण उस ओर देखा। किसी जादू-टोने का ध्यान करके उसका उपचार होने लगा। क्षण-भर में बड़े-बड़े हूण गुणी आ जुड़े। उपहार-वितरण की सभा वहीं भङ्ग हुई।

* * * *

४

गहूला की आँखों का वह रस न जाने कहाँ चला गया। उसका मुख निष्प्रभ हो उठा है। उसके हृदय में उच्छ्वास लेने की शक्ति नहीं रह गई है। अब उसका हाथ लीला-कमल बिना सूना रहता है।

आज वह स्फटिक का आसव-पात्र टूटा पड़ा है। उसके आसव-घट कब के सूख गये हैं, और उसका रत्न-चषक यमुना में डुबा दिया गया है, उसका माधवी-कुञ्ज अब उजड़ा पड़ा है, और उसके मयूर ताल पर नाचना भूल गए हैं।

अन्तःपुर का आरम्भ

हूँ-ऊँ, हूँ-ऊँ, हूँ-ऊँ के वज्र निनाद से सारा जंगल दहल उठा।

उस गंभीर, भयावनी ध्वनि ने तीन बार, और उसकी प्रतिध्वनि ने सात-सात बार, सातो पर्वत श्रेणियों को हिलाया। और जब यह हु-हुंकार शांत हुआ, तब निशीथ का सन्नाटा छा गया; क्यों कि पशुपक्षी किसी की मजाल न थी कि जरा सकपकाता भी।

अब केसरी ने एक बार दर्प से आकाश की ओर देखा, फिर गरदन घुमा-घुमा कर अपने राज्य-वन-प्रांत की चारो सीमाओं को परताल डाला। उसके घुँघराले केश उसके प्रपुष्ट कंधों पर इठला रहे थे। वह अकड़ता हुआ, डंकारता हुआ, निर्द्वन्द्व मस्तानी चाल से उस टीले से नीचे उतरने लगा, जिसपर से उसने अभी-अभी गर्जना की थी।

उसने एकबार अपनी पूँछ उठाई। उसे कुछ क्षण चंवर की तरह डुलाता रहा, फिर नीचे करके एकबार सिंहावलोकन करता हुआ चलने लगा। उसके घुटनों की धीमी चड़मड़ भी जी दहला देनेवाली थी!

ऊपर पहाड़ी में एक गुफा थी। बहुत बड़ी नहीं, छोटी-सी ही। आजकल के सभ्य कहलाने वाले—प्रकृति से लाखों कोस दूर—दो मनुष्य उसमें कठिनता से विश्राम कर सकें; लेकिन यह उस समय की बात है, जब मनुष्य वनौकस था ! कृतयुग के आरम्भ की कहानी है।

गुहा का आधा मुँह एक लता के अंचल से ढंका था। आधे में एक मनुष्य खड़ा था। हाँ, मनुष्य; हम लोगों का पूर्वज, पूरा लम्बा, ऊंचा पचहत्था जवान, दैत्य के सदृश बली, मानों उसका शरीर लोहे का बना हो। उसके बायें हाथ में धनुष था और दाहिने हाथ में बाण। कमर में कृष्णाजिन बंधा हुआ था—मौञ्जी मेखला से। पीठ पर रुरु के अजिन का उत्तरीय था। उस खाल की दो टाँगों की—एक आगे की, दूसरी पीछे की, एक दाहिनी की दूसरी बांई की—कैंची की गाँठ छाती के पास बँधी हुई थी, बाकी दो लटक रहीं थीं। चारो में खुर लगे थे। उस पूर्वज का शरीर रोंएँ की घनी तह से ढंका हुआ था। सिर पर बिखरे बड़े-बड़े बाल। गहबर लट पड़ी डाढ़ी। सहज गौर वर्ण, धूप, वर्षा, जाड़े से पककर तंबिया गया था। शरीर पर जगह-जगह घठ्ठे थे—पेड़ चढ़ने के, पहाड़ पर चढ़ने के, रेंगने के धिसलने के, क्योंकि पुरातन नर की जीवनचर्य्या के ये ही समय-यापन थे। और, एक बड़ा भारी घठ्ठा दहिने हाथ की मुठ्ठी पर था—प्रत्यंचा खींचने का। अरने भैंसे की सींग का बना, पुरसा भर ऊँचा धनुष; उसी की कड़ी मोटी तांत की प्रत्यञ्चा को खींचते-खींचते, केवल यह घठ्ठा ही नहीं पड़ गया था, प्रत्युत बाहें भी लम्बी हो गई थीं। वे घुटना चूमा चाहती थीं।

उस पुरुष के पीछे थी आध्या नारी। उसको चीतल की चित्र उत्तरीय थी, और कटि में एक बल्कल। एक सुंदरी फूली लता की टहनी सिर से लिपटी थी, और बिखरी हुई लटों में उलझी थी ! कानों में छोटे-

छोटे सींग के टुकड़े झूल रहे थे, हाथों में बूढ़े हाथियों के पोले दाँतों के टुकड़े पड़े हुए थे। हाँ, वे ही—चूड़ियों के पूर्वज।

वह अपने पुरुष के कन्धे का सहारा लिये उसी पर अपने दोनों हाथ रक्खे और ठुड्डी गड़ाये खड़ी थी।

पुरुष के अंग फड़क रहे थे। उसने स्त्री से कहा—"देखो! आज फिर आया—कल घायल कर चुका हूँ, तिस पर भी।"

"तब आज चलो, निपटा डालें।"

"हाँ, अभी चला।"

पुरुष अपने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने लगा, और स्त्री ने अपना, मठारे हुए चकमक पत्थर के फल वाला, भाला सम्हाला! वह उसके बगल में ही दीवार के सहारे खड़ा किया था। भाला लेकर उसने पूछा—

" 'अभी चला'? मैं भी तो चलूँगी।"

"नहीं, तुम क्या करोगी? क्या तुम्हें मेरी शक्ति पर संदेह है?"

"छीः! परंतु मैं यहाँ अकेली क्या करूँगी?"

"यहाँ से मेरा खेल देखना।"

"क्यों, मुझे ले चलने में हिचकते क्यों हो?"

"नहीं, तुम्हारी रक्षा का ख्याल है।"

"क्यों, आज तक किसने मेरी रक्षा की है?"

"हाँ, मैं यह नहीं कहता कि तुम अपनी रक्षा नहीं कर सकती; पर......"

" 'पर'......?—"

"मेरा जी डरता है।"

"क्यों?"

"तुम सुकुमारी हो।"

आध्या का मुँह लाल हो उठा। क्रोध से नहीं, यह एक नये प्रकार की स्तुति थी। इसकी रमणीयता से उसका हृदय गुद-गुदा उठा।

उसने मुसकरा कर पूछा—"तो मैं क्या करूँ?"

"यहीं बैठी-बैठी तमाशा देखो। मैं एक झंखाड़ लगा कर गुफा का मुँह और भी छिपाये देता हूँ। आजकल इन चतुष्पदों ने हम द्विपदों से रार ठान रक्खी है। देखना—सावधान!"

"जाओ! जाओ! आज मुझे छल कर तुम मेरे आनंद में बाधक हुये हो—समझ लूँगी!"

"नहीं, कहना मानों। हृदय आगा-पीछा करता है, नहीं तो......"

"अच्छा, लेकिन झंखाड़ लगा कर क्या करोगे? क्या मैं इतनी निहत्थी हो गई!"—शक्ति ने मुसकरा दिया।

"तो चला"—कह कर पुरुष जब तक चले-चले, तब तक नारी ने उसका हाथ पकड लिया—"लेकिन देखो, उसके रक्त से तुम्हें सजाऊँगी मैं ही। और, किसी दूसरे को उसकी खाल भी न लेने देना।"

"नहीं, मैं उसे यहीं उठाये लाता हूँ। अब देर न कराओ। देखो, वह जा रहा है—निकल न जाय!"

नारी ने उत्तेजना दी—"हाँ लेना बढ़ के! पुरुष ने एक बार छाती फुला कर चीत्कार किया। सिंह ने वह चीत्कार सुना। सिर उठा कर पुरुष की ओर देखा। वहीं तन कर खड़ा हो गया और पुरुष भी तूफ़ान की तरह उसकी ओर तीर संधाते हुये बढ़ा।

एक क्षण में दोनों शत्रु आमने सामने थे। सिंह टूटा ही चाहता था, कि चकमक के फल वाला बाण उसका टीका फोड़ता हुआ सन्न-न करता निकल गया। गुहा में से किलकारी की ध्वनि सुनकर पुरुष का उत्साह और भी बढ़ उठा।

इसी क्षण म्रियमाण सिंह दूसरे आक्रमण की तैय्यारी में था, कि मनुष्य ने उसे गेंद की तरह समूचा उठा लिया, और अपने पुरसे तक ले जाकर धड़ाम से पटक दिया। साथ ही, सिंह ने अपने पंजों से अपना ही मुँह नोचते-नोचते, सिर फेंकते-फेंकते ऐंठते हुये, पुनः एक हलकी पल की पछाड़ खा कर अपना दम तोड़ दिया।

* * * *

नारी गुहा-द्वार के सहारे खड़ी थी। उसका आधा शरीर लता की ओट में था। वहीं से वह अपने पुरुष का पराक्रम देख रही थी, आनंद की कूकें लगा रही थी !

* * * *

हाँ, उसी दिन अंतःपुर का आरम्भ हुआ था।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

जन्मकाल १८९४ ई०

रचनाकाल १९१७ ई०

गूँगी

गूँगी का नाम था गोमती। पर वह खूब बोलती थी। इसीलिये मैंने उसका नाम गूँगी रख दिया था। गूँगी बन जाने पर भी गोमती की वाक्-शक्ति कम नहीं हुई। तोभी सब लोग उसे गूँगी ही कहते गये।

गूँगी हम लोगों की दासी विमला की लड़की थी। नीच वंश में जन्म देकर भी भगवान् ने उसे कुछ ऐसा रूप दिया था कि उसे देखते ही सब लोग उसे गोद में लेना चाहते थे। वह प्रति दिन अपनी माँ के साथ हमारे घर आती। जब तक विमला घर का काम-काज करती, वह मिनी के साथ खेलती। जब मिनी पढ़ने के लिए आती, तब वह भी आ जाती। पर वह चुप तो बैठ नहीं सकती थी, इसलिए वह भी मिनी के साथ पढ़ती थी। गूँगी की बुद्धि भी तीव्र थी। मैंने देखा—थोड़े ही दिनो में वह मिनी से आगे बढ़ गई। उसकी ऐसी बुद्धि देख, मैं उसे खूब उत्साह से पढ़ाने लगा। मैं पाँच वर्ष तक विलासपुर में रहा, और

गूँगी पाँच वर्ष तक मुझसे पढ़ती रही। जब मुझे विलासपुर छोड़कर कलकत्ता जाना पड़ा, तब गूँगी ११ वर्ष की थी। पर उस समय भी उसने मुझसे 'बालिका-भूषण,' 'भूगोल', 'अङ्क-गणित' और 'इतिहास' तक के कुछ अंश पढ़ लिए थे। जाते समय मैं उसे 'रामचरितमानस' देता गया। मैं जानता था, थोड़े ही दिनों में वह सब भूल जायगी।

कलकत्ता आते ही मेरा भाग्योदय हुआ। साहब की मुझ पर कृपा-दृष्टि हुई। मेरी पदोन्नति होने लगी। मैं भी खूब परिश्रम करने लगा। कलकत्ते में मैं १५ वर्ष तक रहा। १५ वर्ष के बाद मैं फ़र्स्ट-ग्रेड का डिपुटी-मजिस्ट्रेट होकर श्रीरामपुर चला गया।

शीत-काल का प्रारम्भ ही था, पर ठण्ड पड़ने लगी थी। मैं बाहर धूप में कुर्सी डालकर आराम से 'स्टेट्समैन' पढ़ रहा था। कुछ देर पढ़ने के बाद मैंने "स्टेट्समैन" फेंक दिया और एक बार चारो ओर दृष्टि-पात किया। मेरे घर के सामने ही एक कुँआ था। प्रतिदिन वहाँ प्रातःकाल स्त्रियों की बड़ी भीड़ रहती थी। उस दिन भी वहाँ स्त्रियों की संख्या कम न थी। मैंने देखा कि हमारे घर की दासी, मालती, भी गगरा लिये बैठी है। इतने में कुछ स्त्रियाँ लकड़ियों का गठ्ठा सिर पर लिए उधर से निकलीं। मालती ने उनमें से एक को पुकारकर कहा—"लकड़ी बेचोगी?" उसने उत्तर दिया, "क्या दोगी?"

मालती कहने लगी—"तू ही कह देना, क्या लेगी!"

उस स्त्री ने कहा—"आठ आना।"

मालती ने कहा,—"बस बहन, हो गया! यह तो लेने-देने की बात नहीं है।"

तब उस स्त्री ने कहा—"बहन, छः आने से कम न लूँगी, तुम्हें लेना हो तो लो, नहीं जाती हूँ।"

यह कहकर वह जाने का उपक्रम भी करने लगी।

मालती ने कहा—"मैं तो पाँच आने दूँगी।" तब वह स्त्री जाने लगी।

इतने में दूसरी लकड़ीवाली ने उससे कहा—"देदे री, पाँच आने ठीक तो हैं।"

उस स्त्री ने उत्तर दिया—"नहीं बहन, मैं न दूँगी; छः आने से एक कौड़ी भी कम न लूँगी।"

तब तक मालती ने गगरा भर लिया था। वह कहने लगी—"अच्छा ला।"

वह स्त्री मालती के साथ आने लगी। उसकी सङ्गिनी लकड़ीवाली दूसरी ओर चली गई।

मैंने फिर चश्मा साफ़ करके 'स्टेट्स्मैन' उठा लिया और पढ़ने लगा। थोड़ा ही पढ़ा था कि मालती आकर कहने लगी—"बाबूजी लकड़ीवाली लकड़ी रखकर कहाँ गई? उसने पैसे भी नहीं लिये!"

मैंने कहा—"आती होगी; उसे क्या अपने पैसों की चिन्ता न होगी?" मालती चुप हो गई। तब तक धूप कुछ तेज़ हो गई थी। मैंने उससे कहा—"मालती, कुरसी भीतर रख दे।"

मालती ने वैसा ही किया। मैं भीतर बैठ गया।

दस बजते ही मैं कचहरी चला गया। दिन-भर मैं काम में लगा रहा। सन्ध्या होते ही मैं घर लौट आया। घर में आकर मैंने देखा कि पुरुषोत्तम बाबू मेरे कमरे में बैठे हुए हैं। मैंने प्रसन्नता-सूचक स्वर में कहा—"ओ हो, पुरुषोत्तम बाबू! इतने दिनों में! मिनी कैसी है?"

पुरुषोत्तम बाबू ने कहा—"वह भी तो आई है।"

तब तो मैं पुरुषोत्तम बाबू को छोड़कर भीतर चला। देखा, तो मिनी कमला के साथ बैठी हुई है।

मिनी ने मुझे प्रणाम किया। मैंने उसे अन्तःकरण से आशीर्वाद दिया। बड़ी देर तक हम लोग बैठे रहे। इधर-उधर की खूब गप्पें होती रहीं। ग्यारह बजे हम लोग सोने गये।

दूसरे दिन मैं फिर बाहर कुरसी डालकर बैठ गया। पुरुषोत्तम बाबू अभी तक सो रहे थे। मैंने स्टेट्स्मैन उठा लिया। थोड़ी देर बाद मैं फिर कुँए की ओर देखने लगा। आज भी वहाँ स्त्रियों की वैसी ही भीड़ थी। मालती भी गगरा लिए वहाँ बैठी थी। इतने में पिछले दिन की लकड़ीवाली फिर उधर से निकल पड़ी। मालती ने उसे पुकारकर कहा—"ओ लकड़ीवाली! कल तूने पैसे नहीं लिये?"

वह कहने लगी—"बहिन, आज भी तो लकड़ी लाई हूँ। इन्हें भी लेलो। दोनों का दाम साथ ही ले लूँगी।"

मालती ने कहा—"अच्छा।" इतने में पुरुषोत्तम बाबू आगए। मैं उनसे गप्पें मारने लगा। थोड़ी देर में भीतर से "चोर! चोर!" का हल्ला हुआ। हम लोग घबराकर भीतर दौड़े। देखा, लकड़ीवाली को दरबान ने पकड़ लिया। मालती-आदि चार-पाँच और स्त्रियाँ इधर-उधर खड़ी थीं; मुझे देखकर सब चुप हो गईं। मैंने पूछा—"माजरा क्या है?"

मालती कहने लगी—"बाबू, मैं इस लकड़ीवाली के पैसे लाने के लिये भीतर गई! लौटने पर देखती हूँ कि यह नहीं है। इतने में आपके कमरे में से कुछ आवाज़ आई। मैं 'चोर-चोर' कहकर चिल्लाने लगी। जब दरबान आया, तब यह आप के कमरे में पकड़ी गई।"

दरबान ने कहा—"बाबू, इसने अपने कपड़ों में कुछ छिपा लिया है।"

तब मैंने लकड़ीवाली से पूछा—"क्यों, क्या बात है ?"

लकड़ीवाली ने एक बस्ता निकालकर कहा—"बाबूजी, मैं इसे रखने के लिये आई थी।"

मैंने बस्ता खोलकर देखा, तो उसमें 'रामचरितमानस' की एक कापी थी। उसके ऊपरी पृष्ठ पर मेरे हाथ का लिखा हुआ था—'गूँगी'। मैं चौंक पड़ा। तब मैंने लकड़ीवाली की ओर ध्यान से देखा वह मेरी 'गूँगी' ही थी। "गूँगी !" मैंने इतना कहा ही था कि वह मेरे पैरों पर गिर पड़ी। क्षण-भर के लिए सब भूलकर मैंने उसे गोद में उठा लिया। गूँगी मेरी गोद में रोने लगी।

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

जन्मकाल	रचनाकाल
१८९७ ई०	१९१८ ई०

गोई जीजी

"अपने छोटे-से जीवन में मैं न-जाने कहाँ-कहाँ घूमा हूँ। न-जाने कितने सान्ध्य-प्रकाश में मैंने मानसिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया है; किन्तु······"

मेरे मित्र गोपालकृष्ण कहते-कहते रुक गये। शनिवार की रात, कॉलेज के होस्टलों में आनन्द-रात्रि (Golden Night) के नाम से पुकारी जाती है। रात के कोई आठ बज चुके होंगे। हम सब लोग ब्यालू कर चुके थे। आज भी आनन्द-रात्रि थी। मैंने सोचा, चलो, आज गप्पें उड़ावें। इसी ख्याल से मैं अपने मित्र के कमरे में आया। गोपालकृष्ण हम सबों के प्यारे हैं। वे विचारशील हैं, हँसमुख हैं, क्लास के अच्छे विद्यार्थियों में-से हैं। मेरी और गोपाल की ज्यादा पटती है। कमरे में घुसते-ही मैंने देखा—कि वे खिन्नमना बैठे हुए कुछ सोच रहे हैं। मैंने अपने स्वभाव-चापल्य के वशीभूत होकर पूछा—"क्या सोच रहे हो क्या?" उत्तर में उपयुक्त वाक्य उन्होंने बड़ी गम्भीरता से कहे। मैंने

देखा कि मामला कुछ बेढब है। मैं चुपचाप उनके पास बैठ गया। बिजली की बत्ती से कमरा अब आलोकित हो रहा था। गोपाल 'किन्तु' कहकर रुक गये ! मैंने धीरे-से कहा—"किन्तु, किन्तु क्या गोपाल ?"

"कुछ नहीं हरि, जाने दो।"

"आखिर कुछ कहो भी तो।"

"क्या करोगे सुनकर ?"

"नहीं, ज़रूर कहो।"

"हरिशरण, सुनोगे ?"

"ज़रूर सुनूँगा।"

"देखो, सोच लो।"

"सोचने का इसमें क्या है भाई, तुम कहो, मैं सुनूँगा।"

"हरि, एक कथा है। खैर सुनो।"

मैंने अपनी आँखों से जता दिया कि सुनाओ। गोपाल बोले—"तो पहले कमरे का दरवाज़ा बन्द कर लो।" मैंने चटकनी लगा दी। गोपाल ने कुर्सी के हत्थे पर अपने बायें हाथ की कोहनी रखकर अपने सिर को अपनी हथेली पर रख लिया। फिर वे धीरे-से कहने लगे—"हरि, मसूरी पहाड़ से मैंने सूर्यास्त का दृश्य देखा; समुद्र के तट पर खड़े-खड़े मैंने अंशुमाली को समुद्र में डुबकी लगाते देखा, और भी न-जाने कहाँ-कहाँ की सन्ध्याओं को आँख भरकर देखा। किन्तु वह मना नहीं। वह सूर्यास्त मैंने फिर कभी नहीं देखा—जो मैंने अपने बाल्यकालीन क्रीड़ा-स्थल से देखा था। हम लोग पहले एक गाँव में रहा करते थे। एक दिन की घटना मेरे अन्तरतम-पटल पर अङ्कित है।

"सूर्य ढल चला था। मेरी फूस की टपरिया खूब साफ़-सुथरी थी। आँगन लिपा-पुता नहीं था। किन्तु पानी बरस जाने से साफ़ हो गया

था। सावन का महीना था। मेरी माँ, सूप में कुछ अन्न—याद नहीं आता कौन-सा—लिये हुए फ़टक रही थीं। मैं उसके पास ही खेल रहा था। मैं उस समय कोई छः-सात वर्ष का था। मेरे सब कपड़े—केवल एक अँगरखी—धूल में सनी हुई थी। हाथ-पैर सूखे हुए कीचड़ से लथ-पथ थे। माँ मुझे 'भैया' कहकर बुलाया करती थीं—उसका नाम लक्ष्मी था; किन्तु हम लोग उसे 'लच्छी' कहकर पुकारा करते थे। मैं लच्छी का दूध पीता था; माँ का केवल मुझ ही में केन्द्रित पुत्र-स्नेह पीता था। खूब पुष्ट शरीर था। गाँव के पास एक आम का बग़ीचा था। गाय जब जङ्गल से आती, तो वहीं उस बग़ीचे में खड़ी-खड़ी रँभाया करती—"ओ म्हा म्हा!" जब तक माँ न बुलाती, तब तक यह वहाँ से रँभाया करती थी। माँ घर से चिल्लाकर कहती थी—"लच्छी, आजा, आ बेटी!" तब गाय दौड़ती हुई आती। हरि, बड़ा सुख था। बड़ी सुखद सन्ध्या थी।

"आकाश में बादल के टुकड़े दौड़ रहे थे। तब तक मैंने जन्म में कभी नाव या जहाज़ की तस्वीरें नहीं देखीं थीं। बादल जब तरह-तरह की शक्लें बनाकर इधर-से-उधर दौड़ रहे थे, तब मैं किलक-किलककर माँ से कहता था—"माँ, देख वह एक बड़ा-सा बैल बन गया। अब देख री माँ, लच्छी की सूरत बन गई। माँ! जो ये बादल भी लच्छी का-सा दूध बरसायें तो!"

माँ ने कहा—'और जो पत्थर बरसायें तो?' 'तो फ़िर हमारा घर टूट जाय।' मेरी बात सुनकर माँ हँस पड़ी।

"गाँव में सावन के महीने में बड़ा सुहावना लगता है। हरि, छोटा-सा गाँव मानो आनन्द से नहा रहा था। दूर-दूर तक हरियाली दिखाई पड़ती थी। घास के बिछौने पर वीरवहूटियाँ चलती थीं, और घरों में बहिनें मेंहदी लगाये घूमती थीं। नीम और आम के झाड़ों पर गाँव में

जगह-जगह झूले बँधे हुए थे। गाँव की लड़कियाँ झूलों में झूलती थीं। झूल-झूलकर मधुर गीत गाती थीं—

'अरे रामा हरी-हरी चुरियाँ बाँह गहे पहिरावत गिरधारी?' क्या अच्छा समय था। वर्षा खासी हुई थी। अकाल का भय नाम-मात्र को न था। गाँव के वृद्ध लोग लड़कियों का गाना सुनकर मग्न हो रहे थे। उनकी वृद्ध सतेज आँखों में निर्मलता थी, और हृदय में प्यार के पुनीत भाव। इस लोकोत्तर आनन्द के लिए वे एक अज्ञेय तथा अज्ञात शक्ति के कृतज्ञ नहीं थे। कभी-कभी वे मौन होकर, शान्त स्थिर नेत्रों को, कृपा के भार से दबी हुई पलकों से, मूँदकर ऊपर की ओर बादलों को देखकर चुप रह जाते थे। मैं तब इन बातों को कुछ समझ नहीं सकता था।

हाँ, तो माँ ने कहा—"भैया, अब राखी आई। तेरी गोई जीजी आयेगी।"

"मेरी बड़ी बहिन का नाम गोदावरी था। मैं उसे गोई जीजी कहा करता था। जीजी आयेगी,—यह सुनकर मैं बड़ा खुश था। माँ को बहुत-सी कथाएँ याद थीं। मुझे कथा सुनना बहुत आता था। माँ बोली—'भैया, राखी की कथा सुनेगा?'

"मैंने चाव-भरी आँखों से देखते हुए गर्दन हिला दी। पिताजी घर पर नहीं थे। वे जीजी को लेने उसकी ससुराल गये थे।"

"माँ ने कहना शुरू किया—'सुन, कृष्ण थे।'

"मैं झट-से बोल उठा—'अच्छा!! फिर?'

"माँ बोली—'उनके एक बहिन थी, जिसका नाम सुभद्रा था।'

"मैंने फिर बात काट दी। चट-से पूछा—'माँ, क्या वे अपनी बहिन को मलाई देते थे?' बात यह थी कि मैं बड़ा पेटू था। मैं लच्छी के

दूध की मलाई जीजी को नहीं लेने देता था; लड़-झगड़कर मैं सब खा जाता था। माँ ने कहा—'दुत् पागल, नहीं, क्या सभी तेरे-ऐसे खाऊ होते हैं? वे दोनों बहिन-भाई आपस मे बाँटकर खाते थे।'

"इतना कहकर माँ घर में अन्न रखने चली गई। माँ आकर फिर बैठ गई। मैं उसकी गोद में लेट गया। प्यार से माँ के स्तन को हिला-कर बोला—'हाँ फिर?'

"इतने में ही एक बैलगाड़ी आती हुई दिखाई दी। पिताजी की सफ़ेद पगड़ी को माँ ने दूर से पहचानकर कहा—'गोदावरी आ गई।' सुनते ही मैं उठकर खड़ा हो गया। मैं बड़ा प्रसन्न था। जीजी आई। कुछ बाल-हृदयों में एक प्रकार का संकोच का भाव होता है। कभी-कभी अपनों के प्रति भी यही भाव प्रस्फुटित हो जाता है। इसीलिए जब दीदी आई, तब मैं दूर खड़ा रहा। उसने मुझे दौड़कर गोद में उठा लिया। मैंने कहा—'गोई जीजी'—शब्दों में आह्लाद-मिश्रित एक अद्भुत तरल-किलक थी।

"बहिन बोली—'भैया मेरा'—शब्दों में थर्रावट थी! वत्सलता के आवेग ने कण्ठ-रन्ध्र को भर दिया था।

"हरि, अब भी याद है;—वही मुख, अहा! वत्सलता आँखों से टपक पड़ती है। अब भी याद है, चूड़ियों से भरी हुई लम्बी-लम्बी बाहें, अब भी फैलाकर बुलाती हैं—'आ!' हरिशरण! अब भी अपने कमरे को वन्द कर, रात्रि की निस्तब्धता में बुलाता हूँ—'गोई जीजी!' मेरी वह पुकार शून्य हृदयाकाश में विलीन हो जाती है। हे आनन्द के क्षण, हे अमिट स्मृति, दीदी के माँग के सुन्दर की हे पवित्र सुगन्धि, मेरे कपोलों को सिक्त करनेवाले हे वत्सलताश्रु, तुम न-जाने किस वायु के झकोरे के साथ आ-जाते हो?

"याद—किसी क्षण की क्यों न हो, चाहे दुःखों के क्षण की हो अथवा सुखों के—किन्तु इसके बिना जीवन उजाड़ हो जाता है।

"हाँ तो हरि, सुनो, दीदी की कथा सुनो। वर्षों गुज़र गये, हम लोग शहर में आकर बसे। बहिन की ससुराल पास ही के गाँव में थी। पिता ने मेरे शिक्षण-क्रम को ठीक किया। दीदी के दर्शन अब भी होजाया करते थे। ससुराल से समय-समय पर आ जाती थीं—मुझे खिलाती थीं, मेरा दुलार करती थीं। कायर जीजा आलस्य की मूर्त्ति था। जीजी ही उसका और अपना पेट पालती थीं। मज़दूरी करके लाती थीं। खेतों में जाकर काम करती थीं, सावन-भादों के दिन; पानी कहता था आज ही बरस लूँगा। खेतों में घुटनों तक जल भर जाता था। तो भी पेट की ज्वाला न बुझती थी। इतना पानी, तो भी आग धधका करती थी। इसको बुझाने के लिये जीजी अपने वेदना-जन्य आँसू, कठोर परिश्रम-जनित स्वेद की बूँदें, और बचा-खुचा हृदय का लहू देती थीं, तब कहीं जाकर भूख की लपकती हुई लपटें बुझती थीं। दुष्ट जीजा खा-पीकर अथाई में जा बैठता था। जब तक वह वहाँ पड़ा-पड़ा सोया करता था, तब तक दीदी हँसिया लेकर कींचड़ गूँधा करती थीं। गाँव के लोग देखते थे; कहते थे—'गोदावरी सती है।' कुछ वृद्ध लोग जीजा से कहते थे—'भलेमानुस, ज़रा तो शरम खा। उसका खून क्यों चूस रहा है?'

"पुरुषार्थ-हीन प्राणियों में मनुष्यता का अभाव होता है। कभी-कभी आरम्भ में शूरता आ जाती है; किन्तु टिकती नहीं। भर्त्सना सुनते-सुनते जीजा निर्लज्ज होगया था। स्वाभाविक आलस्य ने, और निर्लज्जता-पूर्ण बेपर्वाही तथा मस्ती ने जीजा के मान के चित्त से दयार्द्र भाव नष्ट कर दिया था;—जीजी के कठोर श्रम तथा हृदय-विदारक स्थिति की ओर से जीजा की सहानुभूति बिल्कुल जाती रही थी।

"जीजी के शरीर पर एक ही साड़ी थी। नहाते समय उसी को पहने नहा लेती थीं। बाद को आड़ में छिपकर आधी साड़ी सुखाकर उसे पहिन लेती थीं; फिर वह भींगी आधी साड़ी सुखा पाती थीं। माता-पिता यह सब सुनते थे। कलेजा मसोसकर रह जाते थे। क्या करते? फिर भी यथा-सामर्थ्य सहायता करते ही थे; लेकिन कहाँ तक करते?

"इसीलिये कहता हूँ हरि, संसार में अधिकतर मनुष्य नहीं, शैतान बसते हैं।"—गोपाल की यह कथा सुनकर मेरी आँखें छलछला आईं।

गोपाल बोले—"हरिशरण, रोते हो? रोओ—मैं न रोऊँगा। न जाने क्या हुआ—मेरी आँखों का पानी सूख गया है।"

मैं अपने को न सम्हाल सका। मैंने कुर्सी पर से उठते हुए कहा—"गोपाल! अब तुम अपनी इस करुण कथा को बस करो। मैं नहीं सुन सकता।"

गोपालकृष्ण का चेहरा तमतमा उठा। उसकी यह उत्तेजना देखकर मेरा बाँध और भी टूट गया। बेचारा गोपाल—गोपाल, तुमने इस उत्तेजना का क्या मूल्य दिया है—जानते हो?

यह उत्तेजना क्या थी? आन्तरिक यंत्रणा ने निर्दयतापूर्वक तारों को बजा दिया। स्वर नहीं निकले;—एक विकृत तान उठी; वही यह उत्तेजना थी। गोपाल ने उत्तेजित होकर कहा—"हरि! तुम्हें सुनना होगा।"

मैंने हृदय पर पत्थर रखकर कहा—"कहो।"

गोपाल टूटे हुए स्वर में कहने लगा—"आपत्ति सहन करते-करते जीजी क्षीण हो चली। एक दिन, रात को नौ बजे हम लोगों को खबर लगी कि जीजी बहुत बीमार हैं। उसी समय हम चल खड़े हुए। रात के एक बजे गाँव में पहुँच गये। जङ्गल में सियार बोल उठे और गाँव में कुत्ते। जीजी को सन्निपात हो गया था। हम सब किंकर्तव्यविमूढ़ थे।

प्रकृति का सौरभ, आकाश की निर्मलता तथा गाँव की अभग्न शान्ति, ये सब चिन्ता और विषाद की ज्वाला को न बुझा सके। दीपक का तेज कुछ अवशिष्ट था। अन्त होने में कोई विलम्ब नहीं था।"

"हम सब के देखते-देखते जीजी अपनी माँ, अपने 'काकाजी,' और सब से अधिक अपने इस भैया को छोड़कर चल दी। हरि! हृदय फट जायगा—हरि, हृदय न जानें क्यों नहीं फटता!"

इतना कहकर गोपाल पागलों के ऐसा, दौड़ कर सन्दूक के पास गया। उसमें से कुछ निकालकर ले आया। देखा कि एक सादे कपड़े में सूत का डोरा लिपटा हुआ रखा है। और उसमें एक दुअन्नी रखी है। गोपाल भर्राई हुई आवाज़ से कहने लगा—

"हरिशरण, ये ही दो स्मरण की चीज़ें रह गई हैं। उसका तैलचित्र नहीं है। उससे सतत बरसनेवाले आशीर्वाद और उसकी निर्मल सदिच्छा की चिन्ह-स्वरूपा यह राखी है, और यह एक दुअन्नी है। पेट काटकर—न-जाने कितना खून देकर—उसने अपने भैया की मिठाई के लिए यह दुअन्नी बचाई थी, यही वह दुअन्नी है। हरि! मेरी गोई जीजी—मेरी प्रति जननी, गोई जीजी की यही कहानी है। जिसकी उत्सङ्ग में पला, जिससे इतना लड़ा, जिससे मलाई छीनकर खाई, जिससे सदा-सर्वदा 'गोई जीजी' कहता रहा, हँसिया और खुर्पी थामने से ठाठ पड़े हुए जिसके पुनीत हाथों के फटने में अवर्णनीय वात्सल्य दान का रस चखा, उस सतत-स्मरणीया, अवहेलिता, आपत्ति-प्रपीड़िता गोई जीजी की यही स्मृति है। श्मशान का, उस रात्रि का और प्रातःकाल का अन्तिम दृश्य मेरे सामने आ जाता है। एक बार फिर एकान्त में उस स्थान के दर्शन करने की उत्कण्ठा होती है। वह स्थान मेरे लिए भयङ्कर है, रोमांचकारी है, दुःख की स्मृतियों को जाग्रत करनेवाला है, पर

पवित्र है !! हरि, मेरा मृतक शरीर भी उसी स्थान पर अग्नि को समर्पण किया जाय और रात्रि से प्रातःकाल तक जलता रहे—ऐसी भावना मुझको अनेकों बार हो चुकी है !!!"

इतना कहकर गोपालकृष्ण का व्यथित हृदय न-जाने किस वेदना के रसास्वादन में लवलीन हो गया। मैंने देखा कि उनके मुख पर एक अमिट विषाद-रेखा खिंची हुई है !

घड़ी ने बारह बजा दिये। इस पुनीत गाथा को सोचता हुआ मैं अपने कमरे में चला गया।

श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

रचनाकाल

१९१९ ई०

जन्म	मृत्यु
१९५६ वि०	१९८४ वि०

उन्मादिनी

संसार स्वार्थ की रङ्गभूमि है, और इसी स्वार्थ के वशीभूत होकर पण्डित रविशङ्कर ने अपनी अनाथिनी भानजी का विवाह एक ऐसे नर-पिशाच के साथ कर दिया था, जिसने उसका जीवन अग्निमय बना दिया। इतने पर भी सारे गाँव ने एक स्वर से पण्डित रविशङ्कर की उदारता और मृतभगिनी के प्रति उनके असीम स्नेह की परम प्रशंसा की थी। पण्डित रविशङ्कर ने अपनी मातृ-पितृ-हीना भानजी, सौदामिनी, के लिए जो पति निश्चित किया था, वह लखनऊ के एक कारखाने में तीस रुपये मासिक पाता था। पर, उन्होंने इस बात पर रत्ती-भर भी ध्यान नहीं दिया कि, जिसके साथ सौदामिनी को अपना समस्त जीवन व्यतीत करना है, उसका आचरण कैसा है? उसका स्वभाव, उसका शील एवं उसका व्यवहार ऐसा तो नहीं है, जिससे सौदामिनी को क्लेश और दुःख

पहुँचे ? इन बातों की ओर पण्डित रविशंङ्कर का ध्यान नहीं था। वे तो यह चाहते थे कि कम-से-कम धन में कन्यादान का महाफल प्राप्त करलें। इसीलिए उन्होंने सस्ता वर ढूँढ़कर सौदामिनी को उसके हाथों में सौंप दिया। गाँववालों ने जब सुना कि सौदामिनी का पति तीस रुपये मासिक उपार्जन करता है, तब तो वे सौदामिनी के भाग्य को सराहने लगे, और राजराजेश्वर जैसे वर के साथ सौदामिनी का विवाह करने के लिए पण्डित रविशङ्कर की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

सौदामिनी भी मन-ही-मन प्रसन्न हुई। बाल्यकाल ही में वह माता-पिता के मधुर वात्सल्य से वञ्चित हो गई थी, और यद्यपि लोक-लाज के कारण मामा रविशङ्कर ने उसे अपने घर में आश्रय दिया था, पर, मामी और मामा का व्यवहार उसके प्रति इतना कठोर था कि वह उस आश्रय को छोड़कर दूसरे आश्रय में जाने के लिए रत्ती-भर भी दुःखी नहीं हुई; प्रत्युत् उसे कुछ-न-कुछ प्रसन्नता ही हुई। अनाथिनी होने के कारण सौदामिनी का विवाह कुछ अधिक वयस में हुआ था; अर्थात् उस समय सौदामिनी ने अपने सोलहवें वसन्त में पदार्पण किया था, इसी लिए वह विवाह के रहस्य और अर्थ को कुछ-कुछ जान गई थी। यद्यपि बिदा के समय विलाप करते हुए मामा और हा-हाकार करती हुई मामी के गलों से मिलकर उसने भी अजस्र अश्रु-वर्षा की थी; परन्तु बार-बार यह सोचकर कि अब वह दासी के पद को छोड़कर स्वामिनी के पद को अधिकृत करने जा रही है, उसका हृदय उल्लासमय हो उठता था और उस अविरल विलाप के बीच में भी उसका शरीर पुलकित हो जाता था। सौदामिनी के अन्तर में बार-बार यही विचार उठते थे कि अब वह मामा और मामी के दुर्व्यवहारों से छूटकर अपने देवता का पूजन करेगी और उनके हृदय पर अपना सिर रखकर इसी स्थूल संसार में

स्वर्ग के सुखों का अनुभव करेगी। उस समय स्वभावतः उसके मन में एक प्रकार के गौरव का भाव उदय हो गया था और उसके सुन्दर मुख-मण्डल पर आनन्द की उज्ज्वल आभा क्रीड़ा कर रही थी। जिस प्रकार पण्डित रविशङ्कर सस्ते में कन्यादान का महाफल पाकर मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे, उसी प्रकार सौदामिनी भी उस बन्दीगृह से छूटने पर अन्दर-ही-अन्दर उल्लासमयी हो रही थी। दोनों अपनी-अपनी प्रसन्नता को विलाप और आँसुओं के आवरण में छिपाये हुए थे। यदि परम्परा से यह न चला आया होता कि बिदा के समय कन्या और उसके संरक्षक विलाप करें तो उस दिन न तो सौदामिनी ही अश्रु-वर्षा करती, और न पण्डित रविशङ्कर और उनकी स्थूलकाया धर्मपत्नी ही हा-हाकार से समस्त घर को मुखरित करतीं। तीनों ही आनन्द में हँसते रहते। पं० रविशङ्कर और उनकी धर्मपत्नी, को उसके पति के हाथों में सौंप कर आनन्द-पूर्वक घर बैठे रहते और सौदामिनी मुस्कुराती हुई अपने परमेश्वर के साथ चली जाती; सम्भवतः फिर एक बार भी पीछे फिरकर न देखती। पर, बलिहारी है परम्परा की! इसकी प्रतिष्ठा के लिए एक नहीं, अनेक बार कपट तथा आडम्बर का अभिनय करना पड़ता है। और फिर भी हम परम्परा की पूजा के लिए कितने प्रयत्नशील हैं?

विश्व-वन में प्रस्फुटित होनेवाले पुष्प के कोष में हलाहल का अंश अधिक है अथवा सुधा का—यह जानना सीमाबद्ध बुद्धि के लिए नितान्त कठिन है।

२

सौदामिनी के पति का नाम था, कालीशङ्कर। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, वह लखनऊ के एक कारखाने में तीस रुपये मासिक पर काम करता था। गाँववालों की दृष्टि में तीस रुपये मासिक की वृत्ति का मूल्य

बहुत हो सकता है; परन्तु जो बड़े-बड़े नगरों में रहते हैं, वे जानते हैं कि तीस रुपये में अच्छी तरह भोजन और लाज ढकने को वस्त्र मिलना भी दुष्कर होता है। पर, कालीशङ्कर के लिए यह बात नहीं थी। कारण, वह एकाकी था। न उसके माता थी, न पिता, न भाई, न बहन, न कुटुम्ब, न परिवार। एक गन्दे और बुरे मोहल्ले में उसने एक टूटा-फूटा मकान ले रखा था। उसी में आकर सौदामिनी ने अपने दाम्पत्य-जीवन का श्रीगणेश किया। सौदामिनी सदा से परिश्रमशील थी, आते-ही-आते उसने घर को परिष्कृत किया। जो-कुछ थोड़ा-बहुत सामान घर में था, उसे यथारीति स्थापन किया, और जो-कुछ दहेज में आया था, उसे भी उसने यथास्थान स्थापित किया। थोड़े ही दिनों पहले जो घर नरक का एक कक्ष-सा प्रतीत होता था, अब वह स्वर्ग की एक परिष्कृत कुटी-सा प्रतीत होने लगा। परन्तु जिस देवता की पूजा के लिए उसने गृह-मन्दिर को परिष्कृत एवं सुसज्जित किया था, वह उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता था। जिस हृदयेश के लिए उसने समस्त गृह को एक अपूर्व माधुरी से मण्डित किया था, वह उसके अतुल निर्मल प्रेम की उपेक्षा ही करता रहा।

कालीशङ्कर की शिक्षा केवल नाम लिख लेनें तक ही परिमित थी। हाथ का कारीगर होने के कारण यद्यपि उसे ३०) मिलते थे; परन्तु इन रुपयों का अधिकांश भाग दुर्व्यसनों की बलिवेदी पर स्वाहा हो जाता था। विवाह के उपरान्त कुछ दिनों तक तो वह रात को घर में रहा भी; परन्तु, फिर तो वह कई-कई दिनों तक घर ही न आता। केवल सायं-काल को कारखाने से लौटता और भोजन करके चला जाता। इस बीच में सौदामिनी नित्य उसके काले कपड़ों को धो रखती, उसके लिये स्वादिष्ट भोजन बनाती, उसके लिए सब प्रकार से सुख पहुँचानेवाली सामग्री की

आयोजना करती। परन्तु, वह स्नेहमयी सौदामिनी की इस प्रेममयी परिचर्या की ओर रत्ती-भर भी ध्यान न देता, और दो-दो, तीन-तीन दिनों तक घर से अनुपस्थित रहता।

इतना ही नहीं, धीरे-धीरे उसके सौदामिनी के आभूषणों को भी लेकर दुर्व्यसनों की अग्नि में भस्म कर दिया। होते-होते यहाँ तक स्थिति बिगड़ गई कि घर के बर्तन भी बिकने लगे और अन्त में यह गति हुई कि सौदामिनी के आने पर जो घर भरा-पूरा दिखाई देने लगा था, वह एक बार ही खाली हो गया। केवल मात्र २-४ आवश्यकीय चीज़ें रह गईं। पर, इतने पर भी कालीशङ्कर की मति ठीक नहीं हुई। वह दुर्व्यसन के पङ्क में आकण्ठ निमग्न हो गया!

सौदामिनी ने यह सब सहा; मौन होकर, मन-ही-मन अशेष यातना का अनुभव करके, उसने पति के इन सब अत्याचारों को सहन किया। परन्तु जब कालीशङ्कर ने छोटी-से-छोटी बात पर उसे और दुःख देना प्रारम्भ किया, जब तीन-तीन दिनों तक उसके मुख में अन्न का एक दाना तक नहीं पड़ा और जब लज्जा-निवारण के लिए भी उसे वस्त्र मिलना कठिन हो गया, तब सौदामिनी की सहन-शक्ति भी समाप्त हो गई। वह भी अब उत्तर प्रत्युत्तर देने लगी और उसका परिणाम यह हुआ कि अब उसके ऊपर आघातों की निरन्तर आवृति होने लगी। सौदामिनी बड़ी तेजस्विनी प्रकृति की रमणी थी। वह बहुत कुछ सह सकती थी, पर जब उसका हृदय पति के निरन्तर अत्याचार से एक बार व्यथित एवं व्याकुल हो गया, तब उसकी वह तेजिस्वता सहसा प्रचण्ड रूप से प्रकट हो गई! वह स्पष्ट शब्दों में कालीशङ्कर की उसके दुर्गुणों और दुर्व्यसनों के लिए भर्त्सना करने लगी।

कालीशङ्कर ने जहाँ मकान ले रक्खा था, वहाँ पर एक भी भले

आदमी की बस्ती नहीं थी। चारों ओर गुण्डे और बदमाशों के मकान थे और उनके बीच में ही रात्रि को सौदामिनी एकाकी अपने शून्य गृह में पड़ी रहती थी। इसलिए उसे बहुत ही भय लगता था। एक दिन की बात है। कालीशङ्कर कारखाने से आ चुका था; भोजन-इत्यादि करके वह बाहर जाने को समुद्यत था। उसी समय सौदामिनी ने धीरे-धीरे कहा—"यह घर अच्छा नहीं है! कोई दूसरी जगह अच्छा घर क्यों नहीं ले लेते हो?"

कालीशङ्कर—"मामाजी के घर से बड़ी सम्पत्ति लेकर आई हो, जिससे इस टूटे घर में रहना अच्छा नहीं लगता।"

सौदामिनी—"सो बात नहीं है। यहाँ पर चारो ओर बदमाश रहते हैं। जब तुम नहीं होते हो, तब मुझे बड़ा भय लगता है।"

कालीशङ्कर—"क्यों? क्या किसी से आँख लड़ गई है। बदमाश हैं तो क्या—तुम्हारे घर में तो नहीं घुसते हैं!"

सौदामिनी—"घर में तो नहीं घुसते हैं, पर तुम रात-रात-भर बाहर रहते हो, तब यदि वे घर भी घुसे, तो मुझे कौन बचावेगा?"

कालीशङ्कर—"तब मैं क्या तुम्हारा नौकर हूँ, जो तुम्हारे पैरों के पास रात-दिन बैठा रहूँ? चलो हटो! मैं यह कुछ नहीं जानता। जो अच्छी स्त्रियाँ हैं, उनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।"

इतना कहकर कालीशङ्कर जल्दी-से बाहर चला गया। सौदामिनी उसी स्थान पर खड़ी रोती रही। थोड़ी देर के उपरान्त उसने ठण्डी साँस ली और बाहर का द्वार बन्द करके अपनी शून्य शय्या पर पड़ रही। उस समय उसके कोमल हृदय में किस प्रकार के विचार उठ रहे थे, यह सहृदय पाठक-पाठिकायें स्वयं जान सकते हैं।

इस विश्व में कोई-कोई प्राणी ऐसे भी हैं, जिन्हें आजन्म दुःख की

अग्नि में जलना होता है। वे सुख की प्राप्ति के लिए जितनी ही चेष्टा करते हैं, उतना ही वह उनसे दूर होता जाता है।

* * * *

तीन दिन तक कालीशङ्कर नहीं लौटा।

दूसरे दिन सौदामिनी पास ही के नल से पानी लेकर अपने घर की ओर चली ही थी कि सामने से एक युवक आता हुआ दिखाई दिया। सौदामिनी और उसकी आँखें चार हुईं। लज्जा से सौदामिनी ने तो अपनी आँखें नीची करलीं; पर, वह निर्लज्ज युवक बराबर उसकी ओर देखता रहा। इतने में ही सौदामिनी अपने द्वार पर आ पहुँची और उसी समय उस युवक ने उर्दू की शृङ्गारमयी कविताएँ पढ़नी आरम्भ कीं। सौदामिनी अपने घर में चली गई। परन्तु उसी दिन से उसका मन और भी खिन्न रहने लगा। रात-रात-भर वह निद्राविहीन पड़ी रहती। इधर यह गति हो गई कि वह भ्रष्ट युवक दिन रात में दस-बीस बार उसके द्वार पर आकर उर्दू की कविताएँ पढ़ता; उसको लक्ष्य करके व्यङ्ग-वचन कहता और रात होते ही अपने पास ही के मकान से उसी को उद्देश्य करके, अश्लील गाने गाया करता। सौदामिनी सब-कुछ सहती। सहने के अतिरिक्त और उसके पास उपाय ही क्या था? पर, उसी दिन से, उसी घटना के समय से, उसे अपने पति के प्रति घोर घृणा हो गई। एक दिन वह जिसकी पूजा करने के लिये आकुल हो उठी थी, जिसकी प्रसन्नता और प्रेम को प्राप्त करने के लिए उसने समस्त मानव-साध्य प्रयत्न किये थे, और मूक भाव से जिस हृदयहीन के प्रहार और अत्याचार सहन करके भी जिसकी मानसिक प्रतिमा की आराधना की थी, आज उसी पति के प्रति उसे ऐसी घृणा उत्पन्न होगई, कि मानो वह एक भ्रष्ट अपदार्थ हो। उसकी सारी श्रद्धा विलीन होगई, और

उसका हृदय कालीशङ्कर के प्रति रोष से परिपूर्ण हो गया। उसने मन-ही-मन कहा—जो पुरुष अपनी स्त्री को छोड़कर इस प्रकार दुर्व्यसनों में निमग्न हो, जिसने असहाय भार्य्या को ऐसे भ्रष्ट एवं निकृष्ट स्थान में लाकर रख दिया हो, और आप निश्चिन्त होकर, आनन्द से भ्रष्ट स्त्रियों के साथ विहार करता फिरता हो, उस पुरुष की आराधना करना, उसके प्रति श्रद्धा रखना, एवं उसे अपने प्रेम का पवित्र पात्र मानना पाप है। ऐसे भ्रष्ट अपदार्थ को सौदामिनी अपना हृदयेश बनाकर उसकी पूजा नहीं कर सकती। सौदामिनी पति के प्रति तीव्र आक्रोश को हृदय में धारण करके किसी-न-किसी भाँति जीवन व्यतीत करने लगी।

मानव-प्रकृति, शास्त्रों के शुष्क उपदेशों से विशेष बलवती है। इस-लिए जब प्रवृत्ति और आर्ष वाक्यों में परस्पर विद्रोह उत्पन्न हो जाता है, तब सदा ही विजय होती है, प्रवृत्ति की। विश्व का वर्तमान तथा अतीत इतिहास इस बात का साक्षी है।

३

इस प्रकार लगभग तीन वर्ष व्यतीत हो गये। इन्हीं तीनों वर्षों में सौदामिनी एक निर्बल पुत्र की जननी भी होगई। पिता ने व्यभिचार और बारुणी की बलिवेदी पर अपने परम दुर्लभ स्वास्थ्य का बलिदान कर दिया था, उसका परिणाम भोगना पड़ा उस निर्बल, निर्बोध शिशु को! थोड़ी-सी ठण्ड से, थोड़ी-सी असावधानी से सौदामिनी का हृदय-लाल बीमार पड़ जाता। परन्तु सौदामिनी माता की समस्त ममता से उसकी परिचर्य्या करती; अब वही उसके जीवन का लक्ष्य हो गया था, और सौदामिनी अपने हृदयहीन पति के उस पुत्र को ही लेकर अपने असार एवं संतप्त जीवन को सान्त्वना देती थी। वह रात-दिन अपने उसी

कङ्काल-शेष निर्बल शिशु को लिये हुए बैठी रहती है। एक तो जन्म का निर्बल, तिस पर घोर द्रारिद्रय ने उसे अपने अत्याचार-यन्त्र में और भी पीस डालने का यत्न किया। जो सौदामिनी हृष्ट-पुष्ट शरीर लेकर काली-शङ्कर के आश्रम में आई थी, वही सौदामिनी आज अस्थि पञ्जर-मात्र लेकर अपने प्यारे पुत्र की परिचर्या में प्रवृत्त रहती है। इसीलिये दुर्बल सौदामिनी के चर्म-शेष स्तनों में उस पवित्र दूध की कलकलमयी धारा प्रवाहित नहीं होती थी, जिसे पान करके विश्व के समस्त बालक बलिष्ठ और परिपुष्ट होते हैं। जो कुछ दो-चार बूँद दूध निकलता भी था, उससे उस क्षुधातुर बालक की बुभुक्षा शान्त नहीं होती थी। सौदामिनी के पास स्वयं इतना पैसा नहीं था, जो वह उसके लिए गाय के दूध का प्रबन्ध करती, और उस हृदयहीन पिता का इस ओर कण-मात्र ध्यान नहीं था। पुत्र मरता या जीता, पत्नी बुभुक्षिता है, अथवा तृषित—इन सब बातों की ओर दुर्व्यसनी कालीशङ्कर को ध्यान देने का अवकाश नहीं था। वह आता; लड़ता सौदामिनी को मारता, और चला जाता। यदि कभी वह कुछ अन्नादिक ले आता, तो उसी से काम चलता, और नहीं तो सौदा-मिनी को सौभाग्यवती होते हुए भी नित्य एकादशी का निराहार व्रत पालन करना पड़ता था। उधर उसका जीवन-सर्वस्व, उसका एक-मात्र आधार, उचित भोजन के अभाव में धीरे-धीरे मृत्यु-देवी की ओर अग्रसर होता जाता था, और सौदामिनी-असहाया, अबला, अभागिनी सौदामिनी, रो-रोकर अपने दिन और रात कष्ट और क्लेश के साथ व्यतीत करती थी!

इधर वह भ्रष्ट युवक नित्य सौदामिनी के द्वार पर दस-पाँच बार आकर अश्लील कविताओं का गान करता था; मानो सौदामिनी को अपनी अङ्कशायिनी बनाने का उसने पापमय प्रण कर लिया था। नित्य-प्रति वह आता, गाता और अश्लील व्यङ्ग करता। यद्यपि प्रथम दर्शन के उप-

रान्त कई बार सौदामिनी और उसका साक्षात् हुआ था; पर सौदामिनी की तेजस्विता, ऊसके विशाल लोचनों में लीला करनेवाली रोष-रक्तिमा और ऊसके अधर-देश पर नृत्य करनेवाली घृणा को देखकर ऊसके सामने कुछ कहने का साहस नहीं होता था। अपरोक्ष रूप से उसने उसे धन और आभूषणों का प्रलोभन दिया; पर, सौदामिनी नें उसकी प्रार्थना को तिरस्कार की दृष्टि से देखा, सदा उसके प्रति क्रोध ही प्रदर्शित किया। भूख और प्यास के प्रहार उसने सहे। अभाव और अत्याचार के आघातों को सहन किया। पर, उसने उस भ्रष्ट युवक की ओर एक बार भी सद्-भाव से नहीं देखा। जब-जब वह उसके दृष्टि-पथ पर आया, तब-तब उसने उसकी ओर उसी कराल, क्रूर दृष्टि से देखा, जिसके कारण उस युवक का आगे बढ़ने तक का साहस नहीं हुआ।

सन्ध्या की शोभा रात्रि के क्रमशः प्रगाढ़ होते हुए, अन्धकार में विलीन हो गई है। विशाल गगन-मण्डल में धीरे-धीरे तारिकाओं का उदय होने लगा है, और दिवस का विकट कोलाहल, रात्रि की नीरव शान्ति में धीरे-धीरे विलुप्त होता जा रहा है। दिन-भर के तीव्र ज्वर के उपरान्त अभी थोड़ी देर हुई, सौदामिनी का पुत्र निद्रा-देवी की गोद में विश्राम करने लगा था। उसे शैय्या पर छोड़कर सौदामिनी दीपक जलाने के लिए उसके कक्ष से बाहर आई। एक दीपक जलाकर उसने रोगी-शिशु के कमरे में रख दिया, और दूसरा लेकर वह आँगन में रखने जा रही थी—उसी समय मद से उन्मत्त कालीशङ्कर ने घर में प्रवेश किया। सौदामिनी के लिए यह नया दृश्य नहीं था; एक नहीं अनेक बार उसके मदोन्मत्त क्रोध की अग्नि को वह सहन कर चुकी थी। उदासीन भाव से दीपक को उसने एक ओर आले में रख दिया। कालीशङ्कर ने उन्मत्त भाव से कहा—"भोजन तैयार है?"

सौदामिनी ने उपेक्षा के स्वर में उत्तर दिया—"भोजन !—भोजन क्या दीवार की मिट्टी का बनाया जाता है ? भोजन तो अन्न ही से बनता है—सो अन्न के नाम घर में आज दो दिन से एक दाना भी नहीं है !"

. कालीशङ्कर यह सुनकर रोष से अग्नि-शर्मा बन गया। उसने कहा—"इतना लाता हूँ, पर जब देखो, घर में अन्न नहीं है। कौन-सा तेरा यार उसे खा जाता है ?" .

सौदामिनी ने घृणा के साथ कहा—"यार तो तब खा जायगा, जब मेरा पेट भरा होगा। आज तुम कितने दिन के उपरान्त घर आए हो ! कितना लाये थे, थोड़ा सोचो तो ! और क्या, आज दो दिन से मेरे मुख में तो अन्न का एक दाना भी नहीं गया है। तुमको क्या; तुम्हें तो बाहर भोजन मिल ही जाता है, घर में कोई भूखों मरता है, या नहीं—इससे तुम्हें क्या ?"

एक तो कालीशङ्कर वैसे-ही क्रोधी प्रकृति का था, उस पर उस समय वह सुरा के प्रभाव से लगभग उन्मत्त-सा हो रहा था। पत्नी की स्पष्ट बातें (और वह भी इतने निर्भीक भाव से कही हुई) सुनकर वह क्रोध से अधीर हो गया। तीव्र स्वर में उसने कहा—"हाँ री ! देखता हूँ, अब तेरा बहुत साहस हो गया है। मैं नहीं खिलाता हूँ, तो कौन खिलाता है ? ऐसा कौन-सा तेरा यार है, जो तुझे रोज दे जाता है ?"

अब की बार सौदामिनी ने भी क्रोध के साथ कहा—"चुप रहो ! इतने ज़ोर से मत बोलो ! बच्चा अभी सोया है। तुम्हें यह सब कहते हुए लज्जा भी नहीं आती। जानते हो, तुम्हारा पुत्र दूध के लिये रात-दिन तड़पता है; तुम्हारी स्त्री भूख की ज्वाला से विकल रहती है, और तुम बाहर वेश्याओं के जूते चाटा करते हो। धिक् !"

इतका सुनते ही कालीशङ्कर के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उसने

चिल्लाकर कहा—"तब क्यों नहीं अपने मामा के घर चली जाती है, हरामज़ादी ! क्यों यहाँ भूख और प्यास से मर रही है ?"

सौदामिनी ने भी तीव्र स्वर में कहा—"क्यों चली जाऊँ ? तुम किस साहस पर चार आदमियों के सामने मुझे विवाह करके लाये थे ? आज मैं ही हूँ—जो इतना दुःख, इतना क्लेश उठाकर भी तुम्हारे घर में दीपक जलाती हूँ, नहीं तो, नहीं तो······"

आगे कहते-कहते सौदामिनी का गला भर आया। क्रोध और क्षोभ से उसकी अग्निमयी आँखों से अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगीं। कालीशङ्कर ने व्यङ्ग-पूर्वक कहा—"नहीं तो, क्या ? नहीं तो किसी यार के साथ निकल जाती ! क्यों, यही न ?"

सौदामिनी—"हाँ, यही समझ लो। तुम बाहर आनन्द से वेश्याओं के साथ विहार करते फिरो, और मैं घर में भूखी-प्यासी पड़ी रहूँ; मेरा बच्चा भूख और प्यास से तड़पता रहे। इतना अत्याचार ! इतना पाप !"

कालीशङ्कर ने मुँह बनाकर कहा—"क्यों सहती हो इतना अत्याचार ? क्यों नहीं किसी यार के साथ निकल जाती हो ? बड़े आनन्द से रक्खेगा; बड़े प्यार से घर की मालकिन बना देगा; कब यात्रा करोगी ?"

इतना कहकर कालीशङ्कर ठहाका मारकर हँस पड़ा। सौदामिनी के सारे शरीर में आग लग गई। कालीशङ्कर के परिहास में जो अविश्वास था, उसने सौदामिनी के हृदय को एक-ही आघात में टुकड़े-टुकड़े कर दिया। सौदामिनी ने एक बार आँचल से आँसू पूँछे। अपने रोषमय लोचनों को स्थिर भाव से कालीशङ्कर के मुख पर प्रस्थापित करके उसने तीव्र स्वर में कहा—"ओफ़् ! मैं नहीं जानती थी, कि तुम इतने निर्लज्ज हो, इतने भयङ्कर पिशाच हो ! तुम क्या जानते हो मूर्ख मनुष्य ! मैंने तुम्हारे-जैसे अपदार्थ के लिए कितने प्रलोभनों को लात मार दिया है !

पर नहीं, मेरी भूल थी—तुम, मेरी श्रद्धा-भक्ति के नितान्त अयोग्य हो ! तुम—तुम, जो अपनी स्त्री को अकेले गुण्डों और बदमाशों के बीच में निःसहाय छोड़ देते हो; तुम, जो अपनी स्त्री और बच्चे का भरण-पोषण भी नहीं कर सकते; तुम, जो अपनी परिणीता-भार्य्या के नाम पर कलङ्क लगाते रत्ती-भर भी लज्जा बोध नहीं करते ! तुम ? तुम क्या मेरी भक्ति के पात्र हो सकते हो ? नहीं, मैंने बड़ी मूर्खता की, जो अब तक इतना सहा ! अत्याचारी पुरुष ! अब मैं स्पष्ट कहे देती हूँ, कि अब मैं उसी पथ की पथिक बनूँगी, जिसकी ओर तुमने सङ्केत किया है। अपने पेट की ज्वाला के लिए नहीं; अपनी लज्जा-निवारण करने के लिये नहीं; किन्तु अपने इस मरते हुए पुत्र की रक्षा के लिये मैं पाप भी करूँगी; आकण्ठ व्यभिचार में भी निमग्न हो जाऊँगी, और आवश्यकता होने पर वेश्या बनकर कोठों पर बैठूँगी—जहाँ तुम नित्य जाकर अपने इस कलुषित शरीर को और भी परिभ्रष्ट करते हो।"

इतना सुनते ही कालीशङ्कर क्रोध से अधीर हो उठा, और सामने ही पड़े हुए डण्डे को उठाकर सौदामिनी को मारने चला। आज सौदामिनी की क्रोधमयी प्रवृत्ति भी अपनी सीमा को अतिक्रान्त कर चुकी थी, इसलिए आज वह भी विकराल स्वर में चिल्ला उठी—"सावधान ! एक भी पैर आगे मत बढ़ाना।" और इतना कहकर उसने पास ही पड़ी छुरी को हाथ में ले लिया। दृढ़ मुष्टि से उसे हाथ में पकड़कर उसने कहा—"बस, बहुत हो चुका ! अब यदि तुमने आगे पैर बढ़ाया, तो आज इसी स्थल पर रक्त-धारा बह चलेगी।"

सौदामिनी का ऐसा विकराल वेष देखकर कालीशङ्कर का हृदय काँप उठा। वह अपने स्थान पर जड़वत् खड़ा रहा। थोड़ी देर के लिए उसका सारा मद दूर हो गया, और उसने अच्छी तरह से जान लिया, कि

उसके अशेष अत्याचारों से व्यथित होकर आज सौदामिनी ने प्रचण्ड वेष धारण किया है। उसे आगे बढ़ने का साहस नहीं हुआ। सौदामिनी भी उसी तीव्र दृष्टि से उसकी ओर देखती रही। उसी समय सौदामिनी का बच्चा रो उठा—सौदामिनी शीघ्रता से उधर चली गई।

कालीशङ्कर पत्नी के द्वारा अपमानित और लाञ्छित होकर कुछ देर तक वहीं खड़ा रहा। पर, थोड़ी ही देर में उसके अधर पर उन्मत्त हास्य का आविर्भाव हुआ। वह शीघ्रता से बाहर चला गया, और बाहर जाकर उसने द्वार बन्द करके उसमें ताला लगा दिया। अपनी इस शैतानी कृति पर अट्टहास करता [illegible] चला गया। सौदामिनी आज बन्दिनी हो गई !!

अतिशय अत्याचार दुर्बल के हृदय में भी एक ऐसी विकराल ज्वाला उत्पन्न कर देता है, जिसको विमल शान्ति की शीतल धारा भी प्रशमित नहीं कर सकती। वह तो तप्त शोणित से ही शान्त होती है।

४

जिस दिन सौदामिनी और उस भ्रष्ट युवक का साक्षात् हुआ था, उसी दिन से सौदामिनी प्रभात के समय जल लेने न जाकर गम्भीर रात्रि के अन्धकार में जल ले आती थी। इसमें सन्देह नहीं, कि रात्रि के नीरव अन्धकार में भय की अधिक सम्भावना थी। परन्तु सौदामिनी उसके लिये सदा प्रस्तुत रहती थी। सौदामिनी की कंचुकी में सदा तीव्र छुरी छिपी रहती थी, और वह उसी पर भरोसा करके यामिनी की तिमिर-राशि में धीरे-धीरे नि-शब्द गति से, नल के पास जाती और दो घड़ा पानी लेकर घर को चली आती। आज भी नित्य की भाँति, जब आधी रात व्यतीत हो गई और समस्त संसार नीरव शान्ति की गोद में विश्राम

करने लगा, तब ज्वर के सन्ताप में मूर्च्छित शिशु को शून्य कक्ष में छोड़कर सौदामिनी पानी भरने के लिए चली। पर, द्वार पर आते ही उसका हृदय कम्पित हो उठा। उसने देखा—द्वार बाहर से बन्द है, और उस द्वार की खुली हुई रेखा से उसने देखा, कि द्वार में बाहर से ताला भी लटक रहा है। हृदयहीन पति की सारी निठुर कार्यवाही उसकी कल्पना के सामने जगमगा उठी, और उसका हृदय एक विकराल भय से उद्विग्न और आकुल हो उठा। घर में एक बूँद पानी नहीं है; जो था, उसे उसने स्वच्छ जल लाने के लिये पृथ्वी पर फेंक दिया! अब क्या होगा? किस प्रकार रात कटेगी? वह सहसा दौड़ी। उसने मन में सोचा, कि अब भी कुछ पानी पृथ्वी पर होगा, तो उसे वह आँचल से भिगोकर पात्र में भर लेगी। उसे अपनी चिन्ता नहीं थी; आज दूसरी रात्रि व्यतीत हो रही है, और उसके मुख में एक अन्न का दाना भी नहीं गया है! घर में एक मुट्ठी चावल थे, उन्हें भी उसने पुत्र के लिये रख दिया था! आज दोपहर से तो केवल जल, और दो-चार बूंद, उस दूध के सिवाय, जो बुभुक्षित माता के चर्म-शेष स्तनों से बहुत कुछ प्रयत्न करने पर प्राप्त हो सका था, कुछ भी उस ज्वर-सन्तप्त बालक के मुख में नहीं गया था। आज सायंकाल से ज्वर का प्रकोप और भी बढ़ गया था, और बार-बार बालक का मुख सूखा जाता था, जिसमें दो-दो बूँद जल समय-समय पर सौदामिनी डाल देती थी। हाय! अब वह भी नहीं है; क्या करे? किस प्रकार बालक रात-भर बिना पानी के रह सकेगा? सौदामिनी उन्मादिनी-सी हो गई!

एक-दो बार उसने द्वार पर तीव्र आघात किया! पर उस दुर्बल बुभुक्षित नारी में इतना बल कहाँ, कि वह उसे भङ्ग करने में समर्थ होती। देर तक वह द्वार के पास खड़ी होकर खुली झिरी में से बाहर देखती रही, कि कोई निकले, तो वह उसे आवाज़ देकर द्वार खोलने की

प्रार्थना करे। आज लाज और सङ्कोच कहाँ ? पुत्र तृषातुर होकर मृत्यु-शय्या पर छटपटा रहा है; तब माता को लाज और सङ्कोच के लिये अवसर कहाँ है ? जब बहुत देर तक कोई नहीं आया, तब उसने तीव्र स्वर में पुकारना आरम्भ किया। परन्तु किसी ने भी उस अभागिनी की ध्वनि का प्रत्युत्तर नहीं दिया। देता भी कौन ? उस समय वहाँ था ही कौन ? सब अपने-अपने गृहों में आनन्दपूर्वक विश्राम कर रहे थे। केवल एक सौदामिनी ही अपने सन्तप्त, तृषार्त पुत्र की मृत्यु-शय्या के पास बैठकर करुण, किन्तु नीरव-रुदन कर रही थी। नीरव ! हाँ नीरव, जिससे बालक की मूर्च्छा भङ्ग न हो जाय। हाय ! आज वह जी भरकर रो भी नहीं सकती थी !!

उस समय उसका हृदय विकल विचारों की विहार-स्थली-सा हो रहा था। बार-बार उसके मन-मन्दिर में अतुल भावों का तुमुल नाद हो उठता था, और उस तुमुल नाद के बीच में उसका मातृत्व हा-हाकार कर के रो उठता था। हाय ! दूध एक ओर रहा, औषध एक ओर रही, आज वह अपने एक-मात्र पुत्र के मुख में एक बूँद जल भी नहीं दे सकती ! विधि का कैसा भयङ्कर विधान है ! मातृत्व की कैसी विकल वेदना है ! मूर्छा में पड़ा हुआ बालक बार-बार मुँह खोल-खोलकर पानी माँगता है, बोलने की—साधारण-सा 'जल'-शब्द कहने की भी—उसमें सामर्थ्य नहीं है, कभी-कभी तृषा से अत्यन्त व्याकुल होकर वह अपनी ज्वर के सन्ताप से जलती हुई कोमल आँखें खोलकर क्षण भर के लिए माता के वेदना-व्यथित मुख की ओर देखता था। उस समय सौदामिनी की जो गति होती थी, उसे किसी महाकवि की लेखनी भी चित्रित नहीं कर सकती थी। वह चित्र का विषय है ही नहीं; वह तो हृदय की उस वेदना की पराकाष्ठा है, जो एक बार परम शान्तिमय योगीश्वर को भी

उन्मत्त बना देती है। सौदामिनी बार-बार घर की छत पर जाकर दूर-दूर तक दृष्टि डालती। पर, उस शून्य अन्धकार में उसे कोई आता हुआ दिखाई नहीं पड़ता। सौदामिनी उन्मादिनी की भाँति कभी छत पर, कभी द्वार पर, और कभी सन्तप्त पुत्र की रोग-शय्या के पार्श्व-देश में जाकर खड़ी हो जाती। उसकी आँखों से जो अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी, वह भी धीरे-धीरे बन्द हो गई। उसके विशाल कमल-लोचनों में अब उन्माद का स्पष्ट लक्षण प्रतिलक्षित होने लगा, और उसे अब अपनी सुध-बुध भी जाती रही। समय तो अपनी गति से चला ही जा रहा था; परन्तु सौदामिनी को वह यामिनी, प्रलय की कभी समाप्त न होनेवाली काल-रात्रि के समान प्रतीत हो रही थी। उधर तृषा के कारण बालक की भी बुरी गति थी। धीरे-धीरे मृत्यु की कालिमा उसके मुख को आवृत्त कर रही थी; उसी समय एक ओर से घड़ी ने चार बजने की सूचना दी। सौदामिनी एक बार दौड़कर फिर छत पर गई और मानों उस अन्धकार को भेदकर वह अपनी दृष्टि दूर तक—स्वर्ग और पृथ्वी के मिलन-छोर तक-पहुँचाने का प्रयत्न करने लगी। अब की बार उसका प्रयत्न सफल हुआ और उसने द्वार पर एक व्यक्ति को आते देखा। सौदामिनी उत्कण्ठित हृदय से उस व्यक्ति के निकट आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। उसी समय उसे वही चिर-परिचित गान की ध्वनि सुनाई दी। वही गान, वही कविता, जो वह भ्रष्ट युवक नित्य उसके द्वार-देश पर समय-कुसमय गाया करता था। इस समय भी उस गान का वही विषय था; इस समय भी उस गान के द्वारा उससे प्रणय की प्रार्थना की जा रही थी; इस समय भी उस संगीत में उससे पर्य्यङ्क-शायिनी बनने की विनय की जा रही थी। नित्य जिस गान को सुनकर उसके समस्त शरीर में अग्नि लग जाती थी; नित्य जिस कविता के प्रथम स्वर के साथ उससे हृदय में तीव्र क्रोध का

प्रादुर्भाव होता था और नित्य जिस अश्लील व्यङ्ग-संगीत को सुनकर उसका मन-मन्दिर घृणा से ओत-प्रोत हो जाता था; आज वही संगीत उसे अमृत की धार के समान प्रतीत हुआ; आज वही स्वर उसे कृष्ण की बाँसुरी के मधुर राग के समान मीठा लगा; और आज वही अश्लील शृङ्गारमयी पदावली उसे वाञ्छित पदार्थ की प्राप्ति के समान सुखमयी मालूम हुई। युवक इतने में कुछ निकट आ गया। ऊपर से आकुल स्वर में सौदामिनी ने पुकारा—"पूरनमल! पूरनमल!!"

पूरनमल चकित दृष्टि से ऊपर की ओर देखने लगा। यद्यपि इस समय इतना प्रकाश नहीं था कि वह सौदामिनी के मुख को भली-भाँति देख सकता, परन्तु कई बार पति-पत्नि के कलह-संग्राम के समय उसने सौदामिनी के कण्ठ-स्वर को सुना था; अतएव उसे पहिचानने में उसे विशेष समय नहीं लगा। परन्तु वह उसके लिए आश्चर्य का विषय था। जिस सौदामिनी ने उसकी प्रणय-याचना को सदा तिरस्कारमयी दृष्टि से देखा, जिस सुन्दरी ने उसकी आकुल दृष्टि की ओर से सदा घृणा-पूर्वक मुख फिरा लिया और जिस रमणी ने उसके अश्लील रागों को सुनकर भी उसकी ओर भूलकर भी एक कटाक्ष नहीं किया; आज वही रमणी ब्रह्म-मुहूर्त के क्षीण प्रकाश में, अपनी छत पर खड़ी उसे इतनी आकुलता से बुला रही है—यह उसके लिए एक परम विस्मय-सा प्रतीत हुआ। एक बार उसे यह स्वप्न के समान विदित हुआ; एक बार वह विस्मय-विमुग्ध होकर ऊपर की ओर वाणी-विहीन होकर उसे देखने लगा। उसी समय सौदामिनी ने फिर आकुल भाव से कहा—"क्या देखते हो? बाहर ताला पड़ा है, उसे तोड़ डालो। सच मानो, आज जो-कुछ तुम कहोगे, सो-ही मैं करूँगी। देर मत करो। जल्दी करो, मेरा विश्वास करो। पूरन, मैं तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही काम करूँगी।"

पूरन को विश्वास हो गया कि वह सब स्वप्न नहीं, स्थूल सत्य है। पूरनमल को ताला तोड़ने में विशेष समय नहीं लगा, बड़ी शीघ्रता से उसे तोड़कर वह भीतर आया। अन्दर आते ही सौदामिनी ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"पूरन! पीछे कुछ और कहूँगी। पहिले पानी ले आओ!" यह कहकर उसने एक पात्र पूरन के हाथ में दे दिया और आप द्वार पर खड़ी होकर उसके आने की प्रतीक्षा करने लगी। दो ही मिनट के अन्दर वह पानी ले आया—जैसे कोई उन्मत्त किसी के हाथ से कोई पदार्थ छीनता है, उसी प्रकार पूरन के हाथ से पात्र छीनकर सौदामिनी उसी कोठरी की ओर दौड़ी, जहाँ पर उसका तृषार्त पुत्र धीरे-धीरे मृत्यु की कन्दरा में पतित हो रहा था। पूरन ने भी धीरे-धीरे उस कोठरी में प्रवेश किया। पानी पाकर बालक के मुख पर एक प्रकार की शान्ति-सी विराज गई। उसी समय सौदामिनी ने पूरन की ओर देखा, उसने कहा—"पूरन, मैं सब कुछ करने को उद्यत हूँ। इस बच्चे को बचाओ! मैं आजन्म तुम्हारी दासी बनकर रहूँगी। तुम्हारे चरणों में अपना मस्तक, यौवन, अपना समस्त सौन्दर्य और अपना समस्त पातिव्रत्य अर्पण कर दूँगी।" यह कह कर सौदामिनी ने आकुल भाव से पूरन की ओर देखा।

यद्यपि पूरन का चरित्र नितान्त-भ्रष्ट था; पर, फिर भी उसका हृदय कोमल था। सङ्ग-दोष से उसका आचरण पतित हो गया था; परन्तु फिर भी उसके हृदय के एक निभृत कोण में भावना की पुण्य-मूर्त्ति कभी-कभी नृत्य कर उठती थी। उसने शीघ्र ही परिस्थिति के रहस्य को जान लिया। उसने जान लिया, आज जो सौदामिनी अपने पवित्र पातिव्रत्य को परित्याग करके उसकी पर्य्यङ्क-शायिनी बनने को प्रस्तुत है, उसका कारण वह व्यभिचारशीला लालसा नहीं है, जो पर-पुरुष के चुम्बन और आलिङ्गन से, केलि और आमोद से परिपुष्ट होती है; पर, वास्तव में

उसका कारण है, वह विकल उन्मत्त मातृत्व, जो अपने हृदय के एक-मात्र आधार को मृत्यु के मुख से बचाने के लिये आज अपने अमूल्य पातिव्रत्य-रत्न को भी विसर्जन कर देने के लिये उद्यत है। उन्मत्त मातृत्व की इस पुनीत महिमा को देखकर पूरन का हृदय श्रद्धा से ओत-प्रोत हो गया। उसने एक बार आँखें उठाकर सौदामिनी की उस उन्मादिनी मुख-श्री को देखा। उसने देखा, कि उस गम्भीर व्यथा और प्रबल उन्माद की सङ्गमभूमि पर मातृत्व अपनी महा महिमा के साथ विराजमान है। उसने देखा, कि उसके सामने ममतामयी माता की उन्मादिनी मूर्त्ति खड़ी है। उसने देखा कि सर्वस्व-त्यागिनी जननी की वेदना-व्यथित प्रतिमा उसके सामने खड़ी होकर उससे अपने पुत्र की जीवन-रक्षा की याचना कर रही है। पूरन का हृदय भक्ति और श्रद्धा से ओत-प्रोत हो गया; उसके भावों में एक बार ही परिवर्तन हो गया। आज तीन वर्ष से जो चरित्र-हीन, भ्रष्ट-कामुक युवक, जिस सुन्दरी के रूप-यौवन को अपनी काम-प्रवृत्ति की अग्नि-शान्ति का साधन बनाना चाहता था, वही युवक उसी सुन्दरी में मातृत्व की महिमामयी शोभा का विलास देखकर, भक्ति और श्रद्धा से उसकी ओर ताकने लगा। व्यभिचार का भाव उस पुण्य मातृत्व की उन्मत्त धारा में विलीन हो गया। पूरन ने उसके चरणों में घुटने टेककर गद्‌गद् कण्ठ से कहा—"क्षमा करो, मैंने वास्तव में बड़ी भूल की थी। मैंने आज तक अपने मनो-मन्दिर में कैसे भयङ्कर पाप का परिपालन किया था !!"

सौदामिनी ने विकृत स्वर में कहा—"नहीं, नहीं, पूरन ! इस अभि-नय की आवश्यकता नहीं है। मैं सच कहती हूँ, अब इस शरीर पर तुम्हारा अधिकार है। जो इच्छा हो, सो करना। चुम्बन करना, आलि-ङ्गन करना और अपने हृदय की साध पूरी करना। पर; बचाओ, मेरे

इस मरते हुए बच्चे को बचाओ! विश्वेश्वर साक्षी हैं; मैं तुम्हारी दासी बनकर जीवन व्यतीत करूँगी।"

पूरन ने आँखों में आँसू भरकर कहा—"ऐसा न कहो मेरी माता। तुम्हारे इन शब्दों को सुनने ही से मेरा हृदय फटा जाता है। माँ! तुम्हारा एक पुत्र इस रोग-शय्या पर पड़ा है, और एक तुम्हारे सामने उपस्थित है। अब कुवचन मुख से मत निकालना, नहीं तो पृथ्वी एक भयङ्कर भूकम्प से उथल-पुथल हो जायगी, और धर्म सदा के लिए नष्ट हो जायगा। अच्छा, डॉक्टर को बुलाने जाता हूँ।"

पूरन ने जल्दी से सौदामिनी के पैर छुए, और वह कमरे से बाहर हो गया। उस समय प्राची दिशा से सूर्यदेव की प्रथम किरण उतरकर आँगन में रक्खे पात्र पर क्रीड़ा कर रही थी।

माता की ममतामयी मूर्ति की मुख-श्री पर लीला करनेवाली पुण्य-ज्योति पाप के गम्भीर तिमिर को क्षण-भर में विनष्ट कर देती है।

५

पूरन के चले जाने के उपरान्त सौदामिनी का उन्मत्त भाव कुछ शान्त हुआ। परन्तु, गत घटना पर स्वस्थ-चित्त हो कर विचार करने की शक्ति अभी तक उसे प्राप्त नहीं हुई थी। वह ज्वर-मूर्च्छित शिशु की शय्या के पार्श्व-देश में बैठी-बैठी एकटक उसकी ओर देख रही थी। बालक तीव्र ज्वर के सन्ताप से व्याकुल था। वह जल्दी-जल्दी साँस ले रहा था, और बार बार जल के लिए मुख फैला देता था। सौदामिनी उसके मुख में दो-दो बूँद जल देती जाती थी। जल पीकर कुछ क्षण के लिए बालक शान्त हो जाता था।

पूरन गाय का ताज़ा दूध तथा डॉक्टर को साथ लेकर लगभग दो घण्टे के उपरान्त लौटा। डॉक्टर ने बड़े ध्यान से बच्चे को देखा। यद्यपि

उन्होंने स्पष्ट रूप से तो कुछ नहीं कहा पर उनके भाव और इङ्गितों से यही प्रतीत होता था, कि रोग साधारण नहीं है। पूरन ने एक बार कहा भी—"डॉक्टर साहब, औषध के मूल्य-आदि की चिन्ता न कीजिएगा। किसी भी प्रकार मेरे इस भाई को बचाइये। मैं और मेरी माँ आजन्म आपके ऋणी रहेंगे।" डॉक्टर ने कहा—"पूरन बब्बू, मनुष्य की जहाँ तक शक्ति है, वहाँ तक मैं चेष्टा करूँगा। पर, आप व्याकुल न हों, भगवान् रक्षा करेंगे, वे करुणामय हैं।"

डॉक्टर के अन्तिम वाक्यों ने सौदामिनी को कुछ-कुछ ढाढ़स बँधाया। डॉक्टर ने औषध का निर्णय किया। पूरन औषध लाया, और दिन-भर बिना खाए-पिए रोगी शिशु की शय्या के पास बैठकर वह उसकी परिचर्य्या करता रहा। यथा-समय उसे औषध देता, समय-समय पर ब्राण्डीमिश्रित दूध का एकाध चम्मच उसे पिलाता। इस प्रकार दिन-भर की अजस्र सेवा के उपरान्त लगभग पाँच बजे के समय रोगी की दशा में कुछ-कुछ परिवर्त्तन प्रतीत हुआ। रोगी ने एकाध बार आँखें भी खोलीं, ज्वर का भी प्रकोप कुछ कम हुआ। उसी समय सौदामिनी ने कहा—"पूरन, आज तुमने मेरे साथ जो उपकार किया है, उससे मैं जन्म-जन्मान्तर में उऋण नहीं हो सकती। तुमने माता का धन उसे लौटा दिया है।"

पूरन—"माँ, सब जगदीश्वर की कृपा का फल है। तुच्छ मनुष्य क्या चीज़ है? सच पूछो तो आज तुमने मेरे जीवन में एक पुण्य-परिवर्तन कर दिया है। आशीर्वाद दो माँ! मेरी बुद्धि ऐसी ही निर्मल बनी रहे, मेरा हृदय इसी भाँति व्यथित के लिए रोता रहे।"

सौदामिनी—"अन्तर से आशीर्वाद देती हूँ, कि तुम इसी प्रकार परोपकार में रत रहो। अच्छा, अब जाओ। कुछ भोजन इत्यादि कर आओ।"

पूरन—"और तुम, माँ !"

सौदामिनी—"मैं आज भोजन नहीं करूँगी। आज तीसरा दिन भी मैं निराहार ही व्यतीत करूँगी! जब तक मेरा बच्चा मृत्यु के भय से रहित नहीं होगा, तब तक मैं एक दाना भी नहीं खाऊँगी। यह मेरी प्रतिज्ञा है।"

पूरन—"पर, ऐसे कैसे काम चलेगा? तुम भी पड़ जाओगी।"

सौदामिनी ने हँसकर कहा—"नहीं। हम स्त्री हैं; हम बहुत कुछ सह सकती हैं, पूरन! तुम चिन्ता मत करो। मेरा विश्वास है, कि कल तक मेरा बच्चा या तो भय रहित हो जायगा, या……।"

पूरन की आँखों में आँसू भर आये! और कुछ कहना व्यर्थ समझ-कर पूरन भोजन करने के लिए चला गया। चलते समय वह एक घण्टे में लौटने को कह गया।

पर पूरन ने इधर पीठ फेरी, इधर बच्चे की तबियत विशेष रूप से बिगड़ने लगी। अभी घड़ी-भर पहले ज्वर का सन्ताप कम हो गया था, ठहरा हुआ था। पर, अब तो बालक को तीव्र वेग से पसीना आने लगा और ज्वर धीरे-धीरे मृत्यु की शीतलता में परिणत होने लगा। अब तो सौदामिनी अत्यन्त विकल हो उठी। देखते-देखते आध घण्टे के भीतर ही रात्रि के अन्धकार में विलीन होती हुई सान्ध्य-श्री के साथ, उस शिशु का प्राणवायु भी शून्य वायु-मण्डल में विलीन हो गया!

उन्मत्त भाव से सौदामिनी हाहाकार करने लगी। उसके करुण मर्म-भेदी विलाप से सारा घर मुखरित हो उठा। लगभग पौन घण्टे के उपरान्त ज्योंही पूरन ने घर में प्रवेश किया, त्योंही सौदामिनी की विलाप-ध्वनि उसके कानों में पड़ी। कारण जानने में उसे अधिक समय नहीं लगा। उस समय धीरे-धीरे सन्ध्या का अन्धकार प्रगाढ़ हो रहा था और उस

अन्धकारमय कक्ष में मृतशिशु को छाती से लगाये हुए सौदामिनी विलाप कर रही थी। आते ही पूरन ने दीपक जलाया और उसके क्षीण प्रकाश में उसने जो करुण, मर्म-भेदी दृश्य देखा, उससे उसका हृदय अत्यन्त विक्षुब्ध और कातर हो उठा। उसने देखा कि सौदामिनी के बाल खुले हुए हैं और धूल से धूसर हो रहे हैं; उसका वस्त्र हट गया है और उसके अङ्ग इस समय अनावृत्त-प्राय हो रहे हैं। पर, इस ओर उसका ध्यान नहीं है। वह तो बार-बार उस शिशु-शव को हृदय से लगा कर हाहाकार कर रही है। पूरन ने रुँधे हुए कण्ठ से पुकारा—"माँ!"

सौदामिनी ने उसकी ओर देखा। रोते हुए कहने लगी—"चला गया, रूठकर चला गया! हाय, मेरा बचा! पूरन, इसी बच्चे के लिए मैं सब-कुछ परित्याग करने को तैयार थी। इसके लिए मैं स्त्री का गौरव, पत्नी का पातिव्रत, सब कुछ विसर्जन करने को प्रस्तुत थी। पर, हाय रूठकर चला गया! क्यों न रूठकर चला जाता! दूध देना तो एक ओर, माँ होकर भी मैं रात-भर इसके सूखते हुए मुख में एक बूँद जल भी नहीं दे सकी! मेरा बचा मुझसे अभिमान करके, मुझे छोड़कर चला गया। ओफ़्!"

सौदामिनी हाहाकार कर उठी। पूरन भी रोने लगा। उसी समय द्वार-देश पर, मद से उन्मत्त कालीशङ्कर उपस्थित हुआ। उसे देखते ही सौदामिनी तीव्र स्वर में चिल्ला उठी—"इसी हृदय-हीन शैतान के कारण मेरा बचा मुझसे रूठकर चला गया। हाय! यदि यह पापी, पिशाच रात को मुझे बन्द न कर जाता तो मेरा बचा इस प्रकार प्यास से विकल होकर न मरता। अब क्या चाहते हो निष्ठुर शैतान? अब क्या इस बच्चे के शव को भी भक्षण करोगे? सो नहीं होगा! मैं नहीं दूँगी! मेरे

जीते-जी कौन मेरे बच्चे को खा सकता है ? नहीं दूँगी ! नहीं दूँगी !! नहीं दूँगी !!!"

सौदामिनी फिर उन्माद के प्रभाव से प्रलाप करने लगी। उसने शिशु के शव को बड़े ज़ोर से अपने हृदय से लगा लिया। बार-बार "नहीं दूँगी ! नहीं दूँगी !" कहकर वह अपने विकराल भाव से कालीशङ्कर की ओर देखने लगी। कालीशङ्कर विस्मय-विमुग्ध होकर द्वार-देश पर खड़ा था। एक तो सुरा का तीव्र मद, उस पर दृश्य की विकराल विचित्रता। कालीशङ्कर जड़-भाव से सौदामिनी की ओर देखता रहा। सौदामिनी उसी समय सहसा अपनी कञ्चुकी में छिपी हुई छुरी निकालकर चिल्ला उठी—"हट जाओ शैतान रास्ते में से ! नहीं तो अभी यह छुरी हृदय में घुसेड़ दूँगी ! मैं जाऊँगी—मैं अपने लाल को लेकर जाऊँगी ! तुझे नहीं दूँगी ! नहीं दूँगी !"

इतना कहकर सौदामिनी एक हाथ से छुरी घुमाती हुई और दूसरे से मृतशिशु का शव हृदय से लगाये हुये आगे बढ़ी। कालीशंकर भय से एक ओर हट गया। पूरन भी आश्चर्य्य-चकित होकर सौदामिनी के उस उन्मत्त वेष और व्यवहार को देखता रहा। सौदामिनी आँगन में आगई—"नहीं दूँगी ! नहीं दूँगी ! नहीं दूँगी !!!" कहती हुई वह वेग से बाहर चली गई। पूरन और कालीशंकर दोनों आश्चर्य्य-चकित होकर क्रिया-हीन होकर, देखते रहे। सौदामिनी रात्रि के अन्धकार में उसी प्रकार विलीन हो गई, जिस प्रकार उसकी उन्मत्त ध्वनि—"नहीं दूँगी ! नहीं दूँगी ! नहीं दूँगी !" शून्य आकाश में विलुप्त हो गई थी; सौदामिनी अन्तर्हित हो गई।

उस समय अन्धकार प्रगाढ़ हो गया था, और कृष्ण गगन-मण्डल के चारों ओर किसी उन्मत्त वियोगिनी की हारावली के टूटे हुए मोतियों

के समान, नक्षत्र-राशि बिखरी हुई थी। संसार निद्रा के कृष्ण चीर से आवृत्त हो रहा था।

दो-तीन मिनट के उपरान्त पूरन को कुछ चेत हुआ। वह भी 'माँ! माँ!' कहता हुआ सहसा प्रधावित हुआ। कालीशंकर उस शून्य कोठरी में सिर पकड़कर बैठ गया।

पूरन ने उस काली यामिनी में बहुत ढूँढ़ा। परन्तु, सौदामिनी मेघ-मण्डल में सौदामिनी की भाँति अन्तर्हित हो गई। उस अन्धकारमयी यामिनी ने मानों उसे अपने तिमिरावृत कक्ष में छिपा लिया!!

मातृत्व के उन्मत्त हाहाकार में जिस व्यथित सङ्गीत की धारा उच्छ्-वसित होती है, उसे सुनकर कवि की लेखनी करुणामयी कविता अंकित करने लगती है, दार्शनिक का हृदय सन्तप्त संसार की वेदना का प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है और विश्वप्रेमी अपनी समस्त साधना को विश्व-व्यापी दुःख के निवारण के लिए उत्सर्ग कर देता है।

दूसरे दिन प्रभात-श्री के प्रकाश में स्वच्छ-सलिला गोमती के तरङ्ग-मय वक्षस्थल पर प्रवाहित होते हुए सौदामिनी के शव को और उस पर लेटे हुए शिशु के मृत-शरीर को देखकर पूरन की आँखें अश्रुमयी एवं हृदय आकुल हो उठा। मातृत्व के उस उज्ज्वल प्राणोत्सर्ग का दर्शन करके पूरन, भक्ति और श्रद्धा से विभोर हो गया; और उसने उस प्रवाहित पुण्य-शव को उद्देश्य करके निर्मल दुकूल पर प्रणिपात किया।

उस समय सौदामिनी के सुन्दर मुख को प्रभात-सूर्य्य की रजतराशि-किरणें चुम्बन कर रही थीं!!

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त

जन्मकाल	रचनाकाल
१८९९ ई०	१९१९ ई०

जूठा आम

माया केवल हँस देती थीं। मेरे प्रश्नों का मुझे सदा यही उत्तर मिलता था।

जब वह मेरे सामने से चली जाती थी, तो मैं उसके हास्य में अपने अर्थ को टटोलता था। भ्रान्त भिखारी भी उस दिन में—जो उसके लिये रात के समान है—क्या इसी तरह अपना पथ खोजता होगा ?

मैं एक भग्न कुटीर में रहता था, सामने ही उसकी सुविशाल अट्टालिका थी। उस प्रासाद की सर्वोच्च मंज़िल के बरामदे में चिकें पड़ी हुई थीं। शायद माया अपने दोनों हाथों से कभी-कभी एकाध तीलियाँ तोड़ दिया करती थी। चिक का एक कोना खुल गया था। उसी कोने से, उसी की लापरवाही से एक दिन मैंने उसे देख लिया। वह एक दिन वहाँ पर फिर आई, मैंने फिर देखा। मैं उसे पहचान गया, वह मुझे पहचान गई।

इसके बाद वह वहाँ पर नित्य कुछ देर के लिये आती थी। मैं बड़ी देर तक प्रतीक्षा करता था, प्रतीक्षा कभी विफल न गई।

मैंने जितनी मर्तबा उसके स्वर्गीय रूप के दर्शन किये, उतनी मर्तबा उसमें कुछ-न-कुछ नवीनता अवश्य पाई। उसका विश्वविमोहन हास्य मुझे अपने नाम की तरह खूब अच्छी तरह याद है; किन्तु मुझे याद क्या—मालूम भी नहीं, उसका कण्ठ कितना करुण और कोमल था।

मैं उसकी वाणी को सुनने के लिये बड़ा ही उत्सुक था, किन्तु वह पाषाण—नहीं, नहीं, सुवर्ण की प्रतिमा—कभी बोली ही नहीं। मैंने बड़े-बड़े प्रयत्न किये, पर उसके अधरों से मुस्कान निकली, शब्द नहीं निकले; चित्र देखा, संगीत नहीं सुना; भाव मिला, अर्थ नहीं पाया; मेरे नेत्र कृतकृत्य हुये, कान अतृप्त ही रहे। कभी-कभी मेरे कर्णद्वय मुझसे कानाफूसी कर कहने लगे—"तू बहरा तो नहीं है?"

२

जो भी हो, लोग कहते हैं—जीवन की सब से प्रिय वस्तु, सब से मनोहर घटना अच्छी तरह याद रहती है, पर मुझे वह भयानक सन्ध्या अभी की तरह खूब याद है।

आह! वह ग्रीष्म की सन्ध्या थी! ताप-तप्त भूमि पर पानी छिड़ककर मैं भोजन बना रहा था, अचानक सूर्योदय हुआ। चिक के पास मुझे माया दिखाई दी। वह आम चूस रही थी। आम मधुर था, उससे हज़ार-गुना माधुर्य माया की मुस्कान में था। होठों में ऐसी माधुरी रखकर भी माया न-जाने-क्यों आम चूस रही थी?

माया ने आम चूसकर उसके छिलके दूर फेंक दिये। वह जानती थी, यदि उसके जूठे आम का एक छिलका भी मेरी रसोई में गिर जाय,

तो वह अपवित्र हो जायगी। मैं समझता था, कि यदि उसका एक भी जूठा छिलका मेरी रसोई में गिर जाय, तो वह पवित्र हो जायगी।

माया गुठली चूस रही थी। अचानक गुठली उसके मुँह से फ़िसल गई। माया को एकाएक यह ध्यान हुआ कि वह गुठली मेरी रसोई में गिरेगी। वह उसको संम्हालने को बढ़ी। गुठली गिरी, उसी के साथ माया भी! माया की असावधानी से गुठली गिरी, और विश्व की असावधानी से माया। संसार! क्या माया अब तेरे किसी काम की न थी? उस कलिका का अभी विकास कहाँ हुआ था मूढ़!

गुठली और माया मेरे समीप कठोर भूमि पर गिर पड़े। मेरे ऊपर वज्र गिर पड़ा। मैंने देखा—माया मूर्छित हो गयी थी।

क्षण-भर में-ही उसके माता-पिता वहाँ दौड़े आये। पङ्खा करने पर माया ने आँखें खोलीं। सब के प्राण-में-प्राण आये। माया ने अधर खोले। मुझे जीवन मिला। अधरों में कम्पन हुआ। माया ने कहा—"गुठली जूठी नहीं थी।"

इसके वाद माया ने होठ बन्द कर लिये, आँखें बन्द कर लीं। फिर माया कुछ न बोली। उसके वह स्वर अन्तिम हुए। माया सदा को चली गयी।

चारों ओर से 'गुठली जूठी नहीं थी' यही प्रतिध्वनित हो रहा था। जड़-जीव एक-एक कर, मुझसे कहने लगे—"गुठली जूठी नहीं है।" सारा संसार एक स्वर से कहने लगा—"गुठली जूठी नहीं है।"

माया फिर कहीं नहीं दिखाई दी। बहुत दिन तक उसकी खोज में इधर-उधर पागलों की तरह घूमता रहा, कहीं उसका कोई निशान नहीं मिला।

संसार में जब मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं रहा, तो मैं उसको त्यागकर निर्जन बन में रहने लगा। माया की वह जूठी गुठली मेरी एक-

मात्र संगिनी थी। मैंने माया के पाने की चेष्टा की, नहीं मिली। शान्ति खोजी, वह भी नहीं मिली।

एक दिन श्याम मेघ आकाश से वारि-सिंचन कर रहे थे। मैंने अपना समस्त मोह त्यागकर वह गुठली ज़मीन में बो दी। कुछ दिन बाद अंकुर निकल आया। मैंने अनवरत परिश्रम कर, उस अंकुर की रक्षा की। कुछ दिन में वह अंकुर एक विशाल वृक्ष में परिणत हो गया।

अचानक एक मधु-वसन्त में उसमें बौर निकल आये। उस समय मैंने देखा—मानों माया अपने हास्य को लेकर आ गई है। कोकिला उसमें विश्राम कर, कूकने लगी—मानों वही माया का स्वर था। प्रत्येक बौर में आम निकल आये—मानों माया कहने लगी, "आम जूठा नहीं है।"

उसी वृक्ष के नीचे अब मेरी कुटी है। उस वृक्ष के ऊपर मैंने पक्षियों को घोंसला बनाने तथा आराम करने की आज्ञा दे रक्खी है। नीचे छाया में प्रत्येक ताप-तप्त बटोही से कुछ देर आराम करने का अनुरोध करता हूँ।

हर साल आम की फ़सल में प्रत्येक पथिक को एक-एक आम देता हूँ। जिस समय वे उसे खाते हैं, तो समझता हूँ, "आम जूठा नहीं है।"

साल में एक बार आम्र-मञ्जरियों की आड़ से झाँककर माया मुझे दर्शन देती है। मैं उससे कहता हूँ—"माया!"

वह लज्जित हो जाती है, और पत्तों के घूँघट को अधिक खींच लेती है। मैं कहता हूँ—"क्यों माया, इतनी लज्जा क्यों?"

वह कहती है—"अब मेरा विवाह हो गया।"

मिलन-मुहूर्त

वासवदत्ता का सौन्दर्य, पूर्ण चन्द्र से भी अधिक पूर्ण था। उसकी देह कमल से भी अधिक कोमल थी। उसकी वाणी वीणा का तिरस्कार करती थी। उसकी लाज-भरी आँखें हरिणी को लजा सकती थीं। स्वर्ग के सौन्दर्य्य ने अपनी रुचि के अनुसार, अपने ही कोमल हाथों से उस सजीव स्वर्ण-प्रतिमा को निर्मित किया था। ऐसी भुवनमोहिनी शोभा—ऐसी रुचिर रूप-राशि देकर भी क्या विधाता को उसे वेश्या बनाना उचित था? कीचड़ में कमल और काँटों में फूल खिलानेवाला ही जाने।

उस दिन बाल-वसन्त के सुषमापूर्ण प्रभात में, जब कोयल के करुण गान को छाती से लगाए मलय-सुरभि अपने मन से बह रही थी, एक श्रमण वासवदत्ता की सुविशाल अट्टालिका के द्वार पर भिक्षा के लिए आ खड़ा हुआ। अचानक वासवदत्ता की दृष्टि उस बौद्ध भिक्षु के ऊपर पड़ी। उसने उसे एक बार देखा; सौ बार देखा—देखती रही।

उसका नाम उपगुप्त था। सांसारिक दृष्टि से वह भिखारी था, किन्तु स्वर्गीय दृष्टि से वही राजराजेश्वर था। मन से बढ़कर श्रेष्ठ और सुविस्तृत राज्य कोई नहीं है। उपगुप्त ने अपने उसी मन के ऊपर विजय प्राप्त की थी। वह राजराजेश्वर था, समस्त इन्द्रियाँ उसकी प्रजा थीं।

विश्व की चञ्चलता और अशान्ति का उसे पूरा पता था, उसकी आँखें अचंचल और शान्त थीं। स्वर्गीय दिव्य आभा से उसका मुख-मंडल भासमान था। काषाय वस्त्र उसे अपूर्व शोभा प्रदान कर रहे थे।

संसार को अपने सौन्दर्य्य से पराजित करनेवाली वासवदत्ता उस भिक्षु के समीप हार गई, उसके सौन्दर्य्य पर मुग्ध हो गई। उसका कौषेय अंचल खिसक पड़ा, कवरी शिथिल हो गई; उसमें ग्रथित पुष्पराशि मुक्त होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी!

उसने उपगुप्त के समीप आकर कहा—"भिक्षु, भिक्षा-पात्र आगे बढ़ाओ।"

भिक्षा-पात्र आगे बढ़ाकर हठात् उपगुप्त ने आश्चर्य्य से कहा—"किन्तु तुम्हारे दोनों हाथ रिक्त हैं, यह मुझे क्या दे सकेंगे?"

वासवदत्ता—"यह तुम्हें वह वस्तु देंगे, जो तुम्हें इस संसार में कहीं नहीं मिली, तथा जो इन हाथों ने आज तक किसी और को प्रदान नहीं की।"

उपगुप्त—"अर्थात्?"

वासवदत्ता—"ये हाथ रिक्त नहीं हैं।"

उपगुप्त—"मैं इन स्वर्णाभूषणों से क्या करूँगा!"

वासवदत्ता—"मैं इन स्वर्णाभूषणों की बात नहीं कहती। अबोध युवक! ये हाथ रिक्त नहीं हैं। ये प्रेम के आलिंगन से परिपूर्ण हैं। मैं वही आलिंगन तुम्हें दूँगी। कल्पना करो भिक्षु, जिस वासवदत्ता की

छाया-स्पर्श के लिए बड़े-बड़े राजराजेश्वर व्याकुल रहते हैं, वह तुम्हें प्रेम का आलिंगन देगी।"

उपगुप्त के मुख के भावों में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। वासवदत्ता ने फिर कहा—"भिक्षा-पात्र आगे बढ़ाओ। मैं तुम्हें भिक्षा में अपना हृदय दूँगी।"

उपगुप्त ने पूछा—"इसका अर्थ?"

वासवदत्ता—"इसका अर्थ यही है कि, यह तुम्हारी सुकुमार देह भिक्षा-वृत्ति के लिए नहीं है। यह अनुपम सौन्दर्य्य-सुमन संसार के स्पर्श से दूर वन-पथ में मुरझाने के लिए नहीं है। आओ भिक्षु, मेरे सदन में आओ। मैं विश्व की स्वामिनी हूँ, तुम्हारी दासी बनूँगी।

उपगुप्त के वासना के प्रभाव से मुक्त मुख-मण्डल में हँसी की एक क्षीण रेखा दिखाई दी। वह चुप रहा।

वासवदत्ता ने विकल होकर कहा—"उत्तर दो भिक्षु।"

उपगुप्त ने उत्तर दिया—"किन्तु कई कारणों से अभी समय नहीं है।"

वासवदत्ता—"तो कब?"

उपगुप्त—"फिर कुछ दिन बाद आऊँगा।"

"फिर कुछ दिन बाद आऊँगा," वासवदत्ता मन-ही-मन सोचने लगी—"रमणी के रूप का यह अपमान! एक सामान्य भिक्षु उसके सौन्दर्य्य का तिरस्कार कर सका! देखा जायगा। मैं उस दिन की प्रतीक्षा करूँगी।"

उपगुप्त द्रुत गति से सङ्घ की ओर चला गया। वासवदत्ता सुवर्ण-मूर्ति की तरह उसे नीरव-निश्चल होकर देखती रही।

२

अपने छोटे से जीवन की एक झलक दिखाकर सन्ध्या तीव्र गति से

चली गई थी। शारदीय शुभ्राकाश की प्राची में उदयोन्मुख चन्द्रमा की किरणें रूपोज्ज्वल चाँदनी बिछा रही थीं !

एक सघन वन के चरणों को धोती हुई कलरव-रव-रता गंगा बह रही थी। दिन-भर के भिक्षा-भार से मुक्त उपगुप्त उस वन से होकर अपने मठ को लौट रहा था।

उस भयंकर हिंस्र पशु, सिंह के ऊपर करुणा के अवतार भगवान् बुद्ध के उपदेश का कुछ भी असर नहीं हुआ। उसकी राक्षसी प्रवृत्ति परिवर्तित नहीं हुई। उपगुप्त को आते देखकर सिंह बड़े वेग से उसके ऊपर झपटने को तैयार हुआ। भिक्षु ने यह देखकर अपना मस्तक झुका दिया।

एक ओर सिंह उपगुप्त को भक्षण करने के लिए तैयार है, दूसरी ओर उपगुप्त सिंह के लिए भोजन बनकर खड़ा है !

पास ही एक घनी झाड़ी थी, घनी झाड़ी के हृदय में एक छिद्र था। वसन्त की पूर्ण प्रतुलता में यथा-शक्ति प्रयास करने से भी पत्तियाँ उसे भर नहीं सकी थीं ! उस छिद्र से एक व्याध ने वह भयानक दृश्य देख लिया।

ज्योंही सिंह भिक्षु के ऊपर झपटने को हुआ, त्योंही व्याध ने अपने धनुष में तीर चढ़ा लिया और सामने की झाड़ी का वक्ष विदीर्ण कर, सिंह को धराशायी कर दिया।

उपगुप्त ने चकित होकर चारों ओर देखा। अपने कार्य्य की सफलता पर मुस्कराता हुआ धनुषधारी व्याध उसकी ओर आ रहा था।

भिक्षु ने दुःख-भरे शब्दों में व्याध से, कहा—"हाय! तुमने यह क्या किया ? सिंह ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था ? अकारण निरपराध की हत्या क्यों की ?"

व्याध ने मन-ही-मन सोचा—"सिंह और निरपराध ?"

अपने दयाहीन कठोर जीवन में व्याध ने पहले-पहल यहीं पर करुणादेवी के दर्शन किए। वह चित्रांकित मूर्ति की तरह कुछ देर खड़ा रहा। उपगुप्त ने करुणा से परिप्लावित दृष्टि उसके ऊपर निक्षेप की। आँखों ने देखा, हृदय ने हृदय का सन्देश समझ लिया।

व्याध के दोनों हाथ हिले। उसने कंधे से तूणीर निकालकर गङ्गा के वक्ष में फेंक दिया—उसकी निर्दयता गङ्गा में डूब गई। अपने बलिष्ठ हाथों से धनुष को दो टूक कर, पृथ्वी पर पटक दिया—उसकी कठोरता अन्तिम साँस लेने लगी। इसके बाद व्याध ने भिक्षु के चरणों में गिरकर कहा—"देव! यह मेरी अन्तिम हत्या है!"

उपगुप्त ने प्रसन्न मुख से आशीर्वाद दिया। व्याध अपने नवीन संसार में प्रवेश करने के लिये चला गया। करुणा उसकी पथ-प्रदर्शिका बनी।

दयार्द्र उपगुप्त ने भूमिशायी सिंह की ओर देखा—उसकी छाती में बुरी तरह से तीर घुसा हुआ था। भिक्षु उसे बड़ी कठिनता से गङ्गा-तट की ओर ले गया, और वहाँ जाकर उसका घाव धोने लगा।

गङ्गा के चञ्चल हृदय में दसों दिशाओं में गीति-सुधा की वृष्टि करती हुए एक नाव जा रही थी। शरद् की निर्मल चाँदनी अच्छी तरह से खिल गई थी। वन-प्रान्त और गङ्गा की लहरों में अपूर्व शोभा अङ्कित हो रही थी।

उपगुप्त अपने कार्य में प्रवृत्त हुआ। सिंह के जीवन की आशा बहुत कम थी, किन्तु भिक्षु दत्त-चित्त हुआ, अपना कार्य कर रहा था।

नाव उसी ओर आने लगी। गान के स्वर अब उपगुप्त को स्पष्ट सुनाई देने लगे। उसने देखा—नाव में और कोई नहीं, वही मुक्तकुन्तला रूपसी वासवदत्ता शरद्चन्द्र से आँख लड़ाती हुई, गा रही थी।

भिक्षु ने सिंह की छाती का तीर बाहर निकालने को हाथ बढ़ाया, अचानक गान रुक गया। नाव भिक्षु के समीप आ लगी।

नाव में से वासवदत्ता चकित होकर चिल्लाई—"भिक्षु, यह क्या करते हो? क्या तुम्हें मालूम नहीं, जीवन-लाभ कर, यह भयङ्कर हिंस्र पशु अपने जीवन-दाता को नहीं पहचान सकेगा?—यह तुम्हारा सर्वनाश कर डालेगा?"

उपगुप्त ने कहा—"रमणी तुम भूल रही हो। यह उन हिंस्र पशुओं से अधिक भयङ्कर नहीं है, जिनका वाह्य सुन्दर है। यह उस सुन्दर रूप से अधिक भयंङ्कर नहीं है, जिसकी ओट से मनुष्य का शत्रु, काम उसका वध करने के लिये कान तक प्रत्यञ्चा खींचे खड़ा है। यह उस सुन्दर मोह से अधिक भयानक नहीं है, जिसने अपने बन्धन से मनुष्य को बन्दी बना रक्खा है। यह हाथ में स्वर्ण-मुकुट लिये हुए छाया के समान निस्सार लोभ-लालसा से अधिक भीषण नहीं है, जिसके पीछे मनुष्य अपने ध्येय-धर्म को भूलकर अनन्त जन्म और जगतों में फिर रहा है।"

वासवदत्ता कुछ न समझ सकी। प्रेम से अधीर होकर उसने कहा—"भिक्षु, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करती रह गई, तुम नहीं आये। क्या भूल गये थे?"

"नहीं, भूला नहीं। मैं आऊँगा, कुछ दिन बाद आऊँगा।"

"आज-ही चलो भिक्षु! इससे अधिक सुन्दर अवसर फिर कब आवेगा! आज चन्द्रमा संसार को आलोकित कर रहा है। तुम मेरे गृह का अन्धकार दूर करो!"

"ठहरो।" कहकर भिक्षु धीरे-धीरे सिंह की छाती से तीर निकालने लगा।

वासवदत्ता ने कहा—"तुमने अपने सौन्दर्य के तीर से मुझे आहत किया है, पहले मुझे प्राण-दान दो।"

"धीरज रक्खो सुन्दरी ! मैं अवश्य आऊँगा ।"

"कब आओगे ?—जब तुम्हारी प्रतीक्षा करते-करते मेरे नेत्रों की ज्योति चली जायगी ? दिन गिनते-गिनते जब समय मुझसे मेरा यौवन छीन लेगा ?"

उपगुप्त ने उसकी ओर देखकर सोचा—"हैं, यह क्या ! इतना ज्ञान होने पर भी यह गड्ढे में गिर रही है !"

वासवदत्ता ने फिर कहा—"कब आओगे ?"

"इसी जीवन में ।"

"इसी जीवन में ? वह बहुत बड़ी अवधि है ।"

"तो फिर ?"

"इसी क्षण कहो ।"

"नहीं ।"

"इसी मास ?"

"इसी वर्ष आऊँगा; इसे सत्य समझो ।"

"मैं अपनी अँगुलियों पर दिन और श्वास में क्षण गिनूँगी ।"

वासवदत्ता चली गई । उपगुप्त मृतप्राय: सिंह के हृदय से तीर निकालने में प्रवृत्त हुआ ।

३

शरद् गया, शिशिर गया, हेमन्त गया, किन्तु उपगुप्त नहीं आया । वासवदत्ता ने कई बार अश्रु-पूर्ण प्रतीक्षा की, किन्तु वह नहीं आया । उसने अनेक बार शृङ्गार किया, सब व्यर्थ हुआ ।

सुमन, सुगन्धि और संजीवनी को लेकर अन्त में वसन्त-ऋतु आई, फिर भी वह न आया । देखते-देखते अवधि भी बीतने को आई, पर

उपगुप्त नहीं आया। वासवदत्ता अतृप्त-अश्रांत आँखों से उस कभी न आनेवाले को देखती रही। सब आए; जो नहीं आया, वह एक उपगुप्त था!

अवधि के बीतने में दो ही महीने रहे। एक महीना रहा। संसार के पांथ-निवास में ठहरा हुआ पथिक, 'वर्ष' जाने की तैयारी करने लगा। उसने शिशिर का कम्बल कन्धे पर डाल लिया था, हेमन्त का बिस्तर बाँध लिया था, बसन्त के पुष्प-वस्त्र सँभाल लिये थे, ग्रीष्म का छाता हाथ में, जूता पांव में ले लिया था, वर्षा का रिक्त लोटा और डोर भी ले लिया था, उसने अपनी अन्तिम वस्तु शरद् की चाँदनी को समेटने के लिये हाथ बढ़ाया, त्यों-ही वासवदत्ता ने विकल होकर कहा—"क्या सच मेरा प्रियतम इस साल नहीं आवेगा?"

रात्रि का समय था। समस्त पृथ्वी अन्धकार से डूबी हुई थी। वासवदत्ता का महल सहस्रों आलोक-मालाओं से जगमगा रहा था। ज्योति की किरण उसके स्वर्णाभूषणों में प्रतिफलित होकर उसके विलास-कक्ष को अपूर्व शोभा दे रही थी। असंख्य दीप-तारिकाओं के सुमन थे, जिनके बीच में वासवदत्ता का मुख चन्द्रमा बनकर शोभित था।

उस दिन वासवदत्ता के यहाँ उत्सव था। वह [illegible] [illegible] प्रेमी एक लक्षपति के स्वागतार्थ रचा गया था। एक ओर से सङ्गीत की, दूसरी ओर से सुरा की धारायें बह रही थीं। बीच में अभागा लक्षपति डूबा जा रहा था!

अर्द्धरात्रि के व्यतीत होने से पहिले ही लक्षपति सुरा के प्रभाव से पूर्ण अचेत हो गया। उसे अपनी-पराई किसी की सुधि न रही। संगीत बन्द हुआ। दासी, परिचारिका-आदि सब बिदा हो गए। कक्ष में लक्षपति और वासवदत्ता के सिवा और कोई नहीं रहा। नहीं, नहीं,

एक और पिशाचिनी बैठी हुई थी। वह कौन थी ? वेश्या वासवदत्ता की परिछाया।

वासवदत्ता ने चारों ओर देखकर अपने सिरहाने से एक कटार निकाली। रात्रि के समय एक वेश्या के हाथ में कटार ! यह क्या करना चाहती है ? जो मुखचन्द्र संगीत सुधा की वर्षा करता है, क्या वह वज्र भी गिरा सकता है ?

वह उस अचेत लक्षपति का वध करने को बढ़ी। उसका कटार-युक्त हाथ आकाश की ओर उठा, मानों उसने कहा—"सावधान ! ऊपर ईश्वर है, उसका भय कर !" पापीयसी उस मूक हाथ के संकेत को न समझ सकी। उसने वह कटार लक्षपति की छाती में भोंक दी। लक्षपति ने चीत्कार छोड़ी। उसके अन्तिम शब्द थे—"हाय ! छलनामयी पिशाचिनी !

रूपवती राक्षसी—सुकुमार पिशाचिनी—अपनी विजय पर प्रसन्न हुई ! इसी समय बाहर से किसी ने करुण कण्ठ से पुकारा—"वासवदत्ता !"

कंपित वासवदत्ता ने गवाक्ष-द्वार मुक्त कर, कहा—"कौन ?" उत्तर की आवश्यकता नहीं रही। गवाक्ष-द्वार से कक्ष का आलोक उस व्यक्ति के मुखमण्डल पर पड़ा—वह श्रमण उपगुप्त था।

वासवदत्ता ने हर्ष से कहा—"भिक्षु, तुम आगए ?"

उपगुप्त—"नहीं, किन्तु शीघ्र ही आऊँगा !"

वासवदत्ता—"फिर, इस कुसमय में आने का कारण ?"

उपगुप्त—"कुछ नहीं, मैं अपने बिहार को जा रहा था। यहाँ पर मुझे तुम्हारी याद आई। मैं यह जानने को उत्कंठित हुआ कि तुम सो रही हो, या जाग रही हो।"

वासवदत्ता—"मैं जाग रही हूँ।"

उपगुप्त—"पर तुम्हारी दोनों आँखें बन्द हैं। अच्छा जाता हूँ, आज मुझे बहुत विलम्ब हो गया है।"

वासवदत्ता—"ठहरो, तुम्हे अपनी प्रतिज्ञा याद है?"

उपगुप्त—"हाँ।"

वासवदत्ता—"तुमने इस वर्ष के भीतर ही मुझसे मिलने का वचन दिया है?"

उपगुप्त—"अभी वर्ष में कितने दिन शेष हैं?"

वासवदत्ता—"केवल एक पक्ष।"

उपगुप्त—"मैं अवश्य उसके भीतर ही आऊँगा।"

वासवदत्ता—"तुम झूठ बोल रहे हो, मुझसे छल कर रहे हो।"

उपगुप्त—"अमिताभ का शिष्य झूठ नहीं बोलता, छल-कपट उसका धर्म नहीं है।"

उपगुप्त रजनी के अन्धकार में मिलकर अदृश्य हो गया। वासवदत्ता गवाक्ष-द्वार बन्द कर, छिप गई।

४

वासवदत्ता ने धन के लिए लक्षपति का वध किया था। भेद खुल गया। वह न्यायालय में विचार के लिए उपस्थित की गई।

उसका धन उसके काम नहीं आया, उसके प्रेमी उसके काम नहीं आये, उसका अनुपम सौन्दर्य भी उसको दण्ड से मुक्त नहीं कर सका।

हतभागिनी को न्यायालय से शूली का दण्ड नहीं मिला। प्राणदण्ड उसके अशांत जीवन के लिए शान्ति थी। वह दंड न था, आशीर्वाद था।

उसका रूप कुरूप किया गया। उसके चन्द्रवदन की आँखें निकाल ली गईं, नाक-कान काट दिये गए, उसके मृणाल-कर छिन्न किये गये, उसकी धन-सम्पत्ति सब छीन ली गई।

जिस समय वासवदत्ता को यह भीषण दण्ड मिला, उस समय उसने बड़े करुण स्वर से प्रार्थना की—"मैं एक सप्ताह का समय चाहती हूँ। मुझे अपने एक प्रेमी से मिलना है। वह इस सप्ताह के भीतर आ जावेगा। उसके बाद मैं अत्यन्त प्रसन्नता से घातक के हाथ और न्याय की तलवार को अपनी देह सौंप दूँगी।"

किसी ने उसकी विनय को स्वीकार नहीं किया। घातक ने वासवदत्ता को कुरूप और कुत्सित कर, राज-पथ में छोड़ दिया! एक मनुष्य उसके साथ किया गया, जो उच्च स्वर से समस्त प्रजा को उसके पाप की कथा सुनाता था।

कितना भयानक और वीभत्स दृश्य था! उसके क्षतों से रक्त और पीप बहता था, जिसमें मक्खियाँ भनभना रही थीं, हाथों से हीन होने के कारण अभागिनी उनको उड़ा भी नहीं सकती थी। वह करुण शब्दों से केवल रुदन कर रही थी।

आज से पहले जो उसके सौन्दर्य्य के उपासक थे, वे उससे घृणा करने लगे, दूर ही से वह देखकर भाग जाते थे। सब कोई उसके ऊपर थूक रहे थे। पथ का एक भिक्षुक, लूला, लँगड़ा, कुष्ठ-रोगी भी उसके स्पर्श से बचने का प्रयास कर रहा था।

जब उसके पास विश्व को आकर्षित करनेवाला रूप नहीं रहा, यौवन नहीं रहा, धन नहीं रहा, जब समस्त संसार उससे घृणा कर रहा था, वह जीव-मात्र की समवेदना से दूर थी, ऐसे दुर्दिन में उपगुप्त ने आकर उसके मस्तक पर अपना हाथ रक्खा।

वासवदत्ता ने चकित होकर पुकारा—"कौन?"

उपगुप्त ने उत्तर दिया—"मैं हूँ।"

वासवदत्ता, कण्ठ-स्वर कुछ पहचान गई। अपना भ्रम मिटाने को उसने पूछा—"कौन, तुम उपगुप्त हो?"

उपगुप्त—"हाँ मैं उपगुप्त ही हूँ।"

वासवदत्ता ने दीर्घ श्वास छोड़कर कहा—"लौट जाओ, तुम किस लिए आए? क्या तुम मेरा उपहास करने आए हो?"

उपगुप्त—"तुम मुझसे लौट जाने को कहती हो! मैं तुम्हारे ही कहने के अनुसार तुम्हारे पास आया हूँ। मेरे आने में विलम्ब नहीं हुआ है, अभी वर्ष पूरा होने में दो दिन शेष हैं।"

वासवदत्ता ने निराशा के स्वर में कहा—"हाय! जब मेरी देह वसन्त की सुरभि से सौरभवती थी, तब तुम न आये। जब मेरी शोभा का चन्द्रमा पृथ्वी के ऊपर सुधा की वृष्टि कर रहा था, तब तुम न आए। जब घातक मेरे यौवन का अन्त करने के लिए प्रस्तर-खण्ड पर अपना शस्त्र तेज कर रहा था, तब भी तुम न आये। भिक्षु, क्या इतने अबोध हो! मेरे सौन्दर्य्य का दीपक बुझ गया है, मेरी शोभा का सूर्य्य अस्त हो गया है! ऐसे समय तुम किसलिए आए?"

उपगुप्त—"भगिनी! मैं इन्द्रिय-सुख अथवा और किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर तुम्हारे पास नहीं आया हूँ। शारीरिक सौन्दर्य्य व्यर्थ है, तुम्हारा यह शरीर इसकी साक्षी देगा। धन भी निस्सार है, तुम्हारा अतुल ऐश्वर्य इसका उत्तर देगा। मैं तुम्हारे पास आया हूँ। कहो तुम्हें क्या कहना है?"

वासवदत्ता की आँखें खुल गईं। उसने कहा—"मैं क्या कहूँ भिक्षु! तुम्हारे इस प्रश्न ने मेरे उत्तर को छीन लिया है। मुझे ज्ञात हो रहा है, जैसे मैं एक स्वप्न, एक छाया और एक मरीचिका के पीछे दौड़ रही थी। मुझे कुछ नहीं कहना है। तुम मेरे समीप कुछ देर खड़े रहो। तुम्हारे

स्पर्श से मेरी यातना कम हो रही है, तुम्हारे वचनो से मेरा सन्ताप दूर हो रहा है। भिक्षु-श्रेष्ठ, तुम ही कुछ कहो।"

उपगुप्त—"संसार के दुःखों की जड़ तृष्णा है, तुम इसी तृष्णा की दासी होकर भटकती रहीं। तुमने काम के हाथ अपना धर्म बेच दिया, तुमने धन के लिए अपने प्रेमी लक्षपति की हत्या की। आज इस दुःख के समय तुम्हारे काम कोई नहीं आया।"

वासवदत्ता—"हाय! भिक्षु, तुमने इससे पहले आकर मुझे ठोकर खाने से क्यों नहीं बचाया? तुम आए, किन्तु बड़ी देर में आए"

उपगुप्त—"कुछ विलम्ब नहीं हुआ है, अभी बहुत समय है। तुम इस समय बाह्य नेत्रों से हीन हो, किन्तु तुम्हारे अन्तर-नेत्र खुल गये हैं। उठो, भगवान् बोधिसत्व का हाथ पकड़ो। वे तुम्हारे दुःख दूर करेंगे। तुम्हें मुक्त करेंगे।"

वासवदत्ता के मरु-संसार में आकाश-मार्ग से सुधाबिन्दु बरस गया। उसकी सात्विक प्रकृति जाग उठी, उसे संसार की क्षण-भंगुरता का बोध हुआ; बोध ही नहीं, अनुभव भी हुआ। उसने भिक्षु के चरणों में अपना मस्तक रखकर कहा—"मैं प्रस्तुत हूँ। मुझे ले जाओ, मेरा अंचल पकड़कर मुझे शान्ति के राज्य में ले जाओ।"

भिक्षु ने अपने पवित्र करों से उसका स्पर्श किया। दोनों संघ की ओर चले।

पाप-ताप से विदग्धा वासवदत्ता ने प्रायश्चित्त की सुरसरि में स्नान किया, प्रव्रज्या ग्रहण कर, अपने शेष जीवन में शान्ति पाई।

श्री सुदर्शन

जन्मकाल रचनाकाल
१८९५ ई० १९२० ई०

कवि की स्त्री

सत्यवान—

छात्रावस्था में मैं और मणिराम साथ-ही-साथ पढ़ते थे। उस समय हम एक-दूसरे पर प्राण देते थे। वे बचपन के दिन थे। जब तक एक-दूसरे को देख न लेते, शान्ति न मिलती। उस समय हमें बुद्धि न थी। पीछे से प्रेम का स्थान बैर ने ले लिया था, दोनों एक-दूसरे के लहू के प्यासे हो गये थे। तब हम शिक्षित हो चुके थे। एफ्० ए० की परीक्षा पास करने के पश्चात् हमारे रास्ते अलग-अलग हो गये। मणिराम मेडिकल कॉलिज में भर्ती हो गये। मैंने साहित्य-संसार में पाँव रक्खा। मुझे रुपये-पैसे की परवाह न थी, पूर्वजों की सम्पत्ति ने इस ओर से निश्चिन्त कर दिया था। दिन-रात कविता के रस में लवलीन रहता। कई-कई दिन घर से बाहर न निकलता। इन दिनों मेरे सिर पर यही धुन सवार रहती थी। एक-एक पद पर घण्टों खर्च हो जाते थे। अपनी रचना को देखकर मैं गर्व से झूमने लग जाता था। कभी-कभी मुझे अपनी कविता

में तुलसीदास की उपमा और सूरदास के रूपकों का स्वाद आता था। जब मेरी कवितायें पत्रों में निकलने लगीं, तब मेरा कवित्व का मद उतरने लगा। मद उतर गया, परन्तु उसका नशा न गया। वह नशा प्रख्याति, कीर्ति और यश का नशा था। थोड़े ही वर्षों में मेरा नाम हिन्दी-संसार में प्रसिद्ध हो गया। मैं अब कुछ काम न करता था। केवल बड़े-बड़े लोगों को पार्टियाँ दिया करता था। अब इसके बिना मुझे चैन न मिलती थी। कविता में इतना मन न लगता था। पहले मेरा सारा समय इसी की भेंट होता था, पर अब वह जी-बहलावे की चीज़ हो गई थी। परन्तु जब कभी कुछ लिखता, तब रङ्ग बाँध देता था। तुच्छ-से-तुच्छ विषय को भी लेता तो उसमें भी जान डाल देता था।

उधर मणिराम चिकित्सा के ग्रन्थों के साथ सिर फोड़ता रहा। पाँच वर्ष बाद एसिस्टेण्ट-सर्जरी की परीक्षा पास करके उसने अपनी दूकान खोल ली। परीक्षा का परिणाम निकलने के समय उसका नाम एक बार समाचार-पत्र में निकला था। इसके पश्चात् फिर कभी उसका नाम पत्रों में नहीं छपा। इधर मेरी प्रशंसा में प्रति दिन समाचार-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते। वह दूकान पर सारा दिन बैठा रोगियों की बाट देखता रहता था। परन्तु उसका नाम कौन जानता था? लोग जाते हुए झिझकते थे। मैं उसकी ओर देखता तो घृणा से मुँह फेर लेता—जिस प्रकार मोटर में चढ़ा हुआ मनुष्य पैदल जानेवालों को घृणा से देखता है।

२

एक दिन एक पत्र आया। उसमें मेरी कवित्व-कला की बहुत ही प्रशंसा की गई थी। मेरा अस्तित्व देश और जाति के लिए सम्मान और गौरव का हेतु बताया गया था। मेरे पास ऐसे पत्र प्रायः आया करते थे।

यह कोई नई बात न थी। कभी-कभी तो ऐसे पत्रों को देखकर झुँझला उठता था। हम पुरुषों की ओर से उपेक्षा कर सकते हैं, परन्तु किसी कोमलाङ्गी के साथ यह व्यवहार करने को जी नहीं चाहता। और यह भी किसी साधारण स्त्री की ओर से नहीं था। इसकी लेखिका देहरादून के प्रसिद्ध रईस ठाकुर हृदयनारायण की शिक्षिता लड़की सावित्री थी, जिसने इसी वर्ष बी० ए० की परीक्षा पास की थी। जिसके सम्बन्ध में समाचार-पत्रों में कई लेख निकले थे, परन्तु मैंने उन्हें पढ़ने की आवश्यकता न समझी थी। इस पत्र ने सब-कुछ याद करा दिया। मैंने उसी समय लेखनी पकड़ी, और जवाब लिखने बैठ गया। परन्तु हाथ जवाब दे रहे थे। ऐसी लगन से कोई विद्यार्थी अपनी परीक्षा के पर्चे भी न लिखता होगा। एक-एक शब्द पर रुकता था, और नये-नये शब्द ढूँढ़कर नये-नये विचार लेखनी के अर्पण कराता जाता था। मैंने सावित्री और उसकी विद्वत्ता की प्रशंसा में कोष के सम्पूर्ण सुन्दर शब्द समाप्त कर दिये। अपनी तुच्छता को भी अङ्गीकार किया—"आप मेरी प्रशंसा करती हैं, यह आपका बड़प्पन है, अन्यथा मेरी कविता में धरा ही क्या है! न कल्पना में सौन्दर्य्य है, न शब्दों में मिठास। रसिकता कविता का प्रधान अङ्ग है, वह मेरी कविता से कोसों दूर है। हम कवि बन बैठते हैं, परन्तु कवि बनना आसान नहीं। इसके लिए देखनेवाली आँखें और सुननेवाले कान दोनों की आवश्यकता है,"—इत्यादि। कहने की आवश्यकता न होगी कि अपनी प्रशंसा करने का यह एक सभ्य ढङ्ग है।

कुछ दिन पश्चात् इस पत्र का उत्तर आया—"यह जो कुछ आपने लिखा है, आप-जैसे महापुरुषों के योग्य ही है, अन्यथा मैं तो आपको टेनिसन और वर्डसवर्थ से बढ़कर समझती हूँ। आप कहते हैं कि आपकी कविता रस-हीन है। होगी। परन्तु, मुझ पर तो वह जादू का काम करती

है। घण्टों रस-सागर में डुबकियाँ लगाती हूँ। खाना-पीना भूल जाती हूँ। जी चाहता है, आप की लेखनी चूम लूँ।"

यह पत्र शराब की दूसरी बोतल थी। अन्तिम वाक्य ने हृदय में आग लगा दी। मैंने फिर उत्तर दिया, और पत्र में हृदय खोलकर रख दिया। कवि अपने चाहनेवालों को आकाश में चढ़ा देते हैं। मैंने भी सावित्री की प्रशंसा में आकाश-पाताल एक कर दिया। लिखा—कारलाइल का कथन है कि कवि केवल वही नहीं, जो कविता कर सकता है, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति जो कविता समझ सकता है, और उसके मर्म तक पहुँच सकता है, कवि है। इस रूप में तुम भी कवि हो। मैंने अच्छे-अच्छों को देखा है, कविता के महत्व को नहीं समझ सकते। परन्तु तुम तो बाल की खाल निकालती हो। तुम्हारी योग्यता पर मुझे आश्चर्य्य होता है। धन्य है भारत-भूमि, जिसमें तुम-जैसी देवियाँ खेलती हैं।

मैंने सेकड़ों उपन्यास पढ़े थे, अच्छी से-अच्छी कवितायें देखी थीं, परन्तु जो रस, जो स्वाद सावित्री के पत्र में था, वह किसी में न पाया। यही जी चाहता था कि उन्हीं को पढ़ता रहूँ।

३

सावित्री—

निस्सन्देह वे मुझे चाहते हैं, अन्यथा इस प्रकार तुरन्त ही उत्तर-प्रत्युत्तर न देते। आज पत्र लिखती हूँ, तीसरे दिन उत्तर आ जाता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों मेरे पत्र की राह देख रहे थे। उनके पत्र उनके कवित्व से अधिक सरस हैं। पढ़कर चित्त प्रसन्न हो जाता है। और कभी-कभी तो ऐसी चुटकी लेते हैं कि मन अधीर हो उठता है। मैंने चित्र माँग भेजा था। उत्तर देते हैं—"तुमने लिखा है कि चित्र

भेज रही हूँ, परन्तु मुझे आज तक नहीं मिला। रजिस्ट्री की रसीद तो भेज दो, डाकखाने पर नालिश कर दूँ, बरबस मुझे अपना चित्र भेजना पड़ा, उत्तर में उनका चित्र आ गया। मेरा विचार सच्चा निकला। कैसे रसीले हैं! मुख पर राजकुमारों-जैसा लावण्य झलकता है। मेरे हृदय को पहले ही चैन न था, चित्र ने रहा-सहा भी छीन लिया। रात को नींद नहीं आती। उनकी अन्तिम कविता ने उनका हृदय मुझपर खोल दिया है। 'प्रियतम से' कैसा प्यारा शीर्षक है! अक्षर-अक्षर से प्रेम टपकता है। इससे पहिली कविता 'पाती निहारकर' भी मुझपर ही लिखी गई थी। लिखती हूँ, तुम मुझे कलङ्कित करके छोड़ोगे। यह तो कहो, तुम मेरे पीछे पल्ले झाड़कर क्यों पड़ गए हो? एक और कविता 'एकान्त में' प्रकाशित हुई है। इससे जान पड़ता है, अभी तक कुँवारे हैं। तो मेरी········परन्तु वे इतना परिश्रम क्यों करते हैं? बहुत पढ़ना-लिखना मनुष्य को बाँस की तरह खोखला कर देता है। लिखती हूँ, कविता करना बन्द कर दो और अपने शरीर की ओर ध्यान दो। मुझे बड़ी चिन्ता रहती है। इसके बाद मैंने उनके सम्बन्ध में सब-कुछ मालूम कर लिया। वे हमारी बिरादरी के हैं, और कुँवारे हैं।"

मैंने पत्र लिखा। पहले पत्रों और इस पत्र में बहुत भेद था। इसमें कोई 'सङ्कोच', कोई 'बनावट' न थी—"तुम्हारे पत्रों में सन्तोष नहीं होता। जी चाहता है, प्रत्यक्ष दर्शन हों, तो गिरकर आप के पैरों को चूम लूँ। अब अधिक न तरसाओ। प्रतिक्षण सामने देखना चाहती हूँ। प्रायः सोते-सोते चौंक पड़ती हूँ। सोचती हूँ, तुम्हारे खाने-पीने का क्या प्रबन्ध होता होगा। रात को अधिक समय तक जागते तो नहीं रहते? स्वास्थ्य बिगड़ जायगा, इसका पूरा ध्यान रक्खो। मुझे पत्र लिखना न भूलो। जी डर जाता है। मुझे अपने चरणों की दासी समझो।"

चौथे दिन उत्तर आया, तब मैं ज़मीन से उछल पड़ी।' वे मेरे साथ विवाह करने से सहमत नहीं, प्रत्युत अधीर हो रहे थे। मैंने आँखें बन्द कर लीं, और आनेवाले काल्पनिक सहवास का चिन्तन करके आनन्द के झूले में झूलने लगी। इतने में किसी के पैरों की चाप सुनाई दी, मेरी आँखें खुल गईं। देखा, छोटा भाई प्रभाशङ्कर चित्रों का एक बण्डल हाथ में लिये खड़ा है। मैंने आश्चर्य-से पूछा—"प्रभा, यह क्या है?"

"बाबूजी कहते हैं, ये चित्र देखकर एक छाँट दो। प्रत्येक चित्र के साथ-साथ एक पत्र है, उसे भी पढ़ जाना।"

यह कहते-कहते प्रभा ने वह बण्डल मेरे हाथ में दे दिया, और तेज़ी-से बाहर निकल गया।

मैंने बण्डल खोला। इनमें उन पुरुषों के फ़ोटो थे, जो मेरे साथ विवाह करना चाहते थे। मैंने मुस्कराते हुए सब पर एक उचटती हुई दृष्टि डाली। कोई बैरिस्टर था, कोई इञ्जीनियर, कोई डॉक्टर, कोई ठेकेदार, परन्तु मुझे कोई भी पसन्द नहीं आया। मेरे अन्तःकरण में एक ही मूर्ति के लिये स्थान था, और वहाँ पहले ही से वह मूर्ति विराजमान थी। फुर्ती से उठकर मैंने अपना सन्दूक़ खोला, और उसमें से उनका फ़ोटो निकालकर उसपर Passed शब्द लिखकर उसे बाबूजी के पास भेज दिया। वे स्तम्भित रह गए। उन्हें यह आशा न थी। वे समझते थे, मैं कोई लखपती का बेटा पसन्द करूँगी, परन्तु मैंने एक कवि को चुना। वे निर्धन न थे, पर इतने धनाढ्य भी न थे। मेरे चाहनेवालों में कई पुरुष ऐसे थे, जो उनको ख़रीद सकने का सामर्थ्य रखते थे। परन्तु प्रेम अन्धा कहा गया है, उसे देखना किसने सिखाया है! बाबूजी मेरी इच्छा के असुसार सहमत हो गये। उन्होंने मुझे बड़े लाड़-प्यार से पाला

था। मेरी शिक्षा पर सहस्रों रुपये खर्च किये थे। इस विषय में भी उन्होंने पूरी स्वतन्त्रता दे रक्खी थी।

४

जिस बात का भय था, अन्त में वही हुआ। उन्हें बुख़ार आने लगा है। कुछ दिन हुए, उनके एक मित्र मिलने आये थे। वे कहते हैं कि डॉक्टरों को तपेदिक का सन्देह है। यह बात सुनकर बाबूजी बड़े व्याकुल हुए। सदैव उदास रहते हैं,—जैसे कोई रोग लग गया हो। उनकी इच्छा है कि मैं अब इस विवाह का विचार छोड़ दूँ। जलती आग में कूदना बुद्धिमत्ता नहीं है। परन्तु मैं इसकी परवाह नहीं करती। संसार की आँखों में हम कुँवारे हैं, पर जब मन मिल गये, प्रेम की डोरी बँध गई, तब शेष क्या रह गया? अब मैं उनकी हूँ, और कोई रोग, कोई शक्ति, कोई बला मुझे उनसे अलग नहीं कर सकती। यहाँ तक कि मृत्यु को भी यह साहस नहीं। सावित्री ने सत्यवान को यमदूत के पंजे से छुड़ा लिया था। क्या मैं इन्हें नहीं बचा सकूँगी? मैं भी सावित्री हूँ। इसी भारत की मिट्टी से मेरा जन्म हुआ है, मैं उसके कारनामे को फिर ज़िन्दा कर दिखाऊँगी।

सायंकाल हो गया, बाबूजी अपने कमरे में बैठे थे। मुझे चिन्ता हुई। यह समय उनके क्लब जाने का था। सर्दी-गर्मी में बराबर जाते थे। यह उनका नियम था—जिसमें कभी त्रुटि न आती थी। मैं उनके पास जाकर बैठ गई, और धीरे-से बोली—"क्यों, आज आप क्लब नहीं गये?"

बाबूजी ने कोई उत्तर न दिया।

मैंने कहा—"आप उदास दिखाई देते हैं?"

बाबूजी ने कहा—"तुम्हें इससे क्या?"

"आपका स्वास्थ्य बिगड़ जायगा।"

"कोई परवाह नहीं।"

"आपका खाना आधा भी न रहा।"

"मैं यह सब कुछ जानता हूँ।"

"किसी डॉक्टर को दिखाइये, रोग का बढ़ाना अच्छा नहीं।"

"अब मेरा डॉक्टर यमराज ही होगा!"

मेरी आँखों में आँसू आ गये, सिर नीचे झुक गया। बाबूजी दूसरी ओर देख रहे थे, परन्तु मेरे आँसू उन्होंने देख लिये। बात-चीत का रङ्ग बदल गया। वे बोले—"सावित्री, मैं तो अपने भाग्य को रो रहा हूँ, पर तुम्हें क्या हुआ है?"

मैंने उनकी ओर इस प्रकार देखा, जैसे उन्होंने मुझपर कोई बड़ा अत्याचार किया हो, और कहा—"आप मेरे पिता हैं, क्या आप भी मेरे इन आँसुओं का रहस्य नहीं समझते? आपकी प्रत्येक बात छिपी कटार है, प्रत्येक वचन विष में बुझा हुआ बाण। आपके मित्र हैं, सुहृद् हैं, काम-काज हैं, क्लब है। आप बाहर चले जाते हैं, मैं बैठी कर्मों को रोती हूँ। मैं लड़की हूँ। लड़कियों के मुँह से ऐसी बात अच्छी नहीं लगती। परन्तु क्या करूँ? देखती हूँ, मेरे जीवन का सर्वस्व लुट रहा है। चुप कैसे रहूँ? आप देर करके मेरे भविष्य को अन्धकारमय बना रहे हैं।"

बाबूजी ने आतुर होकर कहा—"परन्तु सावित्री, देखकर मक्खी निगलना आसान नहीं। क्या तुझे विश्वास है, कि वह तेरी सेवा-सुश्रूषा से अच्छा हो जायगा?"

"हाँ, मुझे विश्वास है, कि मैं उन्हें बचा लूँगी। कवि बे-परवाह होते हैं, प्रायः पढ़ने-लिखने में लगे रहते हैं। मैं उन्हें जीवन के समस्त झञ्झटों से निश्चिन्त कर दूँगी। कहूँगी—पहले अपने स्वास्थ्य की ओर

देखो, पीछे कविता भी हो लेगी। नौकरों के हाथ की रोटियाँ खाते हैं, खाया-पिया क्या तन लगेगा ? स्तुति करने को सभी हैं, सहानुभूति किसी में नाम को नहीं।"

बाबूजी पर मेरी इन बातों का बहुत ही प्रभाव हुआ। कुछ समय के लिये उनका मुँह बन्द हो गया। फिर बोले—"यह सब ठीक है, परन्तु कहने और करने में बहुत भेद है। मुझे सन्देह है, कि जो-कुछ तुम कह रही हो, उसे कर भी सकती हो, या नहीं !"

मेरा मुख लाल हो गया—जैसे भरे-बाज़ार सिर से दुपट्टा उतर गया हो। फिर सम्भलकर बोली—"मैं अपने वचनों के उत्तरदायित्व से अपरिचित नहीं। जो-कुछ कहा है, करके दिखा दूँगी।"

"यह सब भावना की बातें हैं, समय पर धुएँ की नाईं उड़ जाती हैं।"

"मेरे विचार में संसार भावनाओं पर ही जीता है।"

बाबूजी चुप हो गये, कोई उत्तर न सूझा। थोड़ी देर सिर झुकाकर सोचते रहे। तब एकाएक उठे, और मुझसे कुछ कहे-सुने बिना बाहर चले गये।

५

विवाह हो गया। वह बात झूठी निकली। उन्हें कोई रोग न था। यह सब किसी की दुष्टता थी। उनका स्वास्थ्य देखकर चित्त प्रफुल्लित हो जाता है। मुख पर लाली है, नेत्रों में ज्योति। मुझे देखते ही कली की नाईं खिल जाते हैं। मैंने कई कवियों के चरित्र पढ़े हैं, और एक दोष प्रायः सब में पाया है। वह यह, कि उनका आचरण कुछ इतना पवित्र नहीं होता। परन्तु उनके विषय में यह कल्पना करना भी पाप है।

वह बहुत ही शरमीले हैं; किसी पराई स्त्री के सामने आँख नहीं

उठाते। वह इसे भी सदाचार से गिरा हुआ समझते हैं। मेरी कोई सहेली आ जाती, तो उठकर अन्दर चले जाते थे। मैं बहुतेरा समझाती हूँ। कहती हूँ, तुम मर्द हो यदि स्त्री पर्दा नहीं करती, तो पुरुष क्यों करे? परन्तु वह हँसकर टाल देते हैं। मुझे उन पर पूरा-पूरा विश्वास है। मैं समझती हूँ, सब कुछ हो सकता है, परन्तु उनके मन में मैल नहीं आ सकता। ऐसा पुरुष मिल जाना मेरा सौभाग्य है। उन्होंने अपने-आपको मुझ पर छोड़ दिया है। घर-बाहर का स्याह-सफ़ेद सब मेरे ही हाथ में है। कपड़े तक स्वयं नहीं बदलते। यदि मैं न कहूँ, तो पूरा अठवाड़ा निकल जाता है, और उन्हें ध्यान भी नहीं आता कि कपड़े मैले हो गये हैं। उनके दूध का, फलों का, कमरे की सफ़ाई का मुझे ही प्रबन्ध करना पड़ता है। सोचती हूँ, यदि मेरे स्थान पर कोई दूसरी बेपरवा मनमानी करनेवाली स्त्री आ जाती तो क्या होता? घर में धूल उड़ने लगती। थोड़े ही दिनों में बीमार हो जाते। उन्हें अपने दफ़्तर की सफाई का भी ध्यान नहीं। उसका भी मुझे ध्यान रखना पड़ता है। नौकर सिर चढ़ा रक्खे थे, अब ये सँभल गये हैं। ये निगोड़े आप-से-आप तो कोई काम करते ही नहीं। जब तक सिर पर न खड़े रहो, तब तक-हाथ-पर-हाथ धरे बैठें रहते हैं। कभी कभी मुझे उन पर क्रोध भी आ जाता है। वे क्यों दबदबे से काम नहीं लेते? मैं चार दिन के लिए बाहर चली जाऊँ, तो घर में कीड़े रेंगने लगें।

एक दिन मैंने कहा—"सारे भारतवर्ष में तुम्हारी कविता की धाक बँधी हुई है, परन्तु क्या यह भी किसी को पता है कि तुम इतने बेपरवा, ऐसे आलसी हो?"

उन्होंने हँसकर उत्तर दिया—"तुम एक लेख न लिख दो।"

"बदनाम हो जाओगे।"

"उसमें कुछ भाग तुम्हें भी मिल जायगा।"

"मैं क्यों लेने लगूँ ? तुम हँसकर टाल देते हो। तनिक सोचो तो सही, ऐसी बेपरवाही भी किस काम की ?"

"मैंने तुम्हें घर की रानी बना दिया।"

मैंने धीरे-से कहा—"घर की रानी तो मैं बनी, परन्तु तुम अपने दफ़्तर की ओर तो ध्यान करो।"

"मैं तुम्हें अपना सुपरिण्टेण्डेण्ट समझता हूँ।"

मैं रूठकर चली गई। परन्तु हृदय आनन्द के हिलोरे ले रहा था; जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल पर तैरता है। दूसरे दिन प्रातः-काल मैं उनके दफ़्तर की ओर गई, तो दरवाज़े के साथ एक छोटा-सा बोर्ड लटकता देखा। उस पर लिखा था—"सावित्री देवी, बी० ए० सुपरिण्टेण्डेण्ट।"

मैंने उसे जल्दी से उतारकर उनके सामने जा फेंका, और कहा, "ये शरारतें देख लोग क्या कहेंगे ?"

उन्होंने मेरी ओर देखा तो मुस्कराकर भुजायें फैला दीं।

६

सन्ध्या का समय था। मैंने अपनी सब से बढ़िया पोशाक पहनी, और पास जाकर कहा—"बाहर चलोगे। घूम आयें ?"

वे इस समय कविता में मग्न थे। धीरे-से बोले, "इस समय बात न करो। बड़ा विचित्र भाव सूझा है, उसको प्रकट करने के लिए शब्द ढूँढ़ रहा हूँ।"

मुझे विष-सा चढ़ गया। कैसे पुरुष हैं—सदा अपनी ही धुन में मग्न रहते हैं। इतना भी नहीं होता, मेरी किसी समय तो मान लिया करें।

पहले मुझे देखकर प्रसन्न हो जाते थे; परन्तु अब तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इनका हृदय प्रेम से शून्य हो गया है। हाँ, कविता में हृदय निकाल कर रख देते हैं।

मेरी आँखों से आग बरसने लगी, मुँह से बोली—"सदा कविता ही सूझती रहती है, या किसी समय संसार का भी ध्यान आता है?"

"इस कविता से कवि-संसार में शोर मच जायगा।"

"तुम्हें मेरा भी ध्यान है, या नहीं?"

"यह अपने हृदय से पूछो।"

"मैं हृदय से नहीं पूछती, स्वयं तुमसे पूछती हूँ। तनिक आँखें उठाकर उत्तर दो न।"

"यह कविता देखकर फड़क उठोगी। ऐसी कविता मैंने आजतक नहीं लिखी।"

मैंने हताश-सी होकर कहा—"मेरी बड़ी इच्छा थी, कि आज थोड़ा घूम आती, इस कविता ने काम बिगाड़ दिया। जी चाहता है, काग़ज़ छीनकर दावात तोड़ दूँ।"

"दावात काग़ज़ की हानि साधारण बात है, परन्तु ये विचार फिर न मिलेंगे। आज अकेली चली जाओ।"

"मेरा मन नहीं मानता।"

उन्होंने हाथ से इशारा किया, और फिर झुक गये। मेरे हृदय में बर्छी-सी लगी। उन्हें कविता का ध्यान है, मेरा नहीं। संसार में नाम चाहते हैं, परन्तु घर में प्रेम नहीं चाहते। यहाँ से चली, तो हृदय पर बोझ-सा प्रतीत हुआ। अकेली सैर को निकल गई, परन्तु चित्त उदास था; सैर में जी न लगा। हार कर एक पुल पर बैठ गई, और अपनी दशा पर रोने लगी। इन आँसुओं को देखकर पहले बाबूजी व्याकुल हो जाते

"उसमें कुछ भाग तुम्हें भी मिल जायगा।"

"मैं क्यों लेने लगूँ? तुम हँसकर टाल देते हो। तनिक सोचो तो सही, ऐसी बेपरवाही भी किस काम की?"

"मैंने तुम्हें घर की रानी बना दिया।"

मैंने धीरे-से कहा—"घर की रानी तो मैं बनी, परन्तु तुम अपने दफ़्तर की ओर तो ध्यान करो।"

"मैं तुम्हें अपना सुपरिण्टेण्डेण्ट समझता हूँ।"

मैं रूठकर चली गई। परन्तु हृदय आनन्द के हिलोरे ले रहा था; जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल पर तैरता है। दूसरे दिन प्रातः-काल मैं उनके दफ़्तर की ओर गई, तो दरवाज़े के साथ एक छोटा-सा बोर्ड लटकता देखा। उस पर लिखा था—"सावित्री देवी, बी० ए० सुपरिण्टेण्डेण्ट।"

मैंने उसे जल्दी से उतारकर उनके सामने जा फेंका, और कहा, "ये शरारतें देख लोग क्या कहेंगे?"

उन्होंने मेरी ओर देखा तो मुस्कराकर भुजायें फैला दीं।

६

सन्ध्या का समय था। मैंने अपनी सब से बढ़िया पोशाक पहनी, और पास जाकर कहा—"बाहर चलोगे। घूम आयें?"

वे इस समय कविता में मग्न थे। धीरे-से बोले, "इस समय बात न करो। बड़ा विचित्र भाव सूझा है, उसको प्रकट करने के लिए शब्द ढूँढ़ रहा हूँ।"

मुझे विष-सा चढ़ गया। कैसे पुरुष हैं—सदा अपनी ही धुन में मग्न रहते हैं। इतना भी नहीं होता, मेरी किसी समय तो मान लिया करें।

पहले मुझे देखकर प्रसन्न हो जाते थे; परन्तु अब तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इनका हृदय प्रेम से शून्य हो गया है। हाँ, कविता में हृदय निकाल कर रख देते हैं।

मेरी आँखों से आग बरसने लगी, मुँह से बोली—"सदा कविता ही सूझती रहती है, या किसी समय संसार का भी ध्यान आता है?"

"इस कविता से कवि-संसार में शोर मच जायगा।"

"तुम्हें मेरा भी ध्यान है, या नहीं?"

"यह अपने हृदय से पूछो।"

"मैं हृदय से नहीं पूछती, स्वयं तुमसे पूछती हूँ। तनिक आँखें उठाकर उत्तर दो न।"

"यह कविता देखकर फड़क उठोगी। ऐसी कविता मैंने आजतक नहीं लिखी।"

मैंने हताश-सी होकर कहा—"मेरी बड़ी इच्छा थी, कि आज थोड़ा घूम आती, इस कविता ने काम बिगाड़ दिया। जी चाहता है, काग़ज़ छीनकर दावात तोड़ दूँ।"

"दावात काग़ज़ की हानि साधारण बात है, परन्तु ये विचार फिर न मिलेंगे। आज अकेली चली जाओ।"

"मेरा मन नहीं मानता।"

उन्होंने हाथ से इशारा किया, और फिर झुक गये। मेरे हृदय में बर्छी-सी लगी। उन्हें कविता का ध्यान है, मेरा नहीं। संसार में नाम चाहते हैं, परन्तु घर में प्रेम नहीं चाहते। यहाँ से चली, तो हृदय पर बोझ-सा प्रतीत हुआ। अकेली सैर को निकल गई, परन्तु चित्त उदास था; सैर में जी न लगा। हार कर एक पुल पर बैठ गई, और अपनी दशा पर रोने लगी। इन आँसुओं को देखकर पहले बाबूजी व्याकुल हो जाते

थे। विवाह हुआ, तो मेरे सुख-दुःख का भार एक कवि को सौंपा गया। परन्तु अब इन आँसुओं को देखनेवाला, इन पर कलेजा मलनेवाला कोई न था। मुझे ऐसा प्रतीत होता था, जैसे मेरी नाव नदी के धार में वेग से बही जाती है, और उस पर कोई मल्लाह नहीं। मैं अपनी बेबसी पर कुढ़ती थी। कभी-कभी आँख उठाकर देख भी लेती थी, कि कदाचित् आ रहे हों। प्रेम आशा नहीं छोड़ता।

मेरी आँखें जल की ओर थीं। सोचती थी, यदि कोई शक्ति मन्त्र-बल से मुझे जल की तरङ्ग बना दे, तो गङ्गा की तरङ्गों में खेलती फिरूँ। एकाएक आँखें झपक गईं, निद्रा देवी ने इच्छा पूरी कर दी। मैं गङ्गा में गिर गई। बहुतेरे हाथ-पाँव मारे, पर निकल न सकी—प्रवाह में बहने लगी।

सुधि आई, तो मैं घर पर थी। वे सामने खड़े थे, कुर्सी पर एक डॉक्टर बैठा था।

उन्होंने कहा—"अच्छी बचीं, इनका धन्यवाद करो। ये मेरे मित्र डॉक्टर मणिराम हैं। आजकल काशी में इनके नाम की पूजा होती है। नदी में न कूद पड़ते तो, तुम्हारा बचना असम्भव था।"

मैं धीरे-धीरे उठकर बैठ गई। साड़ी को सिर पर कर लिया, और डॉक्टर साहब की ओर देखा, मगर आँखें न मिल सकीं। मैंने "परमात्मा आपका भला करे"—कहा, और आँखें झुका लीं। परन्तु हृदय में हलचल मची हुई थी। चाहती थी, ये उठकर चले जायँ। मेरा विचार था, इससे मेरा धीरज वापस आ जावेगा। परन्तु जब वे चले गये, तब जान पड़ा, मैं भूल पर थी। व्यकुलता बढ़ गई। पानी की सैर को गई थी, आग खरीद लाई।

. ७

मणिराम—

. रात हुई, परन्तु मेरी आँख में नींद न थी। उसे सावित्री की आँखों ने चुरा लिया था। उसमें कैसा आकर्षण था, कैसी बेबसी थी, जैसे कोई क़ैदी लोहे के जङ्गले के अन्दर स्वतन्त्र सृष्टि को देखता है और आह मार-कर पृथ्वी पर बैठ जाता है। उसकी आखें बार-बार मेरी ओर उठती थीं, परन्तु वह उन्हें उठने न देती थी, जिस प्रकार माँ अपने अबोध बालक को पराये खिलौने पकड़ते देखकर गोद में उठा लेती है। उस समय बालक किस प्रकार मचलता है, कैसा अधीर होता है; चाहता है, कि माँ छोड़ दे तो खिलौना लेकर भाग जायँ। यही दशा सावित्री की थी। सत्यवान वहीं डटा रहा। यदि दो मिनट के लिये भी टल जाता तो जी भरकर देख लेता। कैसी सुन्दर है, जैसे चम्पा का फूल!

दूसरे दिन दूकान को जा रहा था, तो उसे दरवाज़े पर खड़ा पाया। उसने मेरी ओर प्यासे नयनों से देखा और मुस्करा दिया। इस मुस्कराहट में बिजली थी। मेरा धैर्य छूट गया। दूकान पर जी न लगा। सारे दिन साँझ की प्रतीक्षा करता रहा। पल-पल गिनते दिन समाप्त हुआ और मैं घर को वापस लौटा। पैर भूमि पर न पड़ते थे। इस समय मैं ऐसा प्रसन्न था, जैसे किसी को कुछ मिलनेवाला हो। सत्यवान के मकान के पास पहुँचा, तो पैर आप-से-आप रुक गये, आँखें दरवाज़े पर जम गईं। सहसा वह अन्दर से निकली, और दरवाज़े के साथ लगकर खड़ी हो गई। उसने मुँह से कुछ न कहा, परन्तु आँखों ने हृदय के पर्दे खोल दिये। इन आँखों में कैसा प्रेम था, कैसा चाव और उसके साथ स्त्रियों की स्वा-भाविक लज्जा। चटनी में खटाई के साथ शक्कर मिली हुई थी। मैं मत-

वाला-सा हो गया, और झूमता-झामता घर पहुँचा,—जैसे किसी ने शत्रु का दुर्ग विजय कर लिया हो।

कई दिन बीत गये। नयनों का प्रेम-पाश दृढ़ होता गया अब उसे देखकर जी न भरता था। ओस की बूंदों से किसी की प्यास कब बुझी है? तृष्णा अपने पैर आगे बढ़ा रही थी। अन्तःकरण सावधान करता था, जैसे भय के समय कोई लाल झण्डी दिखा दे। परन्तु कामदेव उस ड्राइवर के समान परवा न करता था, जिसने शराब पी ली हो। यह शराब साधारण शराब न थी। यह वह शराब थी, जो धर्म-कर्म सब चूल्हे में झोंक देती है और मनुष्य को बलात् भय के मुँह में डाल देती है। यह काम-वासना की शराब थी।

एक दिन बहुत रात गये घर लौटा। चित्त दुखी हो रहा था, जैसे कोई भारी हानि हो गई हो। परन्तु सावित्री दरवाजे पर ही खड़ी थी। मैं गद्‌गद, प्रसन्न हो गया। घाटा पूरा हो गया। सारा क्रोध दुःख दूर हो गया। सावित्री ने कहा—"आज आपको बड़ी देर हो गई।"

परन्तु आवाज़ थरथरा रही थी।

मेरा कलेजा धड़कने लगा। शरीर पसीना-पसीना हो गया। छात्रावस्था में हमने सैकड़ों मुर्दे चीरे थे। उस समय भी यह अवस्था न हुई थी। एक-एक अङ्ग काँपने लगा। मैंने बड़ी कठिनता से अपने-आप को सँभाला, और उत्तर दिया—"जी हाँ, कुछ मरीज़ देखने चला गया था, आप दरवाज़े पर खड़ी हैं, क्या किसी की प्रतीक्षा है?"

"हाँ, उनकी राह देख रही हूँ।"

"क्या आज कोई कवि-सम्मेलन है?"

"कवि-सम्मेलन तो नहीं। एक जलसे में गये हैं, वहाँ उन्हें अपनी नवीन कविता पढ़नी है।"

"तो बारह बजे के पहले न लौटेंगे।"

सावित्री ने तृषित नयनों से मेरी ओर देखा, और एक मधुर कटाक्ष से ठण्डी साँस भरकर कहा—"घर में जी नहीं लगता।"

"अभी तो आठ ही बजे हैं।"

"जी चाहता है, कि घड़ी की सुइयाँ घुमा दूँ।"

मेरे पैर न उठते थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई विचित्र नाटक हो रहा हो। परन्तु कोई देख न ले, इस विचार से पैर उठाने पड़े। हमें धर्म का विचार हो, या न हो, परन्तु निन्दा का विचार अवश्य होता है। सावित्री ने मेरी ओर ऐसी आँखों से देखा, मानो कह रही है—"क्या तुम अब भी नहीं समझे?"

मैं आगे बढ़ा, परन्तु हृदय पीछे छूटा जाता था। वह मेरे वश में न था। घर जाकर चित्त उदास हो गया। सावित्री की मूर्ति आँखों में फिरने लगी। उसकी मधुर वाणी कानों में गूँजने लगी। मैं उसे भूल जाना चाहता था। मुझे डर था, कि इस कूचे में पैर रखने से निन्दा होगी। मुझ पर उँगलियाँ उठने लगेंगी। लोग मुझे भलामानस समझते हैं। यह करतूत मेरा सर्वनाश कर देगी। लोग चौंक उठेंगे। कहेंगे—"कैसा भलामानस प्रतीत होता था, परन्तु पूरा गुरुघण्टाल निकला!" प्रेक्टिस भी कम हो जायगी। वह विवाहिता स्त्री है। उसकी ओर मेरा हाथ बढ़ाना बहुत ही अनुचित है। परन्तु ये सब युक्तियाँ, सब विचार जल की तरङ्गें थीं। जितनी जल्दी उठती हैं, उससे जल्दी टूट जाती हैं। वायु का हल्का-सा थपेड़ा उनका चिन्ह तक मिटा देता है। मनुष्य कितना दुर्बल, कितना बेबस है!

दूसरे दिन मैं सत्यवान के घर पहुँचा। परन्तु पैर लड़खड़ा रहे थे—जैसे नया-नया चोर चोरी करने जा रहा हो। उस समय उसका हृदय

किस प्रकार धड़कता है। कहीं कोई देख न ले! मुँह का रङ्ग भेद न खोल दे। कभी-कभी भलमनसी का विचार भी आ जाता था। पैर आगे रखता था, परन्तु पीछे हट जाता था। परन्तु मैंने एक छलाँग भरी और अन्दर चला गया। इस समय मेरे होंठ सूख रहे थे।

सत्यवान ने मुझे देखा, तो कुर्सी से उछल पड़ा, और बड़े आदर से मिला। देर तक बातें होती रहीं। सावित्री भी पास बैठी थी। मेरी आँखें बराबर उसके मुख पर अटकी रहीं। पहले चोर था, अब डाकू बना। सावित्री की झिझक भी दूर हो गई। बात-बात पर हँसती थी। अब उसे मेरी ओर देखने में सङ्कोच न था। लज्जा के स्थान पर चपलता आ गई थी। यहाँ से चला तो ऐसा प्रसन्न था, जैसे इन्द्र का सिंहासन मिल गया हो। तत्पश्चात् रास्ता खुल गया। दिन में कई बार सावित्री के दर्शन होने लगे। रात को दो-दो घण्टे उसके पास बैठा रहता। मेरा और सावित्री का आँखों-आँखों ही में मन मिल गया। पर सत्यवान को कुछ पता न था। कल्पना-सागर से विचारों के मोती निकालनेवाला कवि, बहुत दूर तक दृष्टि दौड़ानेवाला तत्वदर्शी विद्वान् अपने सामने की घटना को नहीं समझता था। उसकी कविता दूसरों को जगाती थी, परन्तु वह स्वयं सोया हुआ था;—उस अनजान यात्री के समान जो नौका में बैठा दूर के हरे-हरे ऊँची-ऊँची पहाड़ियों को देख-देख-कर झूमता है, परन्तु नहीं जानता कि उसकी नाव भयानक चट्टान के निकट पहुँच रही है। सत्यवान विनाश की ओर बढ़ रहा था।

८

सावित्री

कितना अन्तर है। मणिराम की आँखें हृदय में आग लगा देती

थीं। निकट आते तो मैं इस प्रकार खिंची जाती, जैसे चुम्बक लोहे की सूई को खींच लेता है। कैसे भोले-भाले लगते थे, जैसे मुख में जीभ ही न हो। परन्तु मेरे पास आकर इस प्रकार चहचहाते हैं, जैसे बुलबुलें फूल की टहनी पर चहचहाती है। उनके बिना अब जी नहीं लगता था। मकाम काटने को दौड़ता था। चाहती थी, मेरे पास ही बैठे रहें। किसी ने मुँह से तो नहीं कहा, परन्तु आँखों से पता चला कि महल्ले की स्त्रियाँ सब कुछ समझ गई हैं। मेरी ओर देखतीं तो मुस्कराने लगतीं। इतना ही नहीं, अब वह भी अपने विचारों से चौंक उठे। कवि थे, कुछ मूर्ख नहीं। बेपरवा थे, अब हाथ मल-मलकर पछताने लगे। संसार जीतते थे, परन्तु घर गवाँ बैठे। सदैव उदासीन रहते थे। रात को सो नहीं सकते थे। बात करती तो काटने को दौड़ते। आँखों में लहू उतर आता था। न खाने की ओर ध्यान था, न पीने की ओर। कई-कई दिन स्नान न करते थे। अब मुझे न उनके कपड़े बदलवाने का शौक़ था, न उनके खाने-पीने का प्रबन्ध करती थी। कभी इन बातों में आनन्द आता था, अब इतने से जी घबराता था। कुछ दिन पश्चात् प्रयाग के एक प्रसिद्ध मासिक-पत्र में उनकी एक कविता प्रकाशित हुई, जिसका पहला पद था—

भयो क्यों अनचाहत को सङ्ग।

कविता क्या थी, अपनी अवस्था का चित्र था। मेरी आँखों से आग बरसने लगी। शेरनी की नाईं बिखरी हुई उनके सामने चली गई और बोली—"यह क्या कविता लिखने लगे हो अब?"

उन्होंने मेरी ओर ऐसी आँखों से देखा, जो पत्थर को भी मोम कर देतीं। शोक और निराशा का पूरा नमूना थीं। धीरे-से बोले—"क्या है?"

"यह कविता पढ़कर लोग क्या कहेंगे?"

"कवि जो कुछ देखता है, लिख देता है। इसमें मेरा दोष क्या है?"

मैंने तनिक पीछे हटकर कहा—"तुमने क्या देखा है ?"

"सावित्री, मेरा मुख न खुलवाओ। अपने अंचल में मुँह डालकर देख लो, मुझसे कुछ छिपा नहीं।"

मैंने क्रोध से कहा—"गालियाँ क्यों देते हो ?"

"गालियाँ इससे लाख गुना अच्छी होतीं।"

"तो तुम्हें मुझ पर सन्देह है ?"

"सन्देह होता तो रोना काहे को था, अब तो विश्वास हो चुका। कान धोखा खा सकते हैं, परन्तु आँखें भूल नहीं करतीं। मुझे यह पता न था कि मेरा घर इस प्रकार चौपट हो जायगा।"

मुझ पर घड़ों पानी पड़ गया। पर प्रकृति, जहाँ दुराचार को जाना होता है, वहाँ निर्लज्जता को पहले भेज देती है। ढिठाई से बोली—"तुम कविता लिखो, तुम्हें किसी से क्या ?"

"घावों पर नमक छिड़कने आई हो ?"

"मेरी ओर देखते ही न थे। उस समय बुद्धि कहाँ चली गई थी।"

"मैंने तुम्हें पहचाना नहीं था। नहीं तो आज हाथ न मलता।"

"परन्तु लोग तुम्हारी वाहवा कर रहे हैं। जिस पत्र में देखो तुम्हारी ही चर्चा है, पढ़कर प्रसन्न हो जाते होंगे।"

यह सुनकर वे खडे हो गये। नेत्रों में पागलों की-सी लाली चमक रही थी, चिल्लाकर बोले—"अपनी मौत को न बुलाओ, मैं इस समय पागल हो रहा हूँ।"

"तो क्या मार डालोगे ? बहुत अच्छा यह भी कर डालो। अपने जी की इच्छा पूरी कर लो।"

उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा, जिस प्रकार सिंह अपने आखेट को मारने से पहले देखता है, और झपटकर आलमारी की ओर बढ़े।

मेरा कलेजा धड़कने लगा। दौड़कर बाहर निकल गई। मेरा विचार था, वे मेरे पीछे दौड़ेंगे, इसलिए घर के बाहर मैदान में जा-खड़ी हुई। परन्तु साँस फूली हुई थी! मृत्यु को सामने देख चुकी थी। परन्तु वे बाहर न आये। थोड़ी देर पीछे 'दन'-का शब्द सुनाई दिया। मैं दौड़ती हुई अन्दर चली गई। देखा—वे फ़र्श पर तड़फ रहे थे। मृत्यु का दृश्य देखकर मैं डर गई। परन्तु मुझे दुःख नहीं हुआ। कहीं मुक़दमे की लपेट में न आ जाऊँ, यह चिन्ता अवश्य हुई।

दो मास बीत गये थे। मैं अपने आँगन में बैठी मणिराम के लिए नेकटाई बुन रही थी। मैंने लोकाचार की परवा न करके उनसे विवाह का निश्चय कर लिया था। लोग इस समाचार से चौंक उठे थे। परन्तु मैं उनके मरने से प्रसन्न हो रही थी। समझती थी, जीवन का आनन्द अब आयेगा। अचानक नौकर ने आकर डाक मेरे सामने रख दी। इसमें एक पैकेट भी था। मैंने पहले उसे खोला। यह मेरे मृतक पति की कविताओं का संग्रह था। मैंने एक-दो कविताएँ पढ़ीं। हृदय में हलचल मच गई। कैसे ऊँचे विचार थे, कैसे पवित्र भाव, संसार की मलिनता से रहित! इनमें छल न था, कपट न था। इनमें आध्यात्मिक सुख था, शान्ति थी। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। एकाएक तीसरे पृष्ठ पर दृष्टि गई। यह समर्पण का पृष्ठ था। मेरा लहू जम गया। पुस्तक मेरे नाम समर्पित की गई थी। एक-एक शब्द से प्रेम में लपट आ रही थी। परन्तु इस प्रेम और मणिराम के प्रेम में कितना अन्तर था। एक चन्द्रमा की चाँदनी के समान शीतल था, दूसरा अग्नि के समान दग्ध करनेवाला। एक समुद्र की नाई गहन-गम्भीर, दूसरा पहाड़ी नाले के समान वेगवान। एक सचाई था—परन्तु निःशब्द दूसरा झूठ था—पर बड़-बोला। मेरी आँखों के सामने से पर्दा उठ गया। सतीत्व के उच्च शिखर से कहाँ

गिरने को थी, यह मैंने आज अनुभव किया। उठते हुए पैर रुक गये। मैंने पुस्तक को आँखों से लगा लिया और रोने लगी।

इतने में मणिराम अन्दर आये। मुख आनेवाले आनन्द की कल्पना से लाल हो रहा था। उनके हाथ में एक बहुमूल्य माला थी, जो उन्होंने मेरे लिए बम्बई से मँगवाई थी। वह दिखाने आये थे। मुझे रोते देखकर ठिठक गये, और बोले—"क्यों रो रही हो?"

"मेरी आँखें खुल गई हैं।"

"यह अपनी माला देख लो। कल विवाह है।"

"अब विवाह न होगा।"

"सावित्री, पागल हो गई हो?"

"परमात्मा मुझे इसी प्रकार पागल बनाये रक्खे।"

मणिराम आगे बढ़े। परन्तु मैं उठकर पीछे हट गई, और दरवाज़े की ओर संकेत कर बोली—"उधर।"

उस रात मुझे ऐसी नींद आई, जैसी इससे पहले कभी न आई थी। मैंने पति को ठुकरा दिया था, परन्तु उनके प्रेम को न ठुकरा सकी। मनुष्य मर जाता है, उसका प्रेम जीता रहता है।

एथेंस का सत्यार्थी

यह उस बीते हुए युग की कहानी है, जब यूनान ऐश्वर्य और सभ्यता के शिखर पर था और संसार की सर्वोत्तम सन्तान यूनान में उत्पन्न होती थी। रात का समय था, काव्य और कला की कभी न भूलनेवाली प्राचीन नगरी एथेन्स पर अन्धकार छाया हुआ था। चारो तरफ़ सन्नाटा था, चारो तरफ़ निस्तब्धता थी—सब बाज़ार खाली थे, सब गलियाँ निर्जन थीं और यह सुन्दर और आबाद नगरी रात के अँधेरे में दूर से इस तरह दिखाई देती थी, जैसे किसी जंगल में धुँधली-सी अपूर्ण छाया का पड़ाव पड़ा हो।

पूरी नगरी पूरा विश्राम कर रही थी। उसके विद्वान् और विलासी बेटे अपनी-अपनी शय्या पर बेसुध पड़े थे। रंग-शालाएँ खाली हो चुकी थीं, विलास-भवनों के दीपक बुझा दिये गये थे, और द्वारपालों की आँखों की पलकें नींद के लगातार आक्रमणों के सामने झुकी जाती थीं; परन्तु एक नवयुवक की आँखें नींद की शान्ति और शान्ति की नींद दोनों से वंचित थीं।

यह देवकुलीश एक विद्यार्थी था, जिसकी आत्मा सत्य-दर्शन की प्यासी थी। वह एक बहुत बड़े धनवान् का बेटा था, उसकी सम्पत्ति उसके लिए हर तरह का विलास खरीद सकती थी, वह अत्यन्त मनोहर था, यूनान-माता की सबसे सुन्दर बेटियाँ उसके प्रेम में पागल हो रहीं थीं। वह बहुत उच्चकोटि का तत्व-वेत्ता था। उसकी साधारण युक्तियाँ भी विद्यालय के अध्यापकों की पहुँच से बाहर थीं; परन्तु उसे इस पर भी शान्ति न थी। वह सत्यार्थी था। वह सत्य की खोज में अपने-आप को मिटा देने पर तुला हुआ था। वह इस रास्ते में अपना सर्वस्व निछावर कर देने को तैयार था। मर्त्य-लोक की नाशवान् खुशियाँ उसके लिये अर्थ-हीन वस्तुएँ थीं। यौवन और सौन्दर्य की सजीव मूर्तियों में उसके लिये कोई आकर्षण न था। वह चाहता था, किसी तरह सत्य को एक बार उसके वास्तविक रूप में देख ले। वह सत्य को बेपरदा, नंगा देखना चाहता था। ऐसा नहीं जैसा वह दिखाई देता है, बल्कि ऐसा जैसा वह वास्तव में है। वह अपनी इस मनोरथ-सिद्धि के लिये सब कुछ करने को तैयार था।

देवकुलीश रात-दिन पढ़ता था।

पढ़ता था और सोचता था। सोचता था और पढ़ता था, मगर उसके स्वाध्याय, चिन्तन और मनन से उसके प्यासे हृदय की प्यास मिटती न थी, बढ़ती जाती थी। सत्य का रोगी चिकित्सा से और ज़्यादा बीमार होता जाता था।

२

विद्यालय के आँगन में विशाल एक ऊँचा चबूतरा था, जिस पर पता नहीं कब से मिनरवा, ज्ञान और विवेक की देवी, संगमरमर के वस्त्र

पहने खड़ी थी। देवकुलीश पत्थर की इस मूर्ति के बरफ़-समान पैरों के निकट आकर घण्टों बैठा रहता और संसार के रहस्य पर चिन्तन किया करता था। यहाँ तक कि उसके मित्रों और सहपाठियों ने समझ लिया कि इसके मस्तिष्क में विकार उत्पन्न हो गया है। वे उसकी इस शोचनीय दशा को देखते थे और कुढ़ते थे।

उस रात भी देवकुलीश देवी के पैरों के निकट बैठा था और रो रहा था—"कृपा कर! ऐ विद्या और विज्ञान की सब से बड़ी देवी, कृपा कर! मेरे मन की अभिलाषा पूरी कर। मैं कई वर्षों से तेरी पूजा कर रहा हूँ। मैंने कई रातें तेरे पैरों को अपने आँसुओं से धोने में गुज़ार दी हैं। मैंने कई दिन केवल तेरे ध्यान में बिता दिये हैं। मेरी प्रार्थना के शब्द सुन और उन्हें स्वीकार कर!"

देवकुलीश यह कहकर खड़ा हो गया और देवी के तेज-पूर्ण मुँह की तरफ़ देखने लगा; मगर वह उसी तरह चुपचाप थी।

इतने में चन्द्रमा आकाश में उदय हुआ। उसके सुवर्ण और सुशीतल प्रकाश में देवी की मूर्ति और भी मनोहर दिखाई देने लगी।

अब देवकुलीश फिर मूर्ति के चरणों में बैठा था और फिर उसी तरह बालकों के सदृश रो-रोकर प्रार्थना कर रहा था, मानो वह संगमरमर की मूर्ति न थी, इस दुनिया की जीती-जागती स्त्री थी, जो सुनती भी है, जवाब भी देती है। बुद्धिमान देवकुलीश ने पागलपन के आवेश में कहा—"आज की रात फ़ैसले की रात है। ऐ ज्ञान और विवेक की रानी! तूने मेरे दिल में जिज्ञासा की आग सुलगाई है, तू ही उसे सत्य के शीतल जल से शान्त कर सकती है। सत्य कहाँ है?—अजर, अमर, अटल सत्य। वह सत्य जिस पर बुद्धिमान् लोग शास्त्रार्थ करते हैं, जिसका पण्डित चिन्तन करते हैं, जिसे लोग एकान्त में तलाश करते हैं, मन्दिरों

में ढूँढ़ते हैं, जिसके लिये दूर-दूर भटकते हैं। मैं वह उच्च कोटि का सत्य देखने का अभिलाषी हूँ। नहीं तो मैं चाँद की उज्ज्वल चाँदनी के सामने तेरे पैरों की सौगन्ध खाकर कहता हूँ, कि अपने निरर्थक जीवन को यहीं, इसी जगह समाप्त कर दूँगा। मुझे सत्य हीन जीवन की कोई आवश्यकता नहीं।"

यह कहकर देवकुलीश ने अपनी चादर के अन्दर से एक कटार निकाली और आत्महत्या करने को तैयार हो गया।

एकाएक सफ़ेद पत्थर की मूर्ति सजीव हो गई। उसने देवकुलीश के हाथ से कटार छीन ली, उसे आँगन के एक अँधेरे कोने में फेंक दिया और कहा—"देवकुलीश !"

देवकुलीश काँपता हुआ खड़ा हो गया और आशा, आनन्द और सन्देह की दृष्टि से देवी की ओर देखने लगा। क्या यह सच है ?

हाँ, यह सच था; देवी के होंठ सचमुच हिल रहे थे—देवकुलीश ! देवकुलीश !—देवकुलीश देवी का एक-एक शब्द पूरे ध्यान से सुन रहा था।

"देवकुलीश ! मौत का मार्ग अँधेरा है। तू मेरा पुजारी, मेरी आँखों के सामने इस मार्ग पर नहीं जा सकता। मेरे लिए असह्य है कि मेरे सामने कोई आत्म-हत्या कर जाय। बोल, क्या माँगता है ? मैं तेरी हर-एक मनोकामना पूरी करने को तैयार हूँ।"

देवकुलीश का दिल सफलता के आनन्द से धड़क रहा था। उसके मुँह से शब्द न निकलते थे। वह देवी के पैरों के निकट बैठ गया, और श्रद्धाभाव से बोला—पवित्र देवी ! मैं सत्य को उसके अपने असली स्वरूप में देखना चाहता हूँ। नंगा, बेपरदा, खुला सत्य। और कुछ नहीं, बस सत्य !

"तू सत्य को जानना चाहता है ?"—देवी के होठों से आवाज़ आई—

"तू आप सत्य है। यह आँगन भी सत्य है। मैं भी सत्य हूँ। आँखें खोल, सत्य दुनिया के चप्पे-चप्पे में मौजूद है।"

देवकुलीश—"मगर उस पर परदे पड़े हुये हैं।"

देवी—"विवेक की आँख उन परदों के अन्दर का दृश्य भी देख सकती है।

देवीकुलीश—"पवित्र माता! मैं सत्य को विवेक से नहीं, आंखों से देखना चाहता हूँ। मैं सोच कर नहीं देखना चाहता, देखकर सोचना चाहता हूँ।"

देवी ने अपना पत्थर का सफ़ेद, ठंढा, भारी हाथ देवकुलीश के कंधे पर रख दिया और मीठे स्वर में बोली—"बेपरदा, नंगा सत्य आज तक दुनियाँ के किसी बेटे ने नही देखा, न देवताओं ने किसी मनुष्य को बरदान दिया है। तू अन्न का कीड़ा है, तेरी आँखों में यह दृश्य देखने की शक्ति कहाँ? मेरा परामर्श है, यह ख्याल छोड़ दे और अपने लिए कोई और वस्तु माँग, मैं अभी, इसी जगह दूँगी।"

देवकुलीश—"यूनान की सबसे बड़ी देवी! मैं केवल नंगा सत्य देखना चाहता हूं और कुछ नहीं चाहता।"

देवी—"मगर इसका मूल्य..."

देवकुलीश—"जो कुछ तू माँगे।"

देवी—"धन, दौलत, सौंदर्य, यश सब तुझसे छूट जायँगे। तुझे अपनी दुनिया को चाँद और सूरज के प्रकाश से भी वञ्चित करना होगा—शायद इस यज्ञ में तुझे अपने जीवन की भी आहुति देनी पड़े। बोल! क्या अब भी तू सत्य का नंगा रूप देखना चाहता है?"

देवकुलीश—"मुझे सब कुछ स्वीकार है।"

देवी ने सिर झुका लिया।

देवकुलीश—"परमेश्‍वर की सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मैं इसके लिए न त्याग सकूँ।"

देवी ने फिर सिर उठाया और मुस्कराकर कहा—"बहुत अच्छा! तू सत्य को देख लेगा, तुझे सत्य दिखा दिया जायगा, सत्य का वास्तविक, नंगा रूप तेरे सामने होगा; परन्तु एक बार नहीं, धीरे-धीरे चल! आज सत्य का एक परदा उठा, बाक़ी एक वर्ष के बाद!"

३

यह कहते-कहते देवी ने अपनी सफ़ेद पत्थर की चादर उतार कर चबूतरे पर रख दी और देवकुलीश को गोद में उठा लिया। देखते-देखते देवी के दोनों कंधो पर परियों के-से दो पर निकल आये। देवी ने पर खोले, और हवा में उड़ने लगी। पहले शहर, मन्दिरों के कलश, पर्वत; फिर चाँद, तारे, बादल सब नीचे रह गये। देवी देवकुलीश को लिये आकाश में उड़ी जा रही थी। थोड़ी देर बाद उसने देवकुलीश को बादलों के एक पहाड़ पर खड़ा कर दिया। देवकुलीश ने देखा, पृथ्वी उसके पाँव तले बहुत दूर, बहुत नीचे एक छोटे-से तारे के समान टिम-टिमा रही है, और थी वह यह दुनिया, जिसको वह इतना बड़ा समझ रहा था; मगर देवकुलीश का ध्यान इस ओर न था। उसने अपने पास छाया में छिपी हुई एक धुँधली-सी चीज़ देखी, और देवी से पूछा—"यह क्या है?"

देवी—"यही सत्य है। यह छिपकर यहाँ रहता है, यहीं से तेरी और अनगिनत दूसरी दुनियाओं को अपनी दिव्य-ज्योति भेजता है। इसी के धुँधले प्रकाश में बैठकर सयाने लोग दुनिया की पहेलियाँ हल करते हैं, और गुरु अपने शिष्यों को जीवन की शिक्षा देते हैं। यही प्रकाश सृष्टि

का सूरज है, यही ज्योति मानव-चरित्र का आदर्श है। तू कहेगा, यह तो कुछ ज्यादा प्रकाशमान् नहीं; परन्तु देवकुलीश ! तेरे शहर के निकट जो नदी बहती है, यदि उसकी सारी रेत का एक-एक कण एक-एक सूरज बन जाय, तब भी उसमें इतना प्रकाश न होगा, जितना इस पहाड़ की छाया में है, मगर वह परदों में छिपा हुआ है। चल, आगे बढ़ और इसका एक परदा फाड़ दे।"

देवकुलीश ने एक परदा फाड़ दिया। इसके साथ ही उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे संसार में एक नवीन प्रकार का प्रकाश फैल गया है। सच की छाया अब पहले से ज्यादा साफ़ और चमकदार थी। देवी देवकुलीश को फिर एथेंस में उड़ा लाई और अपनी सङ्गमरमर की चादर ओढ़कर फिर उसी चबूतरे पर उसी तरह चुपचाप खड़ी हो गई।

अब देवकुलीश की दृष्टि में चाँदी और सोने का कोई मूल्य न था। वह लोगों को दौलत के पीछे भागते देखता, तो उसे आश्चर्य होता था। वह चाँदी को सफ़ेद लोहा, और सोने को पीला लोहा कहता था, और इनकी प्राप्ति के लिये अपना परिश्रम नष्ट न करता था। उसे पढ़ने की धुन थी, दिन रात पढ़ता रहता था। उसके बाप ने उसका साधु-स्वभाव देख कह दिया, कि इसे मेरी जायदाद में से कुछ न मिलेगा; परन्तु देवकुलीश को इसकी ज़रा चिन्ता न थी। उसके मित्र-सम्बन्धी कहते—"देवकुलीश ! यह आयु जवानी और गर्म ख़ून की है। सफ़ेद बालों और झुकी हुई कमर का ज़माना शुरू होने से पहले-पहल कुछ जमा कर ले। नहीं फिर बाद में पछतायेगा।"

देवकुलीश उनकी तरफ़ अद्भुत दृष्टि से देखता और कहता—"तुम क्या कह रहे हो, मैं कुछ नहीं समझता।"

एथेंस के एक बहुत अमीर की कुँआरी बेटी अब भी देवकुलीश की

मोटी-मोटी काली आँखों की दीवानी थी। वह देवकुलीश की इस दीन दशा को देखती और कुढ़ती थी। देवकुलीश के खाने-पीने का प्रबन्ध भी वही करती थी, वर्ना वह भूखा-प्यासा मर जाता।

इसी तरह एक साल के तीन सौ पैंसठ दिन पूरे हो गये। रात का समय था, एथेंस पर फिर अन्धकारपूर्ण सन्नाटा छाया हुआ था। देवकुलीश ने फिर देवी के पैरों पर सिर झुकाया। देवी उसे फिर बादलों के पहाड़ पर ले गई और देवकुलीश ने सत्य का दूसरा परदा फाड़ दिया। इस बार सत्य का प्रकाश और भी साफ़ हो गया। देवकुलीश ने उसे देखा और उसकी आँखों को वह ज्ञान-चक्षु मिल गये, जो यौवन और सुकुमारता के लाल लहू के पीछे छिपे हुए बुढ़ापे की एक-एक झुर्री को देख सकते हैं। फिर वह अपनी बनावट और अविद्या की दुनिया को वापस चला आया। देवी फिर संगमरमर का बुत बनकर अपनी जगह पर खड़ी हो गई।

४

एक दिन उसके एक मित्र ने कहा—"देवकुलीश! आज यूनान की सब कुँआरी लड़कियाँ एथेंस में जमा हैं और आज यूनान की सबसे सुन्दरी युवती को सौन्दर्य का पहला इनाम दिया जायगा। क्या तू भी चलेगा?"

देवकुलीश ने उसकी ओर मुस्कराकर देखा और कहा—"सत्य वहाँ नहीं है।"

दूसरे दिन एक अध्यापक ने कहा—"आज यूनान के सारे समझदार लोग विद्यालय में जमा हैं। क्या तुम उनसे मिलोगे?"

देवकुलीश ने ठण्डी आह भरकर जवाब दिया—"सत्य वहाँ भी नहीं है।"

तीसरे दिन एक महन्त ने कहा—"आज चाँददेवी के बड़े मन्दिर में देवताओं की पूजा होगी। क्या तुम भी आओगे?"

देवकुलीश ने लंबी आह खींची और कहा—"सत्य वहाँ भी नहीं है।"

और इस तरह इस सत्यार्थी ने जवानी ही में जवानी के सारे प्रलोभनों पर विजय प्राप्त कर ली। अब वह पूरा महन्त था; मगर वह एथेंस के किसी मेले में नज़र न आता था, उसकी आवाज़ किसी सभा में न सुनाई देती थी।

सत्यार्थी साल-भर एकान्त में पढ़ता रहता और इसके बाद बादलों के पहाड़ पर जाकर सत्य का एक परदा फाड़ आता था। इसी तरह कई वर्ष बीत गये। उसका ज्ञान दिन-पर-दिन बढ़ता गया; मगर उसकी आँखें अन्दर धँस गई थीं, कमर झुक चुकी थी, सिर के सारे बाल सफ़ेद हो गये थे। उसने सत्य की खोज में अपनी जवानी बुढ़ापे की भेंट कर दी थी; मगर उसे इसका दुःख न था, क्योंकि वह जवानी और बुढ़ापे दोनों की सत्ता से परिचित हो चुका था।

और लोग यह समझते थे, देवकुलीश ने अपने लिए अपनी कोठरी को समाधि बना लिया है।

५

आख़िर वह प्यारी रात आ गई, जिसकी प्रतीक्षा में देवकुलीश को अपने जीवन का एक-एक क्षण, एक-एक वर्ष, एक-एक शताब्दि से भी लम्बा मालूम होता था।

आज सत्य के मुँह से अन्तिम परदा उठेगा। आज वह सत्य को नंगा, बेपरदा देखेगा, जिसे संसार के किसी नश्वर बेटे ने आज तक नहीं देखा। आज उसके जीवन की सबसे बड़ी साध पूरी हो जायगी।

आधी-रात को उसे विवेक और विज्ञान की देवी ने अन्तिम बार गोद में उठाया, और बादलों के पहाड़ पर ले जाकर खड़ा कर दिया।

देवकुलीश ने सत्य की ओर अधीर होकर देखा।

देवी ने कहा—"देवकुलीश ! देख, इसका प्रकाश कैसा साफ़, कैसा तेज़ है। आज तक तूने इसके जितने परदे उतारे हैं, वे इसके परदे न थे, तेरी बुद्धि के परदे थे ! सत्य का एक ही परदा है; आगे बढ़ और उसे उतार दे; परन्तु अगर तू चाहे, तो अब भी लौट चल। मैं तुझे सातों समुद्रों के मोती और दुनिया का सारा सोना देने को तैयार हूँ। तेरा गया हुआ स्वास्थ्य वापस मिल सकता है, तेरा उजड़ा हुआ जीवन लौटाया जा सकता है। मुझसे कह, तेरे सिर के सफ़ेद बालों को छूकर फिर से काला कर दूँ। देवकुलीश ! अब भी समय है, अपना संकल्प त्याग दे।"

मगर बहादुर सत्यार्थी ने देवी का कहना न माना, और आगे बढ़ा। उसका कलेजा धड़क रहा था, उसके पाँव लड़खड़ा रहे थे, उसके हाथ काँप रहे थे, उसका सिर चकरा रहा था; मगर वह फिर भी आगे बढ़ा। उसने अपनी आत्मा और शरीर की सारी शक्तियाँ हाथों में जमा कीं और उन्हें फैलाकर सत्य का अन्तिम परदा फाड़ दिया।

"ओ परमात्मा !"

चारों ओर अन्धकार छा गया था; ऐसा भयानक अन्धकार, जैसा इससे पूर्व देवकुलीश ने कभी न देखा था। उसने चिल्लाकर कहा—"देवी माता ! यह क्या हो गया ? मुझे कुछ दिखाई नहीं देता; वह जो परदे के पीछे था, कहाँ चला गया।"

देवी ने मधुर स्वर से कहा—"देवकुलीश ! देवकुलीश !!"

देवकुलीश ने अँधेरे में टटोलते हुए कहा—"देवी ! मुझे बता, वह कहाँ है ? मैं कहाँ हूँ, तू कहाँ है ?"

देवी ने अपना हाथ धीरे से उसके कंधे पर रखा, और जवाब दिया—"देवकुलीश ! तेरी आँखें नंगे सत्य का दृश्य देखने में असमर्थ होने के कारण फूट गईं। अब संसार की कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो उन्हें ठीक कर सके। मैंने तुझसे कहा था, वह विचार छोड़ दे; परन्तु तूने न माना, और अब तूने देख लिया कि जब मनुष्य सत्य को नंगा देखना चाहता है, तो क्या देखता है? सत्य परदों के अंदर ही से देखा जा सकता है। जब उसका परदा उतार दिया जाता है, तो मनुष्य वह देखता है, जो कभी नहीं देख सकता।

देवकुलीश बादलों के पहाड़ पर मुँह के बल गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोने लगा।

हज़ारों वर्ष बीत चुके हैं; मगर एथेंस के सत्यार्थी की खोज अभी तक जारी है। अगर कोई आदमी बादलों के पहाड़ की सुनसान वादियों में जा सके, तो उसे देवकुलीश के रोने की आवाज़ अभी उसी तरह सुनाई देगी।

पाण्डेय बेचनशर्म्मा 'उग्र'

जन्मकाल	रचनाकाल
१६०१ ई०	१६२२ ई०

भुनगा !

कंचनपुर शहर के बाहर उस करील की झाड़ में एक भुनगा रहता था !

उसकी उम्र कल तक तो आठ दिनों की थी। मगर, भुनगे के आठ दिन, आदमी के अस्सी बरस से, कम नहीं होते !

जिस भुनगे की कहानी हम गा रहे हैं, वह अपने को करील-कुंज-बनवासी अन्य सभी भुनगों से 'विशेष' और 'महान' और 'प्रतिभाशाली' मानता था !

जब कि, उसके अन्य बन्धु आलस्य-लसित, महज मिट्टी खा कर, करील की जड़ में, जड़वत्, पड़े रहते थे, तब वह, अपने महान पंखों से हवा को चीरता था और फुदक-फुदक-चीरता सारे संसार को दिखाता था।

अमूमन् भुनगे अपने निवास के लिए करील-बन नहीं पसन्द करते; मगर, कंचनपुर के बाहर मरुस्थल और करीलों के अलावा हरियाली है ही नहीं। बेचारे भुनगे जाते तो कहाँ जाते ?

मगर, वह प्रतिभाशाली भुनगा हरे दरख्तों से करील की हवा को ज्यादा "स्वास्थ्य प्रद" और "खुली" कहता था।

"हरियाली हमारा भोजन है, और हरे-हरे पौधे हमारे 'ग्रीन्स होटेल'। जिस तरह आदमी अपने बावर्चीखाने में सोना पसन्द करता है, वैसे ही, हमें भी पेड़-पौधों से; आराम के वक्त परहेज है।"

करील कुंज का वह 'विशेष' भुनगा, मूछें गोलाकार घुमाकर, गर्व से "टिक्-टिक्-टिक्" स्वर सुनाकर, दस-दस इञ्च की "जम्प" मार कर बातें करता था! हाँ।

* * * *

एक दिन वही भुनगा अपने नन्हें से मुँह में तट की रेत भर-भर कर समुद्र में डाल रहा था।

किसी ने पूछा—"क्यों जनाब, इतना परिश्रम क्यों?"

"समुद्र को पाट न दूँ तो मेरा नाम भन्नन भृंग नहीं, भकुआ!"

"क्यों-क्यों महाशय! आप समुद्र पर इतने नाराज़ क्यों हैं?"

"इसका बनाने वाला ज़रूर कोई घोंघा है। इसकी उत्ताल तरंगों ने, उस दिन उच्छाल ले कर मेरे प्रतिभाशाली पंखों को भारी नुकसान पहुँचाया। बस-अब मैं बदला लूंगा। समुद्र को पाट कर ठोस कर दूँगा, जिससे, उछलने, कूदने में, आगे चल कर भुनगा-जाति को सुविधा हो।"

"ज़रा मजे में सोच-समझ कर परिश्रम कीजिये" किसी ने समझाया श्रीभन्नन भृङ्ग को—"संभव है इस काम में आप कामयाबी न पावें।"

बस, भन्नजी भड़क कर समझाने वाले के सर-माथे पर हो रहे! क्रोध से उनकी आँख लाल लुत्ती-सी लौकने लगीं!!

"मूर्ख!" भुनगे ने ललकारा—"भुनगों-खासकर-भन्नन भृंग को मामूली मानना बराबर है, कच्चे सूरन को ककड़ी समझ कर खाने के!"

"याद रहे!" भुनगा भन्नन एकाएक लेक्चर देने के जोश में आ गया "याद रहे! वह टिटिहरी या टिटिहरा मेरा ही महान पूर्वज था, जिसने

एक दिन, समुद्र को पाट देने का बीड़ा उठाया था। अब तक तो यह अपार-पारावार, एक भुनगे द्वारा चित्त से पट (हो) गया होता, अगर, बीच में बचाव कर-पुराणों के उस दाढ़ी-वाले ऋषि ने—समझौता न करा दिया होता।......"

"मैं जानता और मानता हूँ कि, बनानेवाले ने समुद्र बनाने में निहायत मूर्खता दिखाई है।"

*   *   *   *

हमने सुना है, भुनगाराज भन्नन आकाश की बनावट से भी सन्तुष्ट नहीं थे उनका ख़याल था कि, समुद्र और आसमान दोनों के बनाने में बेकाम विस्तार और अनर्थक अपव्यय किया गया है। इससे कहीं छोटा समुद्र हमारे लिए बहुत होता और आसमान—छिः ऐसे पुराने; सड़े चीथड़े का चन्दोवा, जिसके तार-तार से उस पार के सितारे अपने कर-जाल पसार-पसार कर हमें गिरफ्तार करना चाहते हैं।

रात में, जीर्णता से शीर्ण होकर आसमान, जमीन पर कहीं भहरा न पड़े—इसीलिए, भुनगाराज, अपने इंचों महान पैरों को उतान तान कर सोते थे!

*   *   *   *

और एक दिन, जीवन-यात्रा में पहली बार भुनगा भन्नन की किसी समुद्री शिकारी चिड़िया से भेंट हो गई।

"ओह सुन्दरी! तुम कौन? किसने तुम्हें बनाया?"

"क्या?" नीली गर्दन मटका कर चिड़िया बोली—

"किसने बनाया? उसी ने तो, जो इस समुद्र को और उस आसमान को, अनायास ही, रच-विरच सकता है। वही, जिसने तुम जैसे क्षुद्र,

भुनगों को भी संसार में फुदकने का चांस दिया है क्या ? तुम उसको नहीं जानते ?"

"अलबत्त–नहीं !" आँखें चकित कर, क्रोध से भुनगा फुदका—"संसार में सबसे महान, सबको बनाने बिगाड़नेवाला, मैं हूँ। विधाता की हरियाली को मैं चटनी की तरह पचा सकता हूँ। विश्व की खेती मैं ओस की किरण की तरह–चाट, सकता हूँ। सुन्दरी !"

और भुनगा भन्नन फुदका।

और नीलकण्ठी, शिकारी सुन्दरी चिड़िया ने अधिक उछलने के पहले ही, भुनगे को दुम की तरफ़ से अपनी चोंच में चपेट लिया।

मरते-मरते भी वह भुनगा टर्रा-टर्र टिर्राता रहा।

"—मैं समुद्र को पाट सकता हूँ। मैं आसमान को उठा सकता हूँ ! मैं सर्वशक्तिमान हूँ और हूँ मैं—अ...म...र...!!"

उसकी माँ........

दोपहर को ज़रा आराम करके उठा था। अपने पढ़ने-लिखने के कमरे में, खड़ा-खड़ा धीरे-धीरे सिगार पी रहा था और बड़े-बड़े अलमारों में सजे पुस्तकालय की ओर निहार रहा था। किसी महान लेखक की कोई महान कृति उनमें से निकालकर देखने की बात सोच रहा था। मगर, पुस्तकालय के एक सिरे से लेकर दूसरे तक मुझे महान्-ही-महान् नज़र आये। कहीं गेटे, कहीं रूसो; कहीं मेज़िनी, कहीं निट्शे, कहीं शेक्सपियर, कहीं टॉल्सटॉय, कहीं ह्यूगो—मुपासाँ कहीं डिकिन्स, स्पेन्सर, मेकाले, मिल्टन, मोलियर—उफ़ ! इधर-से-उधर तक एक-से-एक महान ही तो थे। आखिर मैं किसके साथ चन्द मिनट मन बहलाव करूँ यह निश्चय ही न हो सका। महानों के नाम ही पढ़ते-पढ़ते परीशान-सा हो गया।

इतने में मोटर का भों-भों सुनाई पड़ा। खिड़की से झाँका तो सुर्मई रंग की कोई 'फ़ियेट' गाड़ी दिखाई पड़ी। मैं सोचने लगा—शायद कोई मित्र पधारे हैं, अच्छा ही है। महानों से जान बची।

उसकी माँ

जब नौकर ने सलामकर आनेवाले का कार्ड दिया, तब मैं कुछ घब-राया। उस पर शहर के पुलीस सुपरिंटेंडेंट का नाम छपा था। ऐसे बे-वक्त यह कैसे आये ?

पुलीस-पति भीतर आये। मैंने, हाथ मिलाकर एक चक्करखाने वाली गद्दीदार कुर्सी पर उन्हें आसन दिया। वह व्यापारिक मुस्कराहट से लैस होकर बोले—

"इस अचानक आगमन के लिये आप मुझे क्षमा करें।"

"आज्ञा हो।"—मैंने भी नम्रता से कहा।

उन्होंने पाकेट से डायरी निकाली, डायरी से एक तस्वीर—"देखिये इसे। ज़रा बताइये तो आप पहचानते हैं, इसको ?"

"हाँ, पहचानता तो हूँ।" ज़रा सहमते हुए मैंने बताया—"इसके बारे में मुझे आपसे कुछ पूछना है।"

"पूछिये।"

"इसका नाम क्या है ?"

"लाल" मैं इसी नाम से बचपन ही से इसे पुकारता आ रहा हूँ। मगर, यह पुकारने का नाम है। एक नाम कोई और है, सो मुझे स्मरण नहीं।"

"कहाँ रहता है यह ?"—सुपरिंटेंडेंट ने पुलिस की धूर्त-दृष्टि से मेरी ओर देखकर पूछा।

"मेरे बँगले के ठीक सामने, एक दो मंज़िला कच्चा-पक्का घर है, उसी में वह रहता है। वह है और उसकी बूढ़ी माँ।"

"बूढ़ी का नाम क्या है ?"

"जानकी।"

"और कोई नहीं है, क्या इसके परिवार में ? दोनों का पालन-पोषण कौन करता है ?"

"सात-आठ वर्ष हुए, लाल के पिता का देहान्त हो गया। अब उस परिवार में वह और उसकी माता ही बचे हैं। उसका पिता जब तक जीवित रहा बराबर मेरी ज़मीन्दारी का मुख मैनेजर रहा। उसका नाम रामनाथ था। वही मेरे पास कुछ-हज़ार रुपये जमा कर गया था, जिससे अब तक उनका खर्चा-खर्चा चल रहा है। लड़का कालेज में पढ़ रहा है। जानकी को आशा है, वह साल-दो-साल बाद कमाने और परिवार को सँभालने लगेगा। मगर,—क्षमा कीजिये, क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि आप उसके बारे में क्यों इतनी पूछताछ कर रहे हैं ?"

"यह तो मैं आपको नहीं बता सकता, मगर इतना आप समझ लें, यह सरकारी काम है। इसीलिए आज मैंने आपको इतनी तक़लीफ़ दी है।"

"अजी, इसमें तक़लीफ़ की क्या बात है। हम तो सात पुश्त से सरकार के फ़रमावरदार हैं। और कुछ, आज्ञा...।"

"एक बात और", पुलीस-पति ने गम्भीरता से, धीरे से कहा—मैं मित्रता से आपसे निवेदन करता हूँ। आप इस परिवार से ज़रा सावधान और दूर रहें। फ़िलहाल इससे अधिक मुझे कुछ कहना नहीं।"

२

"लाल की माँ !" एक दिन जानकी को बुलाकर मैंने समझाया -
"तुम्हारा लाल आजकल क्या पाजीपना करता है ? तुम उसे केवल प्यार प्यार ही करती हो न ? हूँ; भोगोगी।"

'क्या है बाबू ?' उसने कहा—"लाल क्या करता है ? मैं तो उसे कोई भी बुरा काम करते नहीं देखती।"

"बिना किये ही तो सरकार किसी के पीछे पड़ती नहीं। हाँ, लाल की माँ बड़ी धर्मात्मा, विवेकी और न्यायी सरकार यह है। ज़रूर तुम्हारा लाल कुछ करता होगा।"

"माँ! माँ!!" पुकारता हुआ उसी समय, लाल भी आया। लंबा, सुडौल, सुन्दर, तेजस्वी।

"माँ!" उसने मुझे नमस्कारकर जानकी से कहा—"तू यहाँ भाग आयी है। चल तो, मेरे कई सहपाठी वहाँ खड़े हैं। उन्हें चटपट कुछ जलपान करा दे। फिर हम घूमने जायँगे।"

"अरे!" जानकी के चेहर की झुरियाँ चमकने लगीं, काँपने लगी, उसे देखकर—"तू आ गया, लाल! चलती हूँ भैये। पर देख तो, तेरे चाचा क्या शिकायत कर रहे हैं। तू क्या पाजीपना करता है, बेटा?"

"क्या है चाचा जी?" उसने सविनय, सुमधुर स्वर से मुझसे पूछा—"मैंने क्या अपराध किया है?"

"मैं तुमसे नाराज़ हूँ लाल!"—मैंने गम्भीर स्वर में कहा।

"क्यों चाचा जी?"

"तुम बहुत बुरा करते हो, जो सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र करनेवालों के साथी हो। हाँ, हाँ—तुम हो। देखो लाल की माँ; इसके चेहरे का रंग उड़ गया। यह सोच कर कि, यह खबर मुझे कैसे मिली!"

सचमुच एक बार उसका खिला हुआ रंग ज़रा मुरझा गया, मेरी बातों से। पर तुरन्त ही वह सँभला।

"आपने ग़लत सुना, चाचाजी। मैं किसी षड्यन्त्र में नहीं। हाँ, मेरे विचार स्वतन्त्र अवश्य हैं। मैं ज़रूरत-बेज़रूरत जिस-तिस के आगे उबल अवश्य उठता हूँ, देश की दुरवस्था पर उबल उठता हूँ, इस पशु-हृदया परतन्त्रता पर।"

"तुम्हारी ही बात सही, तुम षड़यन्त्र में नहीं, विद्रोह में नहीं, पर यह बकबक क्यों ? इससे फ़ायदा ? तुम्हारी इस बक से न तो देश की दुर्दशा दूर होगी और न उसकी पराधीनता। तुम्हारा काम पढ़ना है—पढ़ो। इसके बाद कर्म करना होगा, परिवार और देश की मर्यादा बचानी होगी। तुम पहले अपने घर का उद्धार तो कर लो, तब सरकार के सुधार का विचार करना।"

उसने नम्रता से कहा—"चाचाजी, क्षमा कीजिये। इस विषय में मैं आपसे विवाद करना नहीं चाहता।"

"चाहना होगा, विवाद करना होगा। मैं केवल चाचाजी नहीं तुम्हारा बहुत कुछ हूँ। तुम्हें देखते ही मेरी आँखों के सामने रामनाथ नाचने लगते हैं। तुम्हारी बूढ़ी माँ, घूमने लगती हैं। भला मैं तुम्हें बे-हाथ होने दे सकता हूँ। इस भरोसे न रहना।"

"इस पराधीनता के विवाद में, चाचाजी, मैं और आप दो भिन्न सिरों पर हैं। आप कट्टर-राज-भक्त, मैं कट्टर राज-विद्रोही। आप पहली बात को उचित समझते हैं, कुछ कारणों से, मैं दूसरी को, दूसरे कारणों से। आप अपना पथ छोड़ नहीं सकते—अपनी प्यारी कल्पनाओं के लिये। मैं अपनी भी नहीं छोड़ सकता।"

"तुम्हारी कल्पनाएँ क्या हैं ? सुनूँ भी ज़रा मैं भी जान लूँ कि, अब के लड़के, कालेज़ की गर्दन तक पहुँते-पहुँते, कैसे-कैसे हवाई किले उठाने के सपने देखने लगते हैं। ज़रा मैं भी सुनूँ—बेटा !"

"मेरी कल्पना यह है कि, जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र किसी अन्य व्यक्ति समाज या राष्ट्र के नाश पर जीता हो–उसका सर्वनाश हो जाय।"

जानकी उठकर बाहर चली।—"अरे, तू तो जमकर चाचा से जूझने लगा। वहाँ चार बच्चे बेचारे दरवाजे पर खड़े होंगे

जाती हूँ ।" उसने मुझसे कहा—"समझा दो बाबू मैं तो आप ही कुछ नहीं समझती, फिर इसे क्या समझाऊँगी ।" उसने फिर लाल की ओर देखा—"चाचा जो कहें, मान जा बेटा । यह तेरे भले ही की कहेंगे ।"

वह बेचारी, कमर झुकाये उस साठ बरस की वय में भी घूँघट सँभाले, चली गयी । उस दिन उसने मेरी और लाल की बातों की गंभीरता नहीं समझी ।

"मेरी कल्पना यह है कि..." उत्तेजित स्वर से लाल ने कहा—"ऐसे दुष्ट, नाशक, व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के सर्वनाश में मेरा भी हाथ हो ।"

"तुम्हारे हाथ दुर्बल हैं; उनसे, जिनसे तुम पंजा लेने जा रहे हो । चर्र्र-मर्र्र हो उठेंगे । नष्ट हो जायँगे ।"

"चाचा जी, नष्ट हो जाना तो यहाँ का नियम है । जो सवाँरा गया है, वह बिगड़े ही गा । हमें दुर्बलता के डर से अपना काम नहीं रोकना चाहिए । कर्म के समय हमारी भुजाएँ दुर्बल नहीं, भगवान् की सहस्र भुजाओं की सखी हैं ।"

"तो, तुम क्या करना चाहते हो ?"

"जो भी मुझसे हो सकेगा, करूँगा ।"

"षड्यन्त्र···?"

"ज़रूरत पड़ी तो ज़रूर···।"

"[illegible]···?"

"हाँ, अवश्य !"

"हत्या······?"

"हाँ—हाँ—हाँ—।"

"बेटा, तुम्हारा माथा, न जाने कौन किताब पढ़ते-पढ़ते, बिगड़ रहा है । सावधान !"

३

मेरी धर्मपत्नी और लाल की माँ, एक दिन, बैठी हुई बातें कर रहीं थीं कि, मैं पहुँच गया। कुछ पूछने के लिए, कई दिनों से, मैं उसकी तलाश में था।

"क्यों लाल की माँ! लाल के साथ किसके लड़के आते हैं, तुम्हारे घर में?"

"मैं क्या जानूँ बाबू" उसने सरलता से कहा—"मगर वे सभी मेरे लाल ही की तरह प्यारे मुझे दिखते हैं। सब लां पर्वाह। वे इतना हँसते, गाते और हो-हल्ला मचाते हैं, कि, मैं मुग्ध हो जाती हूँ।"

मैंने एक ठण्ढी साँस ली,—"हूँ, ठीक कहती हो। वे बातें कैसी करते हैं? कुछ समझ पाती हो?"

"बाबू वे लाल के बैठक में बैठते हैं। कभी-कभी जब मैं उन्हें कुछ खिलाने-पिलाने जाती हूँ, तब वे, बड़े प्रेम से, मुझे 'माँ' कहते हैं। मेरी छाती फूल उठती है—मानो वे मेरे ही बच्चे हैं।"

"हूँ..." मैंने फिर साँस ली।

"एक लड़का उनमें बहुत ही हँसोड़ है। खूब तगड़ा और बली दिखता है। लाल कहता था, वह डण्डा लड़ने में, दौड़ने में, घूसेबाजी में, खाने में, छेड़खानी करने और हो-हो हा-हा कर, हँसने में समूचे कालेज में फर्द है। उसी लड़के ने एक दिन, जब मैं उन्हें हलवा परस रही थी मेरे मुँह की ओर देखकर कहा—माँ! तू तो ठीक भारत-माता-सी लगती है। तू बूढ़ी, वह बूढ़ी। उसका हिमालय उजला है, तेरे केश। हाँ, मैं नकशे से साबित करता हूँ—तू भारत-माता है। सर तेरा हिमालय, माथे की दोनों गहरी, बड़ी, रेखाएँ गंगा और यमुना। यह नाक विन्ध्याचल, दाढ़ी कन्याकुमारी तथा छोटी-बड़ी झुरियाँ-रेखाएँ भिन्न-भिन्न

पहाड़ और नदियाँ हैं। जरा पास आ मेरे। तेरे केशों को पीछे से आगे—बाएँ कन्धे पर लहरा दूँ। वह बर्मा बन जायगा। बिना उसके भारत-माता का श्रृङ्गार शुद्ध न होगा।"

जानकी उस लड़के की बातें सोच गद्‌गद हो उठी "बाबू, ऐसा ढीठ लड़का। सारे बच्चे हँसते रहे और उसने मुझे पकड़, मेरे बालों को बाहर कर अपना बर्मा तैयार कर लिया। कहने लगा—देख, तेरा यह दाहिना कान 'कच्छ की खाड़ी है—बम्बई के आगेवाली; और यह बायाँ—बंगाल की खाड़ी। माँ! तू सीधा मुँह करके ज़रा खड़ी हो। मैं तेरी ठुड्डी के नीचे, उससे दो अंगुल के फासले पर, हाथ जोड़कर घुटनों पर बैठता हूँ। दाढ़ी तेरी कन्या कुमारी—हा हा हा हा!—और मेरे जुड़े, जरा तिरछे, हाथ सिलोन—लंका!—हा हा हा हा!!—बोल, भारत-माता की जय।"

"सब लड़के ठहाका लगाकर हँसने लगे। वह घुटने टेककर, हाथ जोड़कर, मेरे पावों के पास बैठ गया। मैं हक्की-बक्की-सी हँसनेवालों का मुँह निहारने लगी। बाबू, वे सभी बच्चे मेरे 'लाल' हैं, सभी मुझे 'माँ'-गाकर—कहते हैं।"

उसकी सरलता मेरी आँखों में आँसू बनकर छा गयी। मैंने पूछा—"लाल की माँ! और भी वे कुछ बातें करते हैं? लड़ने की, झगड़ने की, गोला गोली या बन्दूक की?"

"अरे बाबू, "उसने मुस्कराकर कहा—" वे सभी बातें करते हैं। उनकी बातों का कोई मतलब थोड़े ही होता है। सब जवान हैं, ला-पर्वाह हैं, जो मुँह में आता है, बकते हैं। कभी-कभी तो पागलों-सी बातें करते हैं। महीना भर पहले एक-दिन लड़के बहुत उत्तेजित थे। वे जब बैठक में बैठकर गलचौर करने लगते हैं, तब कभी-कभी उनका पागलपन सुनने के लोभ से, मैं दरवाजे से सट और छिपकर खड़ी हो जाती हूँ।"

"न जाने कहाँ, लड़कों को सरकार पकड़ रही है। मालूम नहीं, पकड़ती भी है या वे योंहीं गप हाँकते थे। मगर उस दिन वे यही बक रहे थे। कहते थे—पुलीसवाले केवल सन्देह पर भले आदमियों के बच्चों को त्रास देते हैं, मारते हैं, सताते हैं। यह अत्याचारी पुलीस की नीचता है। ऐसी नीच शासन-प्रणाली को स्वीकार करना, अपने धर्मको, कर्म को, आत्मा को, परमात्मा को भुलाना है—धीरे-धीरे भुलाना, मिटाना है।"

एक ने, उत्तेजित भाव से, कहा—"अजी, ये परदेशी कौन लगते हैं हमारे; जो हमें बरबस राज-भक्त बनाये रखने के लिये, हमारी छाती पर तोप का मुँह लगाये, अड़े और खड़े हैं? उफ़! इस देश के लोगों की हिये की आँखें मूँद गई हैं, तभी तो इतने जुल्मों पर भी आदमी, आदमी से डरता है। ये लोग शरीर की रक्षा के लिये अपनी-अपनी आत्मा की चिता सँवारते फिरते हैं। नाश हो इस परतन्त्रवाद का!"

दूसरे ने कहा—"लोग ज्ञानी न हो सकें, इसलिये इस सरकार ने हमारे पढ़ने-लिखने के साधनों को अज्ञान से भर रखा है। लोग वीर और स्वाधीन न हो सकें इसलिये अपमानजनक और मनुष्यता—नीति-मर्दक कानून गढ़े हैं। ग़रीबों को चूसकर, सेना के नाम पर, पले हुए पशुओं को शराब से, कबाब से, मोटा-ताज़ा रखती है, यह सरकार। धीरे-धीरे जोंक की तरह हमारे देश का धर्म, प्राण और धन चूसती चली जा रही है; यह लूटक-शासन-प्रणाली। नाश हो इस प्रणाली का! इस प्रणाली की तस्वीर-सरकार का!"

"तीसरा, वही बँगड़, बोला—सब से बुरी बात यह है, जो सरकार रोब से—'सत्तावनी'—रोब से—धाक से, धाँधली से, धुआँ से; हम पर शासन करती है। यह, आँखें खोलते ही, कुचल-कुचल कर, हमें दब्बू कायर, हतवीर्य, बनाती है। और किस लिये ज़रा सोचो तो मुट्ठी भर

मनुष्यों को अरुण, वरुण और कुबेर बनाए रखने के लिये मुट्ठी-भर-मन-चले सारे संसार की मनुष्यता की मिट्टी-पलीत करें, परमात्मा प्रदत्त स्वाधीनता का संहार करें—छिः ! नाश हो ऐसे मनचलों का !"

"ऐसे ही अण्ट-सण्ट ये बातूनी बका करते हैं; बाबू ! जभी चार छोकरे जुड़े, तभी यही चर्चा । लाल के साथियों का मिज़ाज भी, उसी-सा, अल्हड़-बिल्हड़ मुझे मालूम पड़ता है । ये लड़के ज्यों-ज्यों पढ़ते जा रहे हैं, त्यों-त्यों बकबक में बढ़ते भी जा रहे हैं ।"

"यह बुरा है, लाल की माँ !" मैंने गहरी साँस ली ।

४

ज़मीन्दारी के कुछ जरूरी काम से, चार-पाँच दिनों के लिये, बाहर गया था । लौटने पर, बँगले में घुसने के पूर्व, लाल के दरवाज़े पर जो नज़र पड़ी तो वहाँ एक भयानक सन्नाटा-सा नजर आया । जैसे घर उदास हो, रोता हो ।

भीतर आने पर, मेरी धर्मपत्नी मेरे सामने उदास-मुख खड़ी हो गयी ।

"तुमने सुना ?"

"नहीं तो, कौन-सी बात ?"

"लाल की माँ पर भयानक विपत्ति टूट पड़ी है ।" मैं कुछ-कुछ गया, फिर भी, विस्तृत विवरण जानने को उत्सुक हो उठा—'क्या हुआ ? ज़रा साफ-साफ बताओ ।"

"वही हुआ, जिसका तुम्हें भय था । कल पुलीस की एक पलटन ने लाल का घर घेर लिया था । बारह घण्टे तक तलाशी हुई ! लाल, उसके बारह-पन्द्रह साथी, सभी पकड़ लिये गये हैं । सभी लड़कों के घरों की तलाशी हुई है । सब के घर से भयानक-भयानक चीजें निकली हैं ।"

"लाल के यहाँ...?"

उसके यहाँ भी दो पिस्तौल, बहुत से कारतूस और पत्र पाये गये हैं। "सुना है, उन पर हत्या, षड्यन्त्र, सरकारी राज्य उलटने की चेष्टा, आदि अपराध लगाये गये हैं।"

"हूँ" मैंने ठण्ढी साँस ली—"मैं तो महीनों से चिल्ला रहा था कि, यह लौंडा धोखा देगा। अब वह बूढ़ी बेचारी मरी। वह कहाँ है? तलाशी के बाद तुम्हारे पास आयी थी?"

"जानकी मेरे पास कहाँ आयी। बुलवाने पर भी कल नकार गयी। नौकर से कहलाया—पराठे बना रही हूँ, हलुवा तरकारी अभी बनाना है। नहीं तो वे बिल्हड़ बच्चे हवालात में मुरझा न जायँगे। जेलवाले और उत्साही बच्चों की दुश्मन यह सरकार उन्हें भूखों मार डालेंगे मगर मेरे जीतेजी यह नहीं होने का।"

"वह पागल है, भोगेगी। मैं दुःख से टूटकर एक चारपाई पर भहरा पड़ा। मुझे लाल के कर्मों पर घोर खेद हुआ।"

इसके बाद, प्रायः—एक वर्ष तक वह मुकदमा, चला। कोई भी, अदालत के काग़ज उलटकर देख सकता है। सी० आई० डी० ने—और उसके मुख सरकारी वकील ने—उन लड़कों पर बड़े-बड़े दोषारोप किये। उन्होंने चारों ओर गुप्त समितियाँ स्थापित की थीं, उनके खर्चे और प्रचार के लिये डाके डाले थे, सरकारी अधिकारियों के यहाँ रात में छापा मारकर, शस्त्र एकत्र किये थे, पलटन में उन्होंने बग़ावत फैलाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने न जाने कहाँ, न जाने किस, पुलिस के दारोग़ा को मारा था; और न जाने कहाँ, न जाने किस; पुलिस सुपरिंटेंडेंट को! ये सभी बातें, सरकार की ओर से प्रमाणित की गयीं।

उधर उन लड़कों की पीठ पर कौन था ? प्रायः कोई नहीं। सरकार के डर के मारे पहले तो कोई वकील ही उन्हें नहीं मिल रहा था, फिर एक बेचारा मिला भी; तो, 'नहीं' का भाई,। हाँ, उनकी पैरवी में सबसे अधिक परीशान वह बूढ़ी रहा करती। वह सुबह शाम उन बच्चों को—लोटा, थाली, जेवर आदि बेंच-बेंच कर-भोजन पहुँचाती। फिर वकीलों के यहाँ जाकर दाँत निपोरती, गिड़गिड़ाती कहती—

"सब झूठ है। न जाने कहाँ से, पुलीसवालों ने ऐसी-ऐसी चीजें हमारे घरों से पैदा कर दी हैं। वे लड़के केवल बातूनी हैं—हाँ, मैं भगवान् का चरण छूकर कह सकती हूँ। तुम जेल में जाकर देख आओ वकील बाबू! भला वे फूल-से बच्चे हत्या कर सकते हैं।"

उसका तन सूखकर काँटा हो गया, कमर झुककर धनुष-सी हो गयी, आँखें निस्तेज; मगर उन बच्चों के लिए दौड़ना, हाय-हाय करना, उसने बन्द न किया। कभी कभी सरकारी नौकर, पुलीस या वार्डर, पर झुँझलाकर, उसे झिड़क देते, धकिया देते। तब वह खड़ी हो जाती, छड़ी के सहारे कमर सीधी कर—"अरे, अरे! तुम कैसे जवान हो, कैसे आदमी हो! मैं तो उन भोले बच्चों के लिये दौड़ती—मरती हूँ और तुम मुझे धक्के दे रहे हो! मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, भैया?"

उसको अन्त तक यही विश्वास रहा कि, यह सब पुलीस की चालबाज़ी है। अदालत में जब दूध का दूध और पानी का पानी किया जायगा, तब वे बच्चे ज़रूर बे-दाग़ छूट जायँगे। वे फिर उसके घर में लाल के साथ, आवेंगे। हा-हा-हो-हो करेंगे। उसे 'माँ' कहकर पुकारेंगे।

मगर, उस दिन उसकी कमर टूट गयी, जिस दिन ऊँची अदालत ने भी, लाल को उस बँगड़ लठैत को तथा दो और लड़कों को फाँसी और दस को दस वर्ष से सात वर्ष तक की कड़ी सजाएँ दीं।

वह अदालत के बाहर झुकी खड़ी थी। बच्चे बेड़ियाँ बजाते, मस्ती से झूमते, बाहर आये। सबसे पहले उस बँगड़ की नज़र उस पर पड़ी—

"माँ!" 'वह मुस्कराया—' अरे, हमें तो हलुवा खिला-खिला कर तूने गधे-सा तगड़ा कर दिया है ऐसा कि, फाँसी की रस्सी टूट जाय और हम अमर के अमर बने रहें। मगर तू स्वयं सूखकर काँटा हो गई है। क्यों पगली—तेरे लिये घर में खाना नहीं है क्या?—

"माँ!" उसके लाल ने कहा—"तू भी जल्द वहीं आना, जहाँ हम लोग जा रहे हैं। जहाँ से थोड़ी देर का रास्ता है माँ! एक साँस में पहुँचेगी। वहीं, हम स्वतन्त्रता से मिलेंगे। तेरी गोद में खेलेंगे। तुझे कन्धे पर उठा कर इधर-से-उधर दौड़ते फिरेंगे। समझती है? वहाँ बड़ा आनन्द है!"

"आवेगी न माँ?" बँगड़ ने पूछा।

"आवेगी न माँ?" लाल ने पूछा।

"आवेगी न माँ?" फाँसी दण्ड-प्राप्त दो दूसरे लड़कों ने भी पूछा।

और वह बकर-बकर उनका मुँह ताकती रही—"तुम कहाँ जाओगे पगलो?"

जब से लाल और उसके साथी पकड़े गये, तब से शहर या मुहल्ले का कोई भी आदमी लाल की माँ से मिलने में डरता था। उसे रास्ते में देखकर जान-पहचानी बग़लें झाँकने लगते। मेरा स्वयं अपार प्रेम था उस बेचारी बूढ़ी पर; मगर मैं भी बराबर दूर ही रहा। कौन अपनी गर्दन मुसीबत में डालता, विद्रोही की माँ से सम्बन्ध रखकर?

उस दिन, ब्यालू करने के बाद कुछ देर के लिये पुस्तकालयवाले कमरे में गया। वहीं, किसी महान् लेखक की कोई महान् कृति क्षण भर देखने की लालच से। मैंने मेजिनी की एक जिल्द निकालकर उसे खोली।

उसके पहले ही पन्ने पर पेंसिल की लिखावट देखकर चौंका। ध्यान देने पर पता चला, लाल का वह हस्ताक्षर था। मुझे याद पड़ गई। तीन बरस पूर्व, उस पुस्तक को मुझसे माँगकर, उस लड़के ने पढ़ा था।

एक बार मेरे मन में बड़ा मोह उत्पन्न हुआ, उस लड़के के लिये। उसके वफ़ादार पिता रामनाथ की दिव्य और स्वर्गीय तस्वीर मेरी आँखों के आगे नाच गई। लाल की माँ पर उस पाजी के सिद्धान्तों, विचारों या आचरणों के कारण जो वज्रपात हुआ था, उसकी एक ठेस मुझे भी, उसके हस्ताक्षर को देखते ही, लगी। मेरे मुँह से एक गम्भीर, लाचार, दुर्बल साँस निकलकर रह गई।

पर, दूसरे ही क्षण पुलीस सुपरिंटेंडेंट का ध्यान आया। उसकी भूरी, सुहावनी, अमानवी आँखें मेरी, आप-सुखी-तो जगसुखी आँखों में वैसे ही चमक गईं: जैसे ऊजड़ गाँव के सिवान में कभी-कभी भुतही चिनगारी चमक जाया करती है। उसके रूखे फौलादी हाथ—जिनमें लाल की तस्वीर थी—मानों मेरी गर्दन चाँपने लगे। मैं मेज़ पर से 'इरेज़र' (रबर) उठाकर उस पुस्तक पर से उसका नाम उधेड़ने लगा।

उसी समय मेरी पत्नी के साथ लाल की माँ वहाँ आई। उसके हाथ में एक पत्र था।

"अरे!" मैं अपने को रोक न सका—"लाल की माँ! तुम तो बिलकुल पीली पड़ गई हो। तुम इस तरह मेरी ओर निहारती हो, मानों कुछ देख ही नहीं रही हो। यह, हाथ में क्या है?"

उसने, चुपचाप, पत्र मेरे हाथ में दे दिया। मैंने देखा उसपर... जेल की मुहर थी। सज़ा सुनाने के बाद वह वहीं भेज दिया गया था, यह मुझे मालूम था।

मैं पत्र निकालकर पढ़ने लगा। वह उसकी अन्तिम चिट्ठी थी मैंने कलेजा रूखाकर, उसे ज़ोर से पढ़ दिया।

"माँ !"

जिस दिन तुम्हें यह पत्र मिलेगा उसके ठीक सबेरे मैं, बाल अरुण के किरण-रथ पर चढ़कर, उस ओर चला जाऊँगा। मैं चाहता तो अन्त समय तुमसे मिल सकता था; मगर इससे क्या फायदा ? मुझे विश्वास है, तुम मेरी जन्म-जन्मान्तर की जननी हो, रहोगी ! मैं तुमसे दूर कहाँ जा सकता हूँ ? माँ ! जब तक पवन साँस लेता है; सूर्य चमकता है, समुद्र लहराता है, तब तक कौन मुझे तुम्हारी करुणामयी गोद से दूर खींच सकता है ?

दिवाकर थमा रहेगा; अरुण, रथ लिये जमा रहेगा; मैं, बंगड़, वह-वह, सभी तेरे इन्तज़ार में रहेंगे।

हम मिले थे, मिले हैं, मिलेंगे—हाँ, माँ ! तेरा—'लाल'।"

काँपते हाथ से, पढ़ने के बाद, पत्र को मैंने उस भयानक लिफाफे में भर दिया मेरी पत्नी की विकलता हिचकियों पर चढ़ाकर कमरे को करुणा से कँपाने लगी। मगर वह जानकी ज्यों की त्यों, लकड़ी पर झुकी, पूरी खुली और भावहीन आँखों से मेरी ओर देखती रही। मानों वह उस कमरे में थी ही नहीं।

क्षण भर बाद हाथ बढ़ाकर, मौन भाषा में, उसने पत्र माँगा। और फिर, बिना कुछ कहे, कमरे के—घर के—फाटक के बाहर हो गयी, डुगुर, डुगुर, लाठी टेकती हुई।

इसके बाद शून्य-सा होकर मैं धम से कुर्सी पर गिर पड़ा। माथा चक्कर खाने लगा। उस पाजी लड़के के लिये नहीं, इस सरकार की क्रूरता के लिये भी नहीं—उस बेचारी, भोली, बूढ़ी जानकी—लालकी

माँ—के लिये। आह! वह कैसी स्तब्ध थी। उतनी स्तब्धता किसी दिन प्रकृति को मिलती, तो आँधी आ जाती। समद्र पाता, तो खौलखा उठता।

जब एक का घण्टा बजा, मैं ज़रा सगबगाया। ऐसा मालूम पड़ने लगा, मानो, हरारत पैदा हो गयी है-माथे में छाती में, रग-रग में। पत्नी ने आकर कहा—"बैठे ही रहोगे, सोओगे नहीं?" मैंने इशारे से उन्हें जाने को कहा।

फिर, मेज़िनी की जिल्द पर नज़र गयी। उसके ऊपर पड़े रबर पर भी। फिर, अपने सुखों की, ज़मीन्दारी की, धनिक-जीवन की और उस पुलिस अधिकारी की निर्दय, नीरस, निस्तार आँखों की स्मृति कलेजे में कम्पन कर गई। फिर, रबर उठाकर, मैंने उस पाजी का पेंसिल-खचित नाम, पुस्तक की छाती पर से, मिटा डालना चाहा।

"माँ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ!"

मुझे सुनाई पड़ा। ऐसा लगा, गोया लाल की माँ कराह रही है। मैं रबर हाथ में लिये, दहलते दिल से, खिड़की की ओर बढ़ा, लाल के घर की ओर देखने के लिये। पर, चारो ओर अंधकार था, कुछ नहीं दिखाई पड़ा। कान लगाने पर कुछ सुनाई भी न पड़ा। मैं सोचने लगा, भ्रम होगा। वह अगर कराहती होती तो एकाध आवाज़ और, अवश्य सुनायी पड़ती। वह कराहने वाली औरत है भी नहीं। रामनाथ के मरने पर भी उस तरह नहीं घिघियाई थी, जैसे साधारण स्त्रियाँ ऐसे अवसरों पर तड़पा करती हैं।

मैं पुनः उसी को सोचने लगा। वह उस नालायक के लिये क्या नहीं करती थी। खिलौना की तरह आराध्य की तरह, उसे दुलराती और सँवारती फिरती थी, पर आह रे छोकरे!...

"माँ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ!"

फिर वही आवाज़ ! ज़रूर जानकी रो रही है, वैसे ही जैसे कुर्बानी के पूर्व गाय रोवे । ज़रूर वही बिकल, व्यथित, विवश बिलख रही है। हाय-री माँ अभागिनी वैसे ही पुकार रही है, जैसे वह पाजी गाकर मचल-कर, स्वर को खींचकर उसे पुकारता था ।

अँधेरा धूमिल हुआ, फीका पड़ा, मिट चला, ऊषा पीली हुई, लाल हुई अरुण रथ लेकर वहाँ—क्षितिज के उस छोर पर—आकर, पवित्र मन से, खड़ा हो गया। मुझे लाल के पत्र की याद आ गयी ।

"माँ ाँ ाँ ाँ ाँ ाँ !"

मानो, लाल पुकार रहा था; मानो, जानकी प्रतिध्वनि की तरह उसी पुकार को गा रही थी । मेरी छाती धक्-धक् करने लगी । मैंने नौकर को पुकार कर कहा—

"देखो तो, लाल की माँ क्या कर रही है ?"

जब वह लौटकर आया तब मैं—एक बार पुनः मेज़ और मैज़िनी के सामने खड़ा था । हाथ में रबर लिये—उसी—उसी उद्देश्य से। उसने घबड़ाए स्वर में कहा—

"हुजूर, उनकी तो अजीब हालत है । घर में ताला पड़ा हैं और वह दरवाजे पर पाँव पसारे हाथ में कोई चिट्ठी लिये, मुँह खोले, मरी बैठी हैं । हाँ, सरकार ! विश्वास मानिये, वह मर गयी हैं । साँस बन्द है—आँखें खुली ।"

चाँदनी

९ बजे रात.........

लड़कियाँ—ना भाई, लड़कियाँ नहीं; वे तो युवतियाँ थीं, और थीं एक-से-एक बढ़ी-चढ़ी सुन्दरियाँ। उनकी संख्या ठीक दो दर्जन और एक थी। वे मिस मिनी के कारीगरी से सजे 'ड्रेसिंग-रूम'—या शृङ्गार-सदन—में, एक धारा में, खूबसूरती से खड़ी थीं।

पोशाक—हाँ भाई, थी तो ज़रूर कोई पोशाक उनके गुल-बदन पर, मगर, वह बीसवीं सदी का पहनावा था और इस सदी के इस पहनावे की कहानी तथा सनातनी परिधान की कथा में उतना ही अन्तर है, जितना कोट-पैण्ट और बल्कल-वसन में; 'मरे' होटल के 'मटन' और 'असन-कन्द फल-फूल' में, 'कलियुगे कलि प्रथम चरणे—श्वेत बाराह कल्पे—गौराङ्ग राज्ये' तथा 'त्रेता युगे—राम राज्ये' में।

मगर दुर्भाग्य या सौभाग्य से, न तो आप राम-राज्य के पाठक हैं और न यह त्रेता युग की कहानी। अतः उन पचीस पञ्चदशियों के बीसवीं सदी के परिधान की जैसी-की-तैसी तस्वीर ही आप देखें और ढूँढ़ें

—महाराज इस बीसवीं सदी ही के लिये पृथ्वी पर पधारे हो और महारानी बीसवीं सदी प्रकटित हुई हों हमारे भानु-कुल-नृपग के लिए !"

अ—ह !! फिर उस त्रेतायुग के भानु-कुल की याद आ गई ! मिन मिनी महोदया का कहना यह है कि, कलियुग के लेखकों—खासकर गल्प-गढ़कों—में सब से बड़ी कमी यही है कि वे बात-बात में भानु-कुल की चर्चा चला-चलाकर इस युग के विकसित पाठकों की खोपड़ी खाली कर डालते हैं। मगर हम तो लाचार हैं उस कुल को स्मरण करने के लिए। क्योंकि हमारे मालिक महाराज उसी वंश में उत्पन्न हुए हैं, जिसके एक प्रतापी राजकुमार रामचन्द्र थे—जो त्रेता युग में, नौमी तिथि मधु-मास पुनीता में—बाबा तुलसी के कथनानुसार—'भक्त, भूमि, भूसुर, सुरभि, सुर-हित लागि' प्रकट हुए थे।

रामचन्द्र पण्डित-प्रवर रावण की लङ्का की ओर भी गये थे, ऐसा हमको कुछ-कुछ स्मरण है; और वह इसलिये स्मरण है कि हमारे महाप्रभु भी एक बार लङ्का-यात्रा कर चुके हैं। अभी पिछले ही साल की तो बात है। आ—हा ! आपको मालूम नहीं !! हमारे प्रजा-पाल की सीलोन-यात्रा में गत वर्ष बड़े-बड़े गुल खिले थे। दस लाख रुपये, तीन महीने के लङ्का-प्रवास में, राज्य के खज़ाने से उसी तरह उड़ गये, जैसे चक्रवर्ती दशरथ के पुत्र के अनन्त वाणों से ऋषिवर 'पुलस्त के नाती' के अनन्त मस्तक उड़े थे—त्रेतायुग में।

कहा जाता है, सीलोन से चलते-चलते हमारे पृथ्वी-पति ने कुछ ऐसा कमाल कर दिखाया कि हमारे राज्य के इतिहास का मुँह चमाचम हो गया। जो काम आज तक किसी भी भानु-वंशी से न बन पड़ा था, उसे हमारे क्षत्रिय पार्थिव परमेश्वर ने चुटकियों में कर दिखाया। वह अभूत पूर्व वीरता से किसी सिंहाली मुसलमान की युवती दुहिता को 'हर' लाये हैं

वेद-विद् रावण ने मायामयी वैदेही का हरण किया था,—मगर,—खाक किया था। अरे, जब भिखारी बन गये और रखवाले गृद्ध-द्वारा गिरफ़्तार किये जाकर ज़लील बनाये गये तभी उनकी बुद्धि का दीवालियापन इतिहास पर प्रकट हो गया। ब्राह्मण जो थे रावण, इसी से वह महावीर और महापण्डित होकर भी, स्त्री-हरण-कला को न जान सके।

इधर हमारे प्रभु ने एक दिन अपनी मोटर पर से उस सिंहालिनी को देखा और उस घटना के ठीक छत्तीस घण्टे के भीतर वह परम रूपवती मुसलमान-दुहिता उनके सामने थी। उन्हें रावण की तरह अपनी लङ्का भी न छोड़नी पड़ी। वह अपने सुवर्ण-मण्डित होटल में आनन्द से बैठे ही रहे और उनके दल के दूसरे वीरों ने, दो 'डॉज ब्रदर्स' की सहायता से, उस लड़की के बाप के घर पर चढ़ाई कर, उसका बरबस हरण कर लिया। जटायु—गृद्ध—सो भी वृद्ध; ताड़ गया था पण्डित रावण की बेवकूफ़ी को। मगर उस सिंहाली मुसलमान के पास-पड़ोसी पुलिसवाले न ताक सके महाराज के 'डॉज-भाइयों' की ओर। मोटर देखी उन्होंने, जैसे जटायु ने रावण का रथ देखा था; मगर देखने के पूर्व उनके हाथ उनकी 'वर्दी' की जेबों में थे। शायद, भक्तों के हृदय की तरह, उन जेबों में भी कोई 'उज्ज्वलता' थी—मगर, 'हमारे' प्रभु की। अस्तु, उज्ज्वल-पक्ष को अपनी मुट्ठी में कर, पुलीसवालों ने कामिनी, मोटर और राजा का त्याग उसी तरह 'हाथ उठाकर' कर दिया जिस तरह महर्षि—या राजर्षि अथवा ब्रह्मर्षि—विश्वामित्र ने अपनी ही लड़की शकुन्तला का त्याग किया था।

लङ्का की उस ललना का नाम 'चाँदनी' है, ऐसा मिस मिनी के मङ्गोली मुख से एक दिन सुना था। साल-भर से वह चाँदनी मिस महोदया ही के महल में, अपने परिवार से छिटकी हुई ठण्डे मन से चमक

रही है। वह ऐसी कुछ सुधामयी, मादक और मोहिनी है कि स्वयं मिस मिनी भी उसके मयङ्क-मुख पर मोही-सी मालूम पड़ती हैं। तभी तो उन्होंने एक दिन महाराज को चाँदनी-हरण पर बधाई दी थी। कहा था, आपने दो युगों बाद ही सही, मगर खूब बदला लिया लङ्केश्वर की मूर्खता का! बेशक आप भानुवंशी हैं—धन्य हैं!

मगर, कुछ चाँदनी अजीब पगली है। साल-भर से महाराज के प्रेम-प्रस्तावों पर नफ़रत से नाक सिकोड़ रही है। वह मिनी को बहुत मानती है; क्योंकि मिस भी उसे बहुत मानती हैं। उनके आज्ञा या आदेशानुसार वह देशी और विदेशी नृत्यों का अभ्यास कर चुकी, कुछ-कुछ गुनगुनाने भी लगी, मगर, मिस महाशया के महल के बाहर महाराज के सामने जाने को वह कभी तैयार ही नहीं होती। उसने कहीं से एक छुरा पा लिया है। वैसा ही छुरा, जैसे की चर्चा अक्सर कहानी कहनेवाले किया करते हैं। यदि कभी महाराज स्वयं मिनी के महल में मदहोशी में, चाँदनी से खेलने की धुन में, आ फटते हैं; तो, वह उसी छुरी को अपनी उभरी हुई छाती पर तानकर खड़ी हो जाती है। "एक क़दम भी और आगे बढ़े......" वह गरज पड़ती है—"तो इस चाँदनी को छुरे के घाट के उस पार ही पाइयेगा। ख़बरदार, जो मेरे तन को कभी हाथ लगाया! यह तन तो मेरे प्यारे 'वाहिद' का है; जो जावा में चीनी का बहुत बड़ा रोज़गार करते हैं। इसे वही छू सकते हैं, आप नहीं; फिर आप चाहे राजा हों, या बादशाह।"

जब-जब बात यहाँ तक बढ़ जाती है, तब-तब मिस महोदया महाराज को सम्भालती हैं; जैसे मन्दोदरी रावण को सम्हाला करती थी। वह महाराजा को चाँदनी के आगे ही वचन देती हैं, कि प्रभो! इस बार इस पगली को अपनी वीरता की ओर देखकर क्षमा कर दो। यह शीघ्र ही

आपकी महिमा पहचान लेगी, और आपकी छाती की छाँह में छूमछननन कर, छिप जायगी। अभी इसका सिन ही क्या है; अक़्ल ही कितनी है !

मगर अब, महाराज माननेवाले नहीं। परसों ही उन्होंने मिनी के कानों में फुसफुसा दिया है, कि चाहे जैसा भी हो, इस शारदी पूर्णिमा को वह अवश्य ही चाँदनी की सुधा लूटेंगे। अस्तु, अपने पद की प्रतिष्ठा रखने के लिये, पूर्णिमा के पूर्व ही विलास-भवन की निरीक्षिका महोदया को चाँदनी पर कोई-न-कोई जादू डाल ही देना चाहिये।

आज शारदी पूर्णिमा ही तो है, क्या आप अपने देश की इतनी-सी बात भी नहीं जानते ? महाराज का सब से सुन्दर उद्यान—वह सामने चाँदनी में देखिये—कैसा सजाया गया है। अभी हमारे नरेन्द्र अपनी 'रोल्स-रॉइस' पर घूमने गये हुए हैं। वह ठीक ग्यारह बजे रात, इस उद्यान में पधारेंगे—अपने दल-बल के साथ। आज यहाँ पर मिस मिनी के 'मैनेजमेण्ट' में अनोखे-अनोखे गुल खिलेंगे। और ?—और 'चाँदनी' आज-ही लूटी जायगी।

*　　*　　*　　*

१ बजे रात......

९ बजे रात को, उन पचीस पञ्चदशियों के साथ मिस मिनी जिस कमरे में थीं, यह कमरा उससे बिल्कुल भिन्न है। वह ड्रेसिङ्ग-रूम था, यह ड्राइङ्ग-रूम है। उस समय की युवतियों के परिधान में, और इस समय के श्रृंगार में भी भारी अन्तर हो गया है। इस अमीरी से आवृत कमरे में नवेलियाँ छः-छः के गुच्छ में बँटकर, चार बड़ी-बड़ी, गोल, मारबली मेज़ों के चारों ओर बैठी खिलखिला रही हैं।

इन चौबीस चारु-मुखियों से थोड़ी दूर पर वह पचीसवीं भी, एक

चौकोर और पीले मारबल की मेज़ के पास, मिस मिनी के साथ बैठी है। उसका वेश-विन्यास अन्य चौबीसियों से कहीं भिन्न और मोहक हुआ है।

उन चौबीसियों के शृङ्गार में उन चीज़ों के अलावा, जिन्हें आप जान चुके हैं, केवल दो चीज़ें अब और बढ़ा दी गई हैं। आबरवाँ के, धानी रङ्ग के, जरीदार, घुटने तक लम्बे, ज़रूरत से ज़्यादा चौड़े, आधी बाँह के कुरते, जिनकी बाँहों पर चार-चार अंगुल चौड़ी अंगूरी लता लहरा रही है; और उनके कमर तक झूलते हुए सुकेशों पर सुशोभित—मालती और अशोक के धवल और सुगन्धिमय पुष्पों के मनोहर मुकुट। उन पारदर्शी-कुरतों के बाहर 'अण्डर-वियर' के भीतर कसी हुई उनकी सौन्दर्य मयी जवानी मानों फटी पड़ती है। उन मालती और अशोक की गल-वैयों से गुथे हुए, ज़रा पाश्चात्य कला के आधार पर रचे गये मोहक मुकुटों ने तो सुन्दरियों के रूप का भाव कुछ-से-कुछ कर दिया है। अब वे परियाँ मालूम पड़ती हैं—इन्द्र के अखाड़े की।

उस पचीसवीं को हमारे नरपति की विलास-भवन-निरीक्षिका ने 'परशियन' पोशाक से सँवारा है। बढ़िया सुफ़ेद रेशम का, उमरखैयाम के युग का कामदार पाजामा; गुलाबी रङ्ग का, रेशम और ज़री के काम का, क़ीमती कुरता; उस पर धानी रंग के मुलायम मख़मल का चोलीनुमा जाकिट; और सब के ऊपर जोगिया रंग का, उसी झीने आबरवाँ का, हलके—पर सुन्दर काम का डुपट्टा! यद्यपि उनके माथे पर वह मालती-अशोक मुकुट नहीं है, फिर भी वह उन सब मुकुटिनियों की महारानी मालूम पड़ती हैं।

वह पचीसवीं ही तो हमारे भानु-कुल-भूषण-द्वारा हरिता और यौवन से भरिता सुन्दरी चाँदनी है। आज पहली बार, मिस मिनी के लाख-लाख मनाने से, महाराज के सामने वह जायगी। उन चौबीस मुकुटिनियों की

आर बढ़ीं। पास पहुँचकर, ढालकर, दोनों ओर से उन्होंने महाराज को मदिरा की मस्ती से महका दिया। उनके हाथ के गिलास खाली कर, महाराज ने उन्हें अपनी दोनों ओर बैठा लिया। वह उनके इस या उस मोहक अङ्ग से खेलने लगे। उस समय उनके आगे तक्षा की चाँदनी तो सात घूँघट का नाच नाच गई थी, और ऊपर की ज्योत्स्ना बिल्कुल नंगी खड़ी मुस्करा रही थी।

थोड़ी देर तक महाराज उन युवतियों से खेलते रहे, बाजे बजते रहे, और नाच होता रहा। इसके बाद उन्होंने पुकारा—"कल्याणसिंह! नाहर सिंह!" उक्त नाम के सरदार श्रीमान् के सामने आकर कर-बद्ध, मगर नशे में झूमते हुये, खड़े हो गये। हमारे उदार प्रभु ने उन दोनों युवतियों को उन सरदारों के हवाले किया—"अब इनसे तुम खेलो!" इसी धवल चाँदनी में, मदहोश सरदारों ने अपने-अपने हिस्से की सुन्दरी को गोद में उठा लिया!

तीन बजे रात तक यही सिलसिला जारी रहा। दो-दो कर, वे सुन्दरियाँ पहले हमारे प्रभु के सामने आतीं; उनके आगे अपना यौवन और सुराही उँडेलतीं—और फिर, किसी 'सिंह' या 'खाँ' की गोद में ढालते ढालते बेहोश हो जातीं। धीरे-धीरे चौबीसों सुन्दरियाँ एक एक सरदार की बग़ल में हो गयीं—और मिस मिनी महोदया प्राइवेट सेक्रेटरी के पास। अब महाराज अकेले रह गये झूमते, और चाँदनी रह गई अकेली नाचती: वह सात घूँघटवाला नाच। अब प्रभु उसे अपने पास देखने के लिये व्यग्र हो उठे।

मिस मिनी ने, सेक्रेटरी के कपोल से अपना मझोली मुख सटाकर, चाँदनी की ओर कुछ इशारा किया। वह नाचती-नाचती ठिठकी एक बार—मगर फिर; तुरन्त ही अपने को सँभालकर, अपनी कमर की रत्न

जटित पेटी और छुरे की ओर निहारकर, बढ़ी महाराज की ओर—ढालने के लिये। उसे अपनी ओर आते देख, महाराज उत्तेजित होकर खड़े हो गये। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें नशे की गर्मी से लाल हो रही थीं।

चाँदनी ने ढालकर सुरा-पात्र, नीची आँखों से, महाराज की ओर चढ़ाया—मगर, अब वह पागल थे। उन्होंने उसके हाथ से गिलास छीनकर, ज़ोर से, एक ओर फेंक मारा, और लङ्का की उस मुसलमानिन को बरबस खींचकर अपनी गोद में ले लिया !!

मगर, महाराज की बलिष्ठ भुजाओं में फँस जाने पर भी, चाँदनी असावधान नहीं थी। उसने घटना का रुख़ देखते ही हाथ की सुराही फेंककर, छुरे को सँभाल लिया था। इसी से तो—महाराज की मदान्धता के पूर्व ही—उसने अपनी उभरी हुई छाती पर छुरे का एक भरपूर वार किया !

पर यह क्या !! वह टूटकर दो टुकड़े हो गया ? क्या वह चाँदनी का असली, फ़ौलादी, रक्षक नहीं था ? सब-के-सब इस घटना पर खिलखिला कर हँसने लगे। सब की नज़र एक-साथ ही, मिस मिनी के मंगोली-मुख पर जाकर आश्चर्य से ठिठक गई। याने, यह तुम्हारी ही माया की महिमा है, मिस महोदया !

अब भानु-कुल-भूषण अपना सारा बल लगाकर उसको वश में करने की चेष्टा करने लगे, मगर वह पगली क़ाबू में आयी ही नहीं; बराबर उनके कठोर पंजे से छूटने की चेष्टा करती रही, और रो-रोकर दोहाई देती रही। महाराज, मुझे बेइज्ज़त न करो ! क्योंकि यह तन मेरे प्यारे वाहिद का है। वह मेरे बचपन के सखा और जवानी के मालिक हैं। जावा में चीनी का बहुत बड़ा रोज़गार करते हैं। मुझे छोड़ दो—बख्श दो—ग़रीबपरवर ! मैं आपकी बेटी और बहन हूँ।

मगर, महाराज तो होश में थे ही नहीं। वह बराबर उस सिंहलिनी से

हाथा-पाई करते रहे; उत्तेजित हो-होकर। पर वह वश में आती ही नहीं थी। इसी बीच में प्रभु ने एक बार उसके न-जाने किस अंग को धोखे से, चूम लिया। बस, फिर क्या था! वह चाँदनी तो आग हो उठी। वह भूल गयी अपनी अबलता, और हमारे प्रजापाल की प्रबलता को! "सुअर के बच्चे! हत्यारे! शैतान!!" कहकर उसने ताबड़तोड़ कई तमाचे महाराज के मदिरा से लाल-लाल गालों पर जड़ दिये। ओह! वह सिंहलिनी क्या थी, पूरी सिंहनी थी! एक बार सारी मजलिस सन्न हो गयी!!

एक क्षण और—और धड़-धड़-धड़! पिस्टल की आवाज़ से सारा उद्यान गड़गड़ा उठा। उत्तेजित भानु-कुल-भूषण ने, चाँदनी की उभरी हुई छाती में, गोली मार दी! वह जहाँ-की-तहाँ बिखरकर धूमिल हो गयी।

* * * *

सात घूँघटों के नाच के पुरस्कार-रूप में हमारे परमेश्वर-स्वरूप पृथ्वीपति ने चाँदनी को मुक्त कर दिया। मिस मिनी ने ठीक ही कहा था! भानुवंशियों की विरदावली बहुत विशद है। वह वचन देकर कभी मुकरते नहीं।